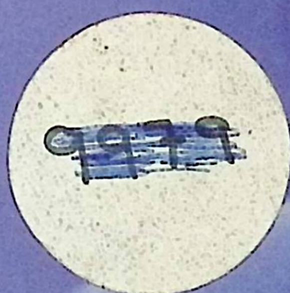
पाञ्चरात्र-परिशीलन



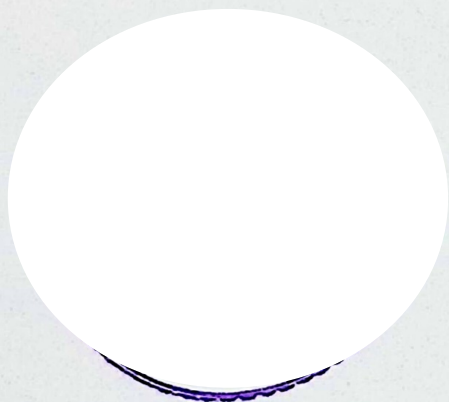


अशोक कुमार कालिया

पुस्तक परिचय

वैष्णव आगमों के दो प्रमुख भेद हैं – पाञ्चरात्र आगम तथा वैखानस आगम। हयशीर्षपाञ्चरात्र में पाञ्चरात्र तथा वैखानस संहिताओं के अतिरिक्त भागवत संहिता नाम से एक और वैष्णव-आगमों के भेद का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इन भागवत संहिताओं के विषय में विवरण उपलब्ध नहीं होता। पाञ्चरात्र और वैखानस यही वैष्णव आगमों के दो प्रमुख भेद हैं और इन्हीं का विपुल साहित्य भी उपलब्ध होता है। वैखानस आगम को वैदिक आगम तथा पाञ्चरात्र आगम को तान्त्रिक आगम कहा गया है वैखानस आगम की मरीचिप्रोक्त आनन्दसंहिता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है-"वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात्" अर्थात् वेखानस तथा पाञ्चरात्र क्रमशः वैदिक और तान्त्रिक आगम हैं। केवल वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होने के कारण और तान्त्रिक अनुष्ठानों का उंल्लेख न होने के कारण वैखानस आगमों की विशुद्ध वैदिकता असन्दिग्ध है। वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के साथ ही वैदिकेतर मन्त्रों का भी प्रयोग होने के कारण, दीक्षा, मण्डल, मुद्रा इत्यादि तान्त्रिक विषयों का व्यापक प्रतिपादन होने के कारण पाञ्चरात्र आगमों को तान्त्रिक आगम कहा गया है। पाञ्चरात्र आगमों को तान्त्रिक आगम कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि ये आगम अवैदिक हैं। इन आगमों में प्रतिपादित विषय वेदविरुद्ध न होकर वेद-सम्मत ही हैं। इस दृष्टि से पाञ्चरात्र आगम भी वैदिक आंगम ही है। यद्यपि शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में पाञ्चरात्र आगमों को वेदविरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक कहा है, तथापि यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्यम्' नामक ग्रन्थ में तथा रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य के उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में शङ्कराचार्य की युक्तियों का सबल खण्डन करते हुए पाञ्चरात्रागमों को वेदों के अनुकूल बतलाकर सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध किया है।

ISBN : 81-8315-064-0
First Edition : 2007
Price : Rs. 500.00





पाञ्चरात्र-परिशीलन

प्रो० अशोक कुमार कालिया





न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन
(दिल्ली) : : (भारत)

प्रकाशक :
न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन
5824, न्यू चन्द्रावल, (निकट शिव मन्दिर)
जवाहर नगर, दिल्ली-110007
फोन : 23851294, 65195809
E-mail : newbbc@indiatimes.com

प्रथम संस्करण : 2007

ISBN : 81-8315-064-0

मुद्रक :
जैन अमर प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली-7

भूमिका

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट के अनुसार श्रुति दो प्रकार की होती है–वैदिकी तथा तान्त्रिक (श्रुतिर्द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च)। यह तान्त्रिकी श्रुति कहीं आगम, कहीं तन्त्र और कहीं संहिता शब्दों से अभिहित की गयी है। तन्त्र अथवा आगम के दो भेद किये गये हैं–वैदिक तथा अवैदिक। बौद्ध आदि आगम अवैदिक आगम हैं। वैदिक आगमों के तीन भेद हैं–1. शैव, 2. शाक्त तथा 3. वैष्णव। शिव, शक्ति तथा विष्णु के पारम्य का उद्घोष करने के कारण ही यह आगम इन संज्ञाओं से प्रसिद्ध हुए हैं।

वैष्णव आगमों के दो प्रमुख भेद हैं– पाञ्चरात्र आगम तथा वैखानस आगम। हयशीर्षपाञ्चरात्र में पाञ्चरात्र तथा वैखानस संहिताओं के अतिरिक्त भागवत संहिता नाम से एक और वैष्णव-आगमों के भेद का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इन भागवत संहिताओं के विषय में विवरण उपलब्ध नहीं होता। पाञ्चरात्र और वैखानस यही वैष्णव आगमों के दो प्रमुख भेद हैं और इन्हीं का विपुल साहित्य भी उपलब्ध होता है। वैखानस आगम को वैदिक आगम तथा पाञ्चरात्र आगम को तान्त्रिक आगम कहा गया हैं वैखानस आगम की मरीचिप्रोक्त आनन्दसंहिता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है–"वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात्" अर्थात् वैखानस तथा पाञ्चरात्र क्रमशः वैदिक और तान्त्रिक आगम हैं। केवल वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होने के कारण और तान्त्रिक अनुष्ठानों का उल्लेख न होने के कारण वैखानस आगमों की विशुद्ध वैदिकता असन्दिग्ध है। वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के साथ ही वैदिकेतर मन्त्रों का भी प्रयोग होने के कारण, दीक्षा, मण्डल, मुद्रा इत्यादि तान्त्रिक विषयों का व्यापक प्रतिपादन होने के कारण पाञ्चरात्र आगमों को तान्त्रिक आगम कहा गया है। पाञ्चरात्र आगमों को तान्त्रिक आगम कहने का यह अभिप्राय नहीं कि ये आगम अवैदिक हैं। इन आगमों में प्रतिपादित विषय वेदविरुद्ध न होकर वेद-सम्मत ही हैं। इस दृष्टि से पाञ्चरात्र आगम भी वैदिक आगम ही हैं। यद्यपि शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में पाञ्चरात्र आगमों को वेदविरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक कहा है, तथापि यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्यम्' नामक ग्रन्थ में तथा रामानुजाचार्य

ने श्रीभाष्य के उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में शङ्कराचार्य की युक्तियों का सबल खण्डन करते हुए पाञ्चरात्रागमों को वेदों के अनुकूल बतलाकर सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध किया है।

पाञ्चरात्रागमों का मूल है वेद की एकायन शाखा। इस प्रकार यह पाञ्चरात्र परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत के शान्तिपर्व में इसका स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। पाणिनि और पतञ्जलि के ग्रन्थों में भी इस परम्परा के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार इस परम्परा की प्राचीनता भी संदिग्ध नहीं है।

परम्परा के अनुसार पाञ्चरात्र आगम-ग्रन्थों की संख्या 108 बतायी गयी है। किन्तु प्रकाशित, हस्तलिखित तथा उल्लिखित संहिताओं की बनायी गयी सूचियों में यह संख्या 225 के ऊपर चली गयी है। इन पाञ्चरात्र संहिताओं में सात्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता तथा पौष्करसंहिता को रत्नत्रय कहा गया है। इस विपुल पाञ्चरात्र साहित्य में प्राय: 15 के आसपास संहिताएं ही प्रकाशित हुई हैं। शेष संहिताओं में कुछ तो अनुपलब्ध हैं तथा कुछ पूर्ण अथवा खण्डित रूप में हस्तलिखित ग्रन्थागारों में संरक्षित हैं। इस प्रकार पाञ्चरात्र आगमों का बहुत बड़ा साहित्य अभी भी गम्भीर अध्ययन की प्रतीक्षा कर रहा है।

आधुनिक काल में कुछ विशिष्ट विद्वानों ने इस पाञ्चरात्र आगमों को अपना अध्ययन विषय बनाया। प्रो० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त, श्राडर, डैनियल स्मिथ तथा राघवप्रसाद चौधरी इनमें उल्लेखनीय हैं। पाञ्चरात्र आगमों को उद्देश्य में रखकर इन विशिष्ट विद्वानों द्वारा किया गया कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपने-अपने विशिष्ट अध्ययन क्षेत्रों तक सीमित है। पाञ्चरात्र आगमों का सर्वाङ्गीण अध्ययन आज भी अपेक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की परम्परा के उद्भव और विकास और उसके सिद्धान्तों तथा प्रयोग पक्ष पर विशद प्रकाश डालना है। प्रस्तुत प्रबन्ध विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत वृहद् शोध-प्रकल्प के अन्तर्गत वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ है। एतदर्थ मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति अपना आधमर्ण्य निवेदित करता हूँ।

प्रस्तुत प्रयास की सम्पूर्णता में उपकर्ताओं का स्मरण और उनके प्रति नमोवाक् का निवेदन किसी भी लेखक अथवा अनुसन्धाता का परम धर्म होता है। इस क्रम में मैं लखनऊ-विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृत-विभागाध्यक्ष प्रो. जगदम्बा प्रसाद सिनहा के प्रति श्रद्धा-समन्वित कृतज्ञता समर्पित करना अपना परम कर्तव्य भी समझता हूँ और सौभाग्य भी। डॉ. ति.वि. राघवाचार्युलु, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, तिरुपति का

इस कार्य में प्रभूत योगदान है। यदि इनका साहाय्य प्राप्त न हुआ होता तो सम्भवतः पुरुषोत्तमसंहिता के निर्दोष लिप्यन्तरण का कार्य चरितार्थ न हो पाता। एतदर्थ मैं डॉ. विजय राघवाचार्युलु का अत्यन्त आभारी हूँ। मैं अपने सहयोगी डॉ. बृजेश कुमार शुक्ल के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपनी व्यस्तता में भी प्रबन्ध के एक बहुत बड़े भाग की प्रथम प्रूफ-रीडिंग के लिए समय निकाल कर महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। मैं अपने योजना-सहायक और प्रिय शिष्य डॉ. प्रयाग नारायण मिश्र के प्रति साधुवाद के साथ ही कृतज्ञता भी ज्ञापित करता हूँ क्योंकि उनके भरपूर सहयोग से ही यह शोध-योजना और प्रस्तुत प्रबन्ध आज सम्भवतः मूर्त हो सका है। विविध प्रकार से प्राप्त होने वाले इस सहयोग को परिभाषित करना वस्तुतः कठिन कार्य है। यदि प्रस्तुत प्रयास विद्वज्जनों और अनुसन्धाताओं का कुछ भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होता है तो मैं अपने श्रम को सार्थक और सफल समझूंगा।

(अशोककुमार कालिया)



विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की प्राचीनता

पाञ्चरात्र-परम्परा

पाञ्चरात्र-सिद्धान्त का सर्वाङ्गीण तथा प्रामाणिक विवेचन यद्यपि विभिन्न पाञ्चरात्र-संहिताओं में प्राप्त हो जाता है तथापि महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्षधर्मपर्व का कुछ अपना ही वैशिष्ट्य है। इसे पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय का प्राचीनतम प्रतिपादक-स्थल माना जाता है। सर्वप्रथम यहीं पर इस सम्प्रदाय का व्यापक और विशद प्रतिपादन उपलब्ध होता है। एक इतिहास-ग्रन्थ होने के कारण महाभारत की मान्यता किसी सम्प्रदाय-विशेष तक ही सीमित नहीं है। पञ्चम वेद के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण इसकी प्रामाणिकता सर्वमान्य है। सांख्य-योग आदि अत्यन्त प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों के वर्णन के पश्चात् पाञ्चरात्र-सिद्धान्त का जो विस्तृत विवेचन यहाँ प्राप्त होता है वह अध्ययन और अनुसन्धान की विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः यह वर्णन उन-उन सिद्धान्तों के उस स्वरूप का स्मरण कराता है जो आज अतीत के गर्भ में खो सा गया है। यद्यपि शान्तिपर्व के इस वर्णन में सांख्य, योग आदि विभिन्न सम्प्रदायों की महिमा अनेक प्रकार से चर्चित और प्रपञ्चित हुई है तथापि यहाँ उपलब्ध पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के प्रतिपादन की कुछ अपनी ही महत्ता और विलक्षणता है। अनेक अध्यायों में प्रपञ्चित पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के प्रतिपादन की केवल आकार की दृष्टि से ही महत्ता नहीं है, अपितु यहाँ प्रपञ्चित विषय भी अपनी ऐतिहासिकता, प्राचीनता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मोक्षधर्म पर्व के तीन सौ चौबीसवें अध्याय से लेकर तीन सौ इक्यानवें अध्याय तक अट्ठारह अध्यायों में "नारायणीयाख्यान" उपनिबद्ध है। इसी में पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय का आविर्भाव, सम्प्रदाय तथा प्रतिपाद्य विषय का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। यही "नारायणीयाख्यान" सम्पूर्ण महाभारत का सार अथवा मुख्य प्रतिपाद्य है। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है–

इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात्।
आमन्थ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम्।।
नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य औषधीभ्योऽमृतं यथा।।
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन् कथामृतमिदं तथा।।[1]

यह पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय महाभारत का परम तात्पर्य होने के साथ ही साथ वेदमूलक भी है। पाञ्चरात्र की वेदमूलकता का प्रतिपादन आगे यथा-अवसर किया जाएगा। वेदों का अङ्ग होने के कारण अथवा वेदों का परम प्रतिपाद्य होने के कारण इस पाञ्चरात्र-शास्त्र को कहीं 'महोपनिषत्' शब्द से, कहीं 'पाञ्चरात्रश्रुति' शब्द से, तथा कहीं 'पाञ्चरात्रोपनिषत्' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। पाञ्चरात्र के लिए 'महोपनिषत्' संज्ञा का प्रयोग तो महाभारत में ही किया गया है। यथा-

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
सांख्ययोगकृतान्तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम्।।[2]

कहीं-कहीं महाभारत के वचनों से ऐसी प्राथमिक प्रतीति हो सकती है कि पाञ्चरात्र-सिद्धान्त भी उल्लिखित सांख्य, योग आदि अनेक सिद्धान्तों में एक है अथवा उनके समान ही कोई सिद्धान्त है, यथा-

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह।।[3]

यहाँ पर परिगणित होने से दो ही विकल्प सम्भावित हैं कि या तो पाञ्चरात्र-सिद्धान्त के समान ही सांख्य, योग आदि अन्य सम्प्रदाय भी प्रामाणिक हैं अथवा सांख्य, योग आदि अन्य सम्प्रदायों के समान ही यह पाञ्चरात्र-सिद्धान्त भी अप्रामाणिक है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के कथनों से पाञ्चरात्र की अन्य शास्त्रों के साथ समकक्षता अथवा समानता की ही प्रतीति होती है, किसी प्रकार की विशेषता, विलक्षणता अथवा श्रेष्ठता की नहीं। सभी शास्त्रों को समकक्ष नहीं रखा जा सकता है। भिन्न-भिन्न अर्थों का, कहीं-कहीं परस्पर विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाले सभी शास्त्र समान रूप से प्रामाणिक तो नहीं हो सकते। कोई एक शास्त्र ही सर्वथा

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 343, 11-13
2. तत्रैव, 399.111-112
3. तत्रैव, 349.1

समंजस तथा निस्सन्दिग्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण प्रामाणिक हो सकता है। अनेक प्रकार के शास्त्र तो मतिभ्रम ही उत्पन्न करते हैं–

एकं यदि भवेच्छस्त्रं ज्ञानं निस्संशयं भवेत्।
बहुत्वादिह शास्त्राणां ज्ञानतत्त्वं सुदुर्लभम्।।[1]

अतः यदि पाञ्चरात्र-शास्त्र प्रमाण है तो उसे अन्य सांख्य, योग आदि शास्त्रों से विशिष्ट तथा विलक्षण होना चाहिए। महाभारत के इसी शान्तिपर्व मे अन्य शास्त्रों की अपेक्षा पाञ्चरात्र-शास्त्र के वैशिष्ट्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है–

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै।।

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नाऽन्यः पुरातनः।।

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भ तमृषिं प्रवदन्तीह केचन।।

उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।।

पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।
सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते।।[2]

महाभारत के इस कथन का आशय रामानुजाचार्य ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है–

"............ *सांख्यस्य वक्ता कपिलः*" *इत्यारभ्य सांख्ययोगपाशुपतानां कपिलहिरण्यगर्भपशुपतिकृतत्वेन पौरुषेयत्वं प्रतिपाद्य "अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः स उच्यते" इति वेदानामपौरुषेयत्वमभिधाय, "पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्" इति पाञ्चरात्रतन्त्रस्य वक्ता नारायणः स्वयमेवेत्युक्तवान्।*[3]

गीता-प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत के उपर्युदाहृत पाठ की अपेक्षा रामानुजाचार्य द्वारा उदाहृत पाठ कुछ विशिष्ट है। गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत का पाठ इस प्रकार है–

---

1. पाञ्चरात्ररक्षा, पृ० 159
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 349.64-67
3. श्रीभाष्य, 2.2.42

"पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।"

रामानुजाचार्य द्वारा स्वीकृत पाठ इस प्रकार है-

"पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।"

आचार्य रामानुज द्वारा स्वीकृत यही पाठ मान्य है क्योंकि न केवल रामानुज अपितु उनके पूर्ववर्ती यामुनाचार्य भी इसी पाठ को स्वीकार करते हैं।[1] महाभारत के इसी पाठ का संस्कार आचार्यों की उक्तियों में यत्र-तत्र प्रतिबिम्बित होता है। यथा आचार्य वेदान्तदेशिक की यह उक्ति-

"कमप्याद्यं गुरुं वन्दे कमलागृहमेधिनम्।
प्रवक्ता छन्दसां वक्ता पञ्चरात्रस्य यः स्वयम्।।"[2]

अतः पाञ्चरात्र का महाभारत के अनुसार अन्य शास्त्रों की अपेक्षा यही वैशिष्ट्य है कि अन्य शास्त्र कपिल आदि पुरुष-रचित हैं और पाञ्चरात्र-शास्त्र के रचयिता स्वयं भगवान् नारायण हैं।

पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की प्राचीनता

विष्णु एक वैदिक देवता है। अतः विष्णु-महिमा की स्तुति-परम्परा की प्राचीनता के विषय में विवाद नहीं है। क्योंकि यह निश्चित रूप से बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि जितना प्राचीन वैदिक-साहित्य है उतनी ही प्राचीन विष्णु-स्तवन की परम्परा है। वेदों में ऋषि के रूप में नारायण का नाम अनेकत्र प्राप्त होता है।[3] वैदिक देवता विष्णु तथा वैदिक ऋषि नारायण कब एकार्थक हो गये, यह एक अतीत के अन्धकार में छिपा हुआ रहस्य है। पाञ्चरात्र-परम्परा में आकर विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण तथा जनार्दन आदि शब्द एकार्थक हो गये और पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने लगे। इसी पाञ्चरात्र-परम्परा की प्राचीनता का निर्धारण यहाँ इष्ट है।

पाञ्चरात्र-परम्परा की कुछ प्रसिद्ध संज्ञाएँ अथवा सिद्धान्त प्राचीन-साहित्य तथा पुरातात्त्विक सामग्रियों में यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। उनके आधार पर ही प्राचीनता का निश्चय किया जा सकता है। यहाँ इस सन्दर्भ में पाञ्चरात्र-परम्परा में स्वीकृत ईश्वर के विभिन्न रूपों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। पाञ्चरात्र-परम्परा के अन्तर्गत

1. आगमप्रामाण्य, पृ. 128
2. यतिराजसप्तति, 1
3. द्रष्टव्य-ऋक् 10.90, यजु. 3.62, 30, 31, अथर्व, 19.6, 10.2

ईश्वर के चार रूप माने गये हैं।[1] 1. पर, 2. व्यूह, 3. विभव तथा 4. अर्चा। कुछ संहिताओं में ईश्वर के अन्तर्यामी रूप को स्वीकार करते हुए पांच रूपों की कल्पना की गयी है।[2] ईश्वर के पर-रूप को पर-वासुदेव कहा जाता है। सृष्टि आदि व्यापार के लिए यह पर-वासुदेव चार प्रकार के रूपों को धारण करता है। इन चार रूपों को व्यूह-रूप कहा गया है। इन चार व्यूह रूपों के नाम इस प्रकार हैं-1. वासुदेव, 2. सङ्कर्षण, 3. प्रद्युम्न और 4. अनिरुद्ध।[3] भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से भिन्न-भिन्न रूपों में ईश्वर के आविर्भाव को विभव रूप कहते हैं।[4] सामान्यतया इस विभव-रूप को अवतार रूप कहा जाता है। लोकहितार्थ स्वर्ण, रजत आदि से जिस भगवद्-रूप की कल्पना की जाती है उसे अर्चारूप कहते हैं।[5] जैसा कि शब्द के अर्थ से स्पष्ट है अन्तर्यामी रूप उसे कहते हैं जो जीव के हृदय-प्रदेश में नित्य निवास करता है।

ईश्वर के इन रूपों का प्रतिपादन करने वाली प्रायः सभी पाञ्चरात्र-संहिताएं ईसा की उत्तरवर्तिनी हैं। किन्तु ईसा के पूर्व प्रचुर मात्रा में ऐसी साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक सामग्री यत्र-तत्र उपलब्ध होती है जिसमें ईश्वर के उपर्युल्लिखित कुछ रूपों के अथवा उनकी संज्ञाओं के उल्लेख स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं उल्लेखों को आधार बनाकर इस सम्प्रदाय की प्राचीनता के निर्धारण का प्रयास किया जा सकता है। यहाँ पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त सामग्री का पृथक्-पृथक् अध्ययन किया जाएगा।

पुरातात्त्विक-स्रोत

जिन विद्वानों ने पुरातात्त्विक सामग्री को भी पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की प्राचीनता का निर्धारण करने में आधार बनाया है उनमें आर.जी. भण्डारकर का नाम प्रमुख है। इस सामग्री में तीन अभिलेखों को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है-1. नानाघाट का गुहाभिलेख, 2. घोसुण्डी का शिलाभिलेख तथा 3. बेस नगर का स्तम्भाभिलेख। अब इन तीनों अभिलेखों की सामग्री का क्रमशः परिशीलन आवश्यक है-

1. महाराष्ट्र प्रदेश के पूना जनपद में नानाघाट गांव में प्राप्त गुहाभिलेख

---

1. लक्ष्मीतन्त्र, 11.41-47, 2.60
2. अहिर्बुध्न्यसंहिता, 11.63-65
3. लक्ष्मीतन्त्र, 11.41-47
4. तत्रैव, 11.26
5. तत्रैव, 4.31

'नानाघाट गुहाभिलेख' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अभिलेख ब्राह्मी लिपि में लिखी गयी प्राकृत भाषा में है। इस अभिलेख का प्रासंगिक अंश इस प्रकार है–

"(सिधं).......... नो घमस नमो ईदस नमो संकसन-वासुदेवानं चंद-सुरानं (महि) मा (व) तानं चतुं नं यम-वरुन-कुबेर-वासवानं नमो कुमार-वरस (वेदि) सिरिसर (ञो)"

इसका संस्कृत रूपान्तरण इस प्रकार किया गया है–

"सिद्धम्।। (प्रजापतये) धर्माय नमः, इन्द्राय नमः, सङ्कर्षणवासुदेवाभ्याम् चन्दसुराभ्याम् (-सूर्याभ्याम्), चतुर्भ्यः च लोकपालेभ्यः यम-वरुण-कुबेरवासवेभ्यः नमः।।"[1]

इस अभिलेख में मङ्गलाचरण किया गया है इसमें इन्द्र आदि अन्य देवताओं के साथ द्वन्द्व समास में सङ्कर्षण और वासुदेव को नमन किया गया है। इस अभिलेख का समय प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व का उत्तरार्द्ध माना गया है।[2]

2. दूसरा विवेचनीय अभिलेख घोसुण्डी का शिलाभिलेख है। राजस्थान में चित्तौड़गढ़ जनपद में घोसुण्डी नामक स्थान पर होने के कारण इस अभिलेख को "घोसुण्डी शिलाभिलेख" कहते हैं। यह अभिलेख प्राकृत-प्रभावित संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसकी लिपि ब्राह्मी लिपि है। मूल अभिलेख इस रूप में प्राप्त होता है–*(कारितो अयं राज्ञा भागव.) (ते). न गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण स-(र्वतातेन अश्वमेघ-या.) जिना भगव (द्)भ्यां सङ्कर्षण-वासुदेवाभ्यां (अनिहताभ्यां सर्वेश्वरा) भ्यां पूजाशिलाप्राकारो नारायणवाटका।*[3]

यहाँ गाजायन-गोत्रोत्पन्न अश्वमेधयाजी पाराशरी-पुत्र राजा सर्वतात के द्वारा भगवान् संकर्षण तथा वासुदेव के पूजा-स्थान के चारों ओर शिला-प्राकार के निर्माण का उल्लेख किया गया है। "नारायणवाटका" इस संज्ञा का भी उल्लेख किया गया है। डी.सी. सरकार के अनुसार इस अभिलेख का समय प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व का उत्तरार्द्ध है।[4] जबकि आर.जी. भण्डारकर इस अभिलेख को कम से कम ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व का मानते हैं।[5]

---

1. Select Inscriptions, p. 192-195
2. तत्रैव, तथा Vaiṣṇavism, Śaivism....., p. 5
3. Select Inscriptions, p. 90-91
4. तत्रैव, पृ. 90
5.- Vaiṣṇavism Śaivism....., p. 4

3. बेस-नगर का प्रसिद्ध गरुडध्वजाभिलेख तीसरा महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। बेस-नगर मध्य-प्रदेश के विदिशा जनपद में स्थित एक स्थान है। यह अभिलेख ब्राह्मी लिपि में संस्कृत से प्रभावित प्राकृत-भाषा में उत्कीर्ण है।[1] मूल अभिलेख इस रूप में प्राप्त होता है-

(दे) वदेवस वा (सुदे) वस गरुडध्वजे अयं
कारिते (इ) अ हेलियोदोरेण भाग-
वतेन दियसपुत्रेण तख्खसिलाकेन
योनदूतेन (आ) गतेन महाराजस
अंतलिकितस उप ( ) ता सकासं र ञो
कासी-पु (त्र) स (भ) ा गभद्रस त्रातारस
वसेन च (तु) दसेन राजेन वधमानस।।
त्रिनि अमुतपदानि (इ अ) (सु) -अनुठितानि
नेयन्ति (स्वगं) दम चाग अप्रमाद।।[2]

इस अभिलेख के संस्कृत रूपान्तर पर भी एक दृष्टिपात कर लेना चाहिए-

"*(1) देवदेवस्य वासुदेवस्य गरुडध्वजः (=शिखरस्थ-शिखरमूर्तिसनाथः ध्वजस्तम्भः) अयं कारितः* इह हेलियोदोरण (*Heliodoros*) भागवतेन (=वैष्णवधर्मान्तर्गतभागवतधर्मानुसारिणा) दियस्य (Dios) पुत्रेण ताक्षशिलाकेन (=तक्षशिलानिवासिना) यवनदूतेन आगतेन महाराजस्य अन्तलिकितस्य (Antialkidas) उपान्तात् (=समीपात्) सकाशं राज्ञः काशीपुत्रस्य (=काशीगोत्रीया) भागभद्रस्य त्रातुःवर्षेण चतुर्दशनेन राज्येन (च) वर्धमानस्य।

(2) त्रीणि अमृतपदानि इह स्वनुष्ठितानि नयन्ति स्वर्गं-दमः त्यागः अप्रमादः (च)।।[3]

इस अभिलेख में यह कहा गया है कि तक्षशिला-निवासी, दियसपुत्र और यवनदूत भागवत धर्मानुयायी हेलियोडोरस ने देवाधिदेव वासुदेव के इस गरुडध्वज

---

1. Select Inscriptions, p. 88
2. तत्रैव, पृ. 88-89
3. तत्रैव, पृ. 89

का निर्माण किया। वह अन्तलिकित के दूत के रूप में राजा भागभद्र के पास आया था। भण्डारकर इसे द्वितीय शताब्दी ईसा–पूर्व के पूर्वार्ध में उत्कीर्ण किया गया मानते हैं।[1] डी.सी. सरकार के अनुसार इसका समय ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का अन्त है।[2] इस अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इस समय वासुदेव की उपासना देवाधिदेव के रूप में की जाती थी। वासुदेव की उपासना करने वालों के लिए 'भागवत' शब्द का प्रचलन हो चुका था। भागवत धर्म भारत के उत्तर पश्चिम प्रदेश में व्याप्त हो चुका था और यवन लोग भी इस धर्म में दीक्षित हो रहे थे।[3]

इन अभिलेखों का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि द्वितीय शताब्दी ईसा–पूर्व के अन्त तक यह धर्म अच्छी प्रकार से व्याप्त हो चुका था।

4. लखनऊ में स्थित उत्तर–प्रदेश राज्य संग्रहालय में संकर्षण अथवा बलराम की एक प्रतिमा संरक्षित है। इस प्रतिमा में संकर्षण को दो भुजाओं से युक्त दिखाया गया है। इनके बांये हाथ में हल तथा दाहिने हाथ में मुसल है। इसका समय दो सौ वर्ष ईसा पूर्व माना गया है।[4] इस परम्परा से सम्बद्ध यह सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमा है।

इस प्रकार सभी पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर पाञ्चरात्र–सम्प्रदाय की प्राचीनता की खोज करते हुए हम अधिक से अधिक ईसा–पूर्व दूसरी शताब्दी के अन्त तक पहुँचते हैं। इससे आगे नहीं। इससे यदि यह निष्कर्ष निकाला जाए कि पाञ्चरात्र–सम्प्रदाय की प्राचीनता की यही इयत्ता है, तो यह नितान्त आत्म–प्रवञ्चना होगी। वस्तुतः इस काल के पूर्व पाञ्चरात्र–सम्प्रदाय की प्राचीनता की साधिका अथवा असाधिका कोई पुरातात्त्विक सामग्री उपलब्ध ही नहीं होती।

साहित्यिक–स्रोत

साहित्य में अनेक ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं जिनसे पाञ्चरात्र–सम्प्रदाय की प्राचीनता के संकेतों का संकलन करके किसी प्रकार के निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। यहाँ उन्हीं कतिपय स्थलों का परिशीलन करते हुए निष्कर्ष–प्राप्ति का प्रयास किया जा रहा है।

1. बादरायण–विरचित "ब्रह्मसूत्र" प्रस्थान–त्रयी का एक प्रमुख ग्रन्थ

---

1. Vaiṣṇavism Śaivism....., pp. 4-5
2. Select Inscriptions, p. 88
3. Vaiṣṇavism Śaivism......, p. 5
4. Development of Hindu Iconography, p. 423
5. ब्रह्मसूत्र, 2.2.39–42

है। इसके द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तर्गत "उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण"[5] में पाञ्चरात्र-प्रामाण्य की विवेचना की गयी है। शंकराचार्य के अनुसार इस अधिकरण का प्रतिपाद्य पाञ्चरात्र की अप्रमाणिकता है, जबकि रामानुजाचार्य की दृष्टि में इस अधिकरण के द्वारा पाञ्चरात्र की प्रमाणिकता की सिद्धि की गयी है। ब्रह्मसूत्रों की रचना पांचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के मध्य मानी गयी है।[1] स्पष्ट है कि इस समय तक पाञ्चरात्र-परम्परा बद्धमूल हो चुकी थी।

2. महाभारत के भीष्म-पर्व में सात्वतविधि का उल्लेख किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त शान्तिपर्व के मोक्षधर्म-पर्व का बहुत बड़ा भाग पाञ्चरात्र-सिद्धान्तों के निरूपण के लिए ही समर्पित है।[3] महाभारत में यद्यपि पाञ्चरात्र-सिद्धान्तों का बहुत स्पष्ट और विशद प्रतिपादन है, तथापि इस आधार पर कोई निष्कर्ष निकाल सकना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसका कारण महाभारत की तिथि का स्वयं अनिश्चित होना है। महाभारत का काल 400 ईसा पूर्व से लेकर 400 ईसवी तक माना गया है।[4] सी. बी. वैद्य महाभारत का रचना काल 250 ईसा पूर्व मानते हैं।[5] इस तिथि पर विश्वास करते हुए यह कहा जा सकता है कि तीसरी शताब्दी ईसापूर्व में यह सम्प्रदाय चरमोत्कर्ष पर था।

3. पतञ्जलि के महाभाष्य में कुछ ऐसे स्थल हैं जिनसे पाञ्चरात्र-परम्परा के संकेतों को स्पष्ट रूप से ग्रहण किया जा सकता है। यथा-

(1) "सङ्कर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्द्धताम्।"[6]

यहाँ कृष्ण के सहयोगी के रूप में बलराम का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल भी द्रष्टव्य है-

(2) "प्रासादे धनपतिरामकेशवादीनाम्।"[7]

यहाँ पर धनपति, राम अर्थात् बलराम और केशव के प्रासाद अथवा मन्दिर का

1. A companion to Sanskrit Literature, p. 17
2. महाभारत, भीष्म, 66.40
3. तत्रैव, शान्ति., 324-351
4. A History of Indian Literature (Winternitz), p. 446
5. The Māhābhārata, as we have it, is assigned by most European Scholars to 500 A.D. where as we assign it to 250 B.C. a date accepted by Lokamānya Tilaka in his Gitārahasya.
History of Sanskrit Literature, Vol., II, p. 9
6. महाभाष्य, 2.2.22, पृ. 247
7. तत्रैव, 2.2.34, पृ. 278

उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी पाञ्चरात्र के एक प्रसिद्ध सिद्धान्त चातुर्व्यूह की कल्पना की ओर संकेत प्राप्त होता है। यथा–

"जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव"[1]

इन उद्धरणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पतञ्जलि के समय तक पाञ्चरात्र–सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार हो चुका था। पतञ्जलि का समय द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है।[2] इस विषय में विद्वानों में अधिक मतभेद भी नहीं है।

4. "शिलप्पधिकारम्" तथा "परिपडल" नामक तमिल ग्रन्थों में गरुडध्वज, संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध, श्रीकृष्ण तथा बलदेव की प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया हैं इन ग्रन्थों की रचना ईसा–पूर्व द्वितीय शताब्दी में मानी गयी है।[3] इससे भी पाञ्चरात्र–सम्प्रदाय का ईसा–पूर्व द्वितीय शताब्दी में प्रचार और प्रसार सिद्ध होता है।

इस प्रकार अब तक चर्चित समस्त पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक प्रमाणों से अधिक से अधिक द्वितीय शताब्दी ईसा–पूर्व तक पाञ्चरात्र की प्राचीनता की सिद्धि हो पाती है। अब हम इससे पूर्व पाञ्चरात्र की प्राचीनता के साधक प्रमाणों पर दृष्टिपात करेंगे।

5. चतुर्थ शताब्दी ईसापूर्व भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य था। इस समय मेगस्थनीज़ नामक एक यवन पर्यटक भारत भ्रमण के निमित्त आया था। उसने अपनी यात्रा के संस्मरणों को लिपिबद्ध किया, जिसे "इण्डिका" कहा जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अपेन मूलरूप में उपलब्ध नहीं है तथापि इसके अनेकत्र उद्धृत अंशों का सङ्कलन किया गया है। मेगस्थनीज़ का कहना है कि "हेराक्लीज़" का "शूरसेनोय" जाति के लोग विशेष रूप से पूजन करते हैं जो कि "मेथोरा" तथा "क्लीसोबोरा" में और उसके आसपास रहते हैं। इनके पास से जोबेरीज़ नामक नदी बहती है।[4] हेराक्लीज़ को कृष्ण, मेथोरा को मथुरा तथा जोबेरीज़ को यमुना नदी माना गया है। इस उल्लेख से यह निस्सन्देह कहा जा सकता है ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भागवत अथवा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय विकसित हो चुका था।

1. तत्रैव, 6.3.5
2- A companion to Sanskrit Literature, p. 79
3. भार्गवतन्त्रम्, उपोद्घातः, च।
4. 'This Heracles is held in especial honour by the sourasenoi, an Indian tribe who possess two large cities, methora nad cleisobora and through whose country flown a navigable river called the joberes. Megasthenes and Indian Religion, p. 63

6. पाणिनि की अष्टाध्यायी से भी भागवत अथवा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की प्राचीनता के निर्धारण में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। अष्टाध्यायी में "भक्तिः"[1] इस सूत्र के अधिकार में "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्"[2] सूत्र आता है, जिसका अर्थ होता है वासुदेव में भक्तिमान् व्यक्ति के अर्थ में वासुदेव शब्द से वुन् प्रत्यय होगा। इस प्रकार वासुदेव + वुन् = वासुदेवक शब्द बनेगा, जिसका अर्थ होगा वासुदेव में भक्तिमान् व्यक्ति। यहाँ पतञ्जलि यह प्रश्न उठाते हैं इस सूत्र के द्वारा वासुदेव शब्द से वुन् प्रत्यय का विधान करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि उत्तरवर्ती सूत्र "गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्"[3] सूत्र से गोत्रवाचक अथवा क्षत्रियवाचक वासुदेव शब्द से वुञ् प्रत्यय करने पर (वासुदेवक) शब्द बन ही जाता है।[4] कैयट-विरचित "प्रदीप" में इस प्रश्न को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च"[5] सूत्र से वसुदेव की सन्तान इस अर्थ में वसुदेव शब्द से अण् प्रत्यय करने पर वासुदेव शब्द बनता है। इस वासुदेव शब्द से गोत्र तथा क्षत्रिय होने के कारण वुञ् लगने पर भी वासुदेवक शब्द ही बनेगा जैसा कि बुन् प्रत्यय लगने पर बनता है। "वुन्" हो या "वुञ्", रूप और स्वर में कोई अंतर नहीं आता।[6] पतञ्जलि यहाँ वुन् प्रत्यय के विधान के दो प्रयोजन बताते हैं। प्रथम है वासुदेव शब्द का पूर्व-निपात। "लघ्वक्षरं पूर्वम्"[7] से लघु अक्षर वासुदेव शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिए। वासुदेव लघ्वक्षर न होने पर भी पूव-निपतित होगा क्योंकि वह अभ्यर्हित अथवा पूज्य है। "अभ्यर्हितञ्च"[8] से अभ्यर्हित के पूर्वनिपात का विधान है। दूसरी बात यह है कि जिस वासुदेव शब्द से वुन् प्रत्यय का विधान किया गया है वह क्षत्रिय नहीं है। यदि क्षत्रिय होता तो "गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्" से वुञ् प्रत्यय अवश्य लग जाता। यह वासुदेव

---

1. अष्टाध्यायी, 4.3.95
2. तत्रैव, 98
3. तत्रैव, 99
4. "किमर्थं वासुदेवशब्दादेव वुन् विधीयते न "गोत्रक्षत्रियाख्यींयो बहुलं वुञ्" इत्येव सिद्धम्? न ह्यस्ति वासुदेवशब्दाद् वुनो वा वुञो वा। तदेव रूपं स एव स्वरः। (महाभाष्यम्-4.3.98)
5. अष्टाध्यायी, 4. 1.114
6. "वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः, ऋष्यन्धक" इत्यण्यन्तः। तत्र गोत्रत्वात् क्षत्रियत्वाच्च वुञि रूपस्वरयोः सिद्धत्वात्प्रश्नः। (महाभाष्यम्, प्रदीप, 4.3.98)
7. सिद्धान्तकौमुदी, 2.2.34 (वार्तिकम्)
8. तत्रैव।

क्षत्रिय न होकर देवता-विशेष है। अतः इसके लिए अलग से वुन् प्रत्यय का विधान किया गया। पतञ्जलि के ही शब्दों में-

"इंद तर्हि प्रयोजनम्-वासुदेवशब्दस्य पूर्वनिपातं वक्ष्यामीति।

अथवा नैषा क्षत्रियाख्या। संज्ञैषा तत्रभवतः।[1]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि पाणिनि के समय में वासुदेव में भक्ति एक सामान्य बात थी तथा वासुदेव में भक्ति रखने वालों को वासुदेवक कहते थे। पाणिनि के काल के विषय में अनेक मत हैं। किन्तु यहाँ उस मतभेद की उपेक्षा करते हुए हम डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के मत को अपने प्रयोजन हेतु स्वीकार कर लेते हैं। डॉ. अग्रवाल ने पाणिनि का समय 450 ईसा-पूर्व से 400 ईसा-पूर्व निर्धारित किया है।[2] इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाँचवी शताब्दी ईसा-पूर्व में इस सम्प्रदाय की पर्याप्त प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इससे पूर्व सम्प्रदाय की प्राचीनता के ज्ञान के लिए हमें वैदिक-साहित्य पर एक दृष्टि डालनी होगी।

वैदिक-साहित्य

वैदिक साहित्य में पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की प्राचीनता के अनुसन्धान-हेतु इसके अन्य पर्यायों को भी जान लेना चाहिए। पाद्मसंहिता के अनुसार सूरि, भागवत, सात्त्वत, पञ्चकालवित्, ऐकान्तिक ओर पाञ्चरात्रिक पर्याय-शब्द हैं। पाद्मसंहिता के ही शब्दों में-

"सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पञ्चकालवित्।
ऐकान्तिकः तन्मयश्च पाञ्चरात्रिक इत्यपि।।[3]

विश्वामित्र-संहिता ने भी यही बात अपने शब्दों में कही है-

"एतैर्नामभिर्वाच्य एकान्ती पाञ्चरात्रिकः।
सूरिर्भागवतश्चैव सात्वतः पाञ्चकालिकः।।"[4]

---

1. महाभाष्यम्, 4.3.98, द्रष्टव्य "ननु वासेदुवशब्दाद् गोत्रक्षत्रियाख्येभ्य इति वुञस्त्येव। न चात्र वुन्वुञोर्विशेषो विद्यते किमर्थं वासुदेवग्रहणम्। संज्ञैषा देवताविशेषस्य न क्षत्रियाख्या।" (काशिका, 4.3.98)
2. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, अध्याय 8, पृ. 496
3. पाद्मसंहिता, चर्या, 2.87,88, आगमप्रामाण्यम्, पृ. 1 (टिप्पणी) उदाहृत।
4. विश्वामित्रसंहिता, 9/90, द्रष्टव्य-"ततश्चसत्वान् भगवान् भज्यते यैः परः पुमान्। ते सात्वता भागवता इत्युच्यन्ते द्विजोत्तमाः।।" (आगमप्रामाण्यम्, पृ. 153)

इस प्रकार वैदिक-साहित्य में विष्णु के पर्यायवाचक शब्दों अथवा इस सम्प्रदाय के पर्यायवाचक शब्दों के आधार पर कुछ निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया जा सकता है।

1. तैत्तिरीयारण्यक के दशम प्रपाठक में एक स्थान पर नारायण, वासुदेव, विष्णु शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। गायत्री मन्त्र की छाया में होने के कारण इसे विष्णुगायत्री कहा गया है। यथा-

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि।
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।।[1]

दशम प्रपाठक को खिल कहा गया है। इस कारण इस अंश को प्राचीन नहीं माना गया है।[2]

2. पाञ्चरात्र-शास्त्र की एक संज्ञा सात्त्वत भी है-यह प्रतिपादित किया जा चुका है। इस विषय में पराशरभट्ट-प्रणीत विष्णुसहस्रनाम के "भगवद्गुण-दर्पण" नामक भाष्य में "सात्त्वतां पतिः" का व्याख्यान भी द्रष्टव्य है।[3] ऐतरेयब्राह्मण में "सात्त्वत" शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[4] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि ऐतरेयब्राह्मण के समय सात्त्वत शब्द शास्त्र, धर्म और धर्मावलम्बियों के अर्थ में प्रचलित था। ऐतरेयब्राह्मण का समय एक हजार वर्ष ईसा-पूर्व माना जाता है।[5]

3. शतपथब्राह्मण का भी इसी अर्थ में सत्त्वत् शब्द के प्रयोग की दृष्टि से महत्त्व है।[6] शतपथब्राह्मण में ही सर्वप्रथम पाञ्चरात्र-शब्द के भी दर्शन होते हैं। इन

---

1. तैत्तिरीयारण्यक, प्रपा. 10, अनु. 1
2.- History of Sanskrit Literature (Vaidya) 11, p. 141
3. "सात्त्वतांपति :-परं ब्रह्म सत्त्वं वा सत्। "तदस्यास्ति" इति मतुप्। "संज्ञायाम्" इति मतुपो वकारः। "तसौमत्वर्थे" इति भसंज्ञा। सत्त्वा ब्रह्मवित् सात्त्विको वा। तस्येदं कर्म शास्त्रं वा सात्त्वतम्।......... सात्त्वताः भागवताः। तेषां पतिः सात्त्वतां पतिः।" (विष्णुसहस्रनामभाष्यम्, पृ. 157)
4. "एतस्यां" दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्त्वतां राजानो भोज्यायेव ते अभिषिच्यन्ते। भोजेति एनान् अभिषिक्तानाचक्षते। (ऐतरेयब्राह्मण, 8.3.14)
5. हिन्दूराजतन्त्र, भाग-1, पृ. 155
6. "तदेतद् गाथयाऽभिगीतम्। शतानीकः समन्तासु मेध्यं सात्राजितो हयम्। आदत्त यज्ञं काशीनाम्भरतः सत्त्वतामिलेति।।" (शतपथब्राह्मण, 13.5.4.21)

शब्दों के प्राप्त होने वाले इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है कि आज सात्त्वत और पाञ्चरात्र शब्दों के जो प्रचलित अर्थ हैं इन अर्थों से इन शब्दों के सम्बन्ध की प्रक्रिया शतपथ-ब्राह्मण के समय आरम्भ हो चुकी थी। शतपथब्राह्मण का रचनाकाल 3000 से 2500 वर्ष ईसा-पूर्व माना जाता है।[1]

पञ्चरात्र-सम्प्रदाय के आविर्भाव-काल की पर-सीमा

यह तो अब तक प्रपञ्चित तथ्यों से स्पष्ट हो चुका है कि चातुर्व्यूह की अवधारणा में परिगणित वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चारों का वृष्णि-वंश से ही सम्बन्ध है। यह वृष्णि-वंश महाभारत-काल से सम्बद्ध है। यह चारों व्यूह-रूप वृष्णि-कुल के सर्वाधिक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण पुरुष थे।[2] महाभारत काल का अर्थ है-द्वापर और कलियुग का सन्धिकाल। यों तो एक वेद का चतुर्धाभवन भी इसी काल में हुआ है[3] तथापि पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के आविर्भाव की दृष्टि से इस काल का विशेष महत्त्व है। इसी युग में वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार रूपों में भगवान् का अवतार हुआ था। इसी समय भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय का आविर्भाव नहीं माना जा सकता। अतः पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के आविर्भाव-काल की यही परसीमा है। इसकी पुष्टि महाभारत तथा पाञ्चरात्र संहिताओं से भी होती है। यथा महाभारत की उक्ति द्रष्टव्य है-

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
सात्त्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यत्।।[4]

1.- ... the composition of the Śatatapatha as a whole belongs to the period from 3000 to 2500 B.C. thus both by its date and its extreme fulness this Brāhmaṇa as Macdonell rightly observes "Next to the Ṛgveda is the most important production in the whole range of Vedic literature" History of Sanskrit Literature, Vol. II, (Vaidya) page 15
2. "वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि।" (गीता., 10.37)
3. द्रष्टव्य-"द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः।।" (विष्णुपुराण, 3.3.5)
"चतुर्धा यैः कृतो वेदो द्वापरेषु पुनः पुनः। (तत्रैव, 10)
"एको वेदश्चतुर्धा तु तैः कृतो द्वापरादिषु।" (तत्रैव, 20)
"द्वापरादिषु-द्वापरः आदिर्येषां तानि द्वापरादीनि
तेषु द्वापरसन्ध्यंशेष्वित्यर्थः"-तत्रैव, विष्णुचित्तीया व्याख्या।
4. महाभारत, भीष्मपर्व, 66.40

कतिपय पाञ्चरात्र-संहिता-वचनों से भी इसका समर्थन होता है-

द्वारपरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात् सङ्कर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्।।[1]

तथा

द्वारपरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात् सङ्कर्षणो देवः प्राप्य प्रत्यक्षतां मुनेः।।[2]

इसी प्रकार

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात् सङ्कर्षणाद् व्यक्ता् प्राप्त एष महत्तरः।।
एष एकायनो वेदः: प्रख्यातः सात्त्वतो विधिः।।[3]

इसी प्रकार के उल्लेख अन्य पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी उपलब्ध होते हैं।

निष्कर्ष

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि-

1. यद्यपि वेदों में विष्णु-सूक्तों के देवता के रूप में विष्णु की स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं, ऋषि के रूप में नारायण प्रायः सभी वेदों मे परिगणित हुए हैं तथापि इस काल को वैष्णव अथवा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का आविर्भाव-काल नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस काल में तो विष्णु और नारायण नितान्त भिन्न व्यक्तित्व हैं। इसके साथ ही यहाँ अन्य किसी वैष्णव-सम्प्रदाय के स्वरूप की प्राप्ति भी नहीं होती है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय यह सम्प्रदाय बीज रूप में दृष्टिगत होता है।
2. वेदों मे बीज रूप में प्राप्त होने वाला यह सम्प्रदाय द्वापर तथा कलियुग के सन्धिकाल में प्रस्फुटित हो गया।
3. पाणिनि के समय तक यह सम्प्रदाय पूर्ण व्यवस्थित रूप को धारण कर चुका था।

इस अर्थ को निम्न रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है-

---

1. ईश्वरसंहिता, 1.40
2. तत्रैव, 21.546
3. पारमेश्वरसंहिता, 1; 55-56

वेदादाविर्भवनमसकृत् स्वात्मनो दर्शयन्ती
मन्दं मन्दं पुनरुपचयं भारतान्ते व्रजन्ती।
आष्टाध्याय्या विशदविशदं धारयन्ती स्वरूपं
कल्याणीयं विलसतितरां पाञ्चरात्र-स्रवन्ती।।[1]

1. स्वोपज्ञ

द्वितीय-अध्याय

पाञ्चरात्रागम और वेद

पाञ्चरात्र-शास्त्र की श्रुतिमूलकता

पाञ्चरात्र-शास्त्र को श्रुतिमूलक कहा गया है। उस मूलभूत श्रुति के रूप में एकायन-शाखा प्रतिष्ठित है। वेदों की यह एकायन-शाखा आज उपलब्ध नहीं है और न ही इसके विवेच्य अथवा प्रतिपाद्य विषय का कहीं प्रामाणिक विवरण ही उपलब्ध होता है। पाञ्चरात्र-शास्त्र कितना श्रुतिमूलक है-यह निश्चित कर सकना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसका निश्चित कारण है इस शाखा का सर्वथा अनुपलब्ध होना। एकायन-श्रुति का महत्त्व तो इसी से समझा जा सकता है कि यह पाञ्चरात्र-शास्त्र की मूल होने के कारण उसकी प्राणभूत है। प्रश्न यहाँ यह उठता है कि यदि यह एकायन-श्रुति अथवा एकायन-शाखा इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण है तो इसे किसी न किसी रूप में उपलब्ध होना चाहिए था। पूर्वाचार्यों का दायित्व था कि वे इसे इसके मूलरूप में सुरक्षित रखते, इस पर टीका, टिप्पणी, व्याख्यान आदि लिख कर इसे स्थायित्व प्रदान करते, अथवा अपने ग्रन्थों में इसके वाक्यों को यथासम्भव उदाहृत करते। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सम्भव है कि यह एकायन-श्रुति वैष्णवों की आचार्य-परम्परा के आरम्भ होने के पूर्व ही विलुप्त हो गयी हो। "पाञ्चरात्र-शास्त्र श्रुतिमूलक है और एकायन शाखा ही इस शास्त्र की मूलभूत श्रुति है"-शास्त्रों में केवल इस प्रकार की उक्तियाँ और पुनरुक्तियाँ ही दृष्टिगत होती है। इससे शास्त्र के स्वरूप पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता है। अतः यह रही वह सीमा जिसके अन्तर्गत पाञ्चरात्र-शास्त्र की श्रुतिमूलकता पर विचार किया जा सकता है।

किन्तु किसी भी रूप में एकायन-श्रुति के उपलब्ध न होने के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना सर्वथा अनुचित होगा कि वह कभी थी ही नहीं अथवा

पाञ्चरात्र-शास्त्र श्रुतिमूलक नहीं है। श्रुतियों का लुप्त होना अथवा नष्ट हो जाना कोई असम्भव बात नहीं। इनके नाश अथवा उद्धार की कहानियाँ प्राचीन समय से ही प्राप्त होती हैं।[1]

आज वेदों की 1131 (ऋग्वेद-21, यजुर्वेद-101, सामवेद-1000 तथा अथर्ववेद-9)[2] शाखाओं में कुछ ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार परिगणित वेदशाखाओं में आज सहस्राधिक अनुपलब्ध हैं। इन शाखाओं की अनुपलब्धि-मात्र के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि ये थी हीं नहीं। यही कहा जाएगा कि कभी थीं और बाद में नष्ट हो गयीं। यही बात एकायन-शाखा के विषय में भी कही जानी चाहिए। अब हमें यह देखना है कि पाञ्चरात्र-संहिता आदि ग्रन्थों में इस विषय में क्या सामग्री उपलब्ध होती है।

पाञ्चरात्र-संहिताओं का तात्पर्य सर्वत्र स्वयं को श्रुतिमूलक कहने में ही है। इस सन्दर्भ में इन संतिाओं के कुछ वचन विशेष रूप से उद्धरणीय हैं। विष्णुसंहिता में तन्त्र शब्द का अर्थ बतलाते हुए इसकी श्रुतिमूलकता का प्रतिपादन इन शब्दों में किया गया है-

सर्वेऽर्थाः येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते।।

वेदमूलतया तन्त्रमाप्तमूलतयाऽथवा।
पुराणवत् प्रमाणं स्यात् तथा मन्त्रादिवाक्यवत्।।[3]

इसी प्रकार विष्वक्सेनसंहिता का कथन है-

---

1. द्रष्टव्य- "तामहमानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतिमिव।" (रामायण, कि. 6.5)
"यथावेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः।" (महाभारत, शान्ति., 348.56)
"एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः।
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः।।" (तत्रैव, 357)
"सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।" (बुद्धचरित, 1.42)
2. द्रष्टव्य-"एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः,
एकविंशतिका बाह्वृच्यम्, नवधाऽऽथर्वणो वेदाः।" (महाभाष्य, 1.1 (पस्पशाह्निकम्))
3. विष्णुसंहिता, 2.10.12

श्रुतिमूलमिदं तन्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्।
प्रमाणमिदमेवेकमागमेष्ववस्थितम्।।[1]

विष्णुतन्त्र के अनुसार–

श्रुतिमूलानि तान्येव पाञ्चरात्राणि पङ्कज।[2]

भारद्वाज-संहिता की यह उक्ति भी द्रष्टव्य है–

पञ्चरात्रमहद्दिव्यं शास्त्रं श्रुतिविभावनम्।
विशेषेणाऽवगन्तव्यं गीतं भगवता स्वयम्।।[3]

इस प्रकार अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में पाञ्चरात्र-संहिताएँ स्वयं को श्रुतिमूलक घोषित करती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि पाञ्चरात्र-संहिताएँ श्रुतिमूलक हैं तो यह मूलभूत श्रुति कौन सी है? पाञ्चरात्र आगमों की मूलभूत श्रुति का नाम है–एकायनवेद या एकायनश्रुति। पाञ्चरात्र-संहिताएँ इस अर्थ को अनेक स्थानों पर प्रकाशित करती हैं। उदाहरणार्थ श्रीप्रश्नसंहिता की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्।।
यस्मिन्नेको मोक्षमार्गः वेदे प्रोक्तः सनातनः।
मदाराधानरूपेण तस्मादेकायनं भवेत्।।[4]

ईश्वरसंहिता की ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं–

पुरा तोताद्रिशिखरे शाण्डिल्योऽपि महामुनिः।
द्वारपरस्य युगस्याऽन्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात्सङ्कर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्।।
सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवोपगायनम्।
मौञ्जायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयत्पुरा।।
एष एकायनो वेदः प्रख्यातस्सर्वतो भुवि।[5]

तथा

---

1. विष्वक्सेनसंहिता, 8.6
2. विष्णुतन्त्र, 1.36, (लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्धात, पृ. 4 में उदाहृत)
3. भारद्वाजसंहिता, 1.40
4. श्रीप्रश्नसंहिता, 2.38, 39
5. ईश्वरसंहिता, 1.38-43, द्रष्टव्य-पारमेश्वरसंहिता, 1.55-58, 1.63.64

आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नायसंज्ञितम्।
दिव्यमन्त्रक्रियोपेतं मोक्षैकफललक्षणम्।।
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते।
....
एष एकायनो वेदः उपदिष्टो मया द्विजाः।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।।
तस्मादेकायनं चैनं प्रवदन्ति मनीषिणः।[1]

उपर्युदाहृत ईश्वरसंहिता के उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकायनवेद को ही रहस्याम्नाय भी कहते हैं। सात्त्वतसंहिता के भाष्यकार अलशिङ्गभट्ट अनेकत्र इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं। यथा-

रहस्याम्नायसंज्ञितैकायनश्रुतेः............।[2]

तथा

रहस्याम्नायविधिना सात्त्वतोक्तक्रमेण।[3]

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी इसी प्रकार के अभिप्राय व्यक्त किये गये हैं। इस प्रकार पाञ्चरात्र-संहिताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस शास्त्र का मूल वेद है और वह वेद है-एकायन-वेद, एकायन-श्रुति अथवा रहस्याम्नाय। पाञ्चरात्र-संहिताओं के अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में भी एकायन-शास्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] किन्तु यहाँ उल्लिखित "एकायन" शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। शङ्कराचार्य ने "एकायन" शब्द का अर्थ नीतिशास्त्र बतलाया है।[5] किन्तु अन्य किसी प्रमाण से इस अर्थ की पुष्टि नहीं होती। तथापि यह प्रश्न तो उठता ही है कि यह एकायन-वेद कौन सा वेद है?

एकायन-वेद या एकायन-श्रुति के साथ ही साथ इसी अर्थ में एकायन-शाखा शब्द भी प्रयुक्त होता है। यथा-

---

1. तत्रैव, 21.531-535
2. सात्वतसंहिता, पृ. 1
3. तत्रैव, पृ. 5, द्रष्टव्य-"एकायनश्रुतेः सारभूतं सात्वततन्त्रमुपदेक्ष्यामीत्य आह।" (तत्रैव, पृ. 11)
4. "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं देवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्या......"
5. तत्रैव, छान्दोग्य., 7.1.2

एकायनीं च तां शाखां पाठयित्वा च तां द्विजः।[1]

अथवा

शाखामेकायनीं चापि विद्वद्भिरभिघोष्य च।[2] इत्यादि।

इस प्रकार के भी पर्याप्त संकेत प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह शाखा यजुर्वेद से सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ–

एकायनान् यजुर्मयान् आश्रावि तदनन्तरम्।[3]

सात्त्वतसंहितोक्त यही वचन प्रायः इसी रूप में पारमेश्वरसंहिता में भी प्राप्त होता है। यथा–

एकायनान् यजुर्मयानाश्रावि तमनन्तरम्।[4]

यामुनाचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आगमप्रामाण्य' में एकायनशाखा को शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा माना है। उन्हीं के शब्दों में

"अथ भागवतजनपरिगृहीतत्वादिति हेतुः, हन्त, तर्हि तत्परिगृहीतत्वाद् वाजसनेयकैकायनशाखावचसां प्रत्यक्षादीनाञ्च अप्रामाण्यप्रसङ्गः।"[5]

इन उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि एकायनशाखा यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा है।

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व ये दो शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। पाञ्चरात्र-संहिताओं में प्राप्त काण्व-शाखा के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय का काण्व-शाखा के साथ निकट का सम्बंध था। ईश्वर-संहिता में एकायन-वेद की महिमा और उसके सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए कहा गया है–

काण्वीशाखामधीयानान् वेदवेदान्तपारगान्।
संस्कृत्य दीक्षया सम्यक् सात्त्वताद्युक्तमार्गतः।।[6]

इसी प्रकार जयाख्यसंहिता में भी उल्लेख प्राप्त होता है–

---

1. विश्वामित्रसंहिता, 14.38
2. तत्रैव, 24.60
3. सात्त्वतसंहिता, 25-37
4. पारमेश्वरसंहिता, 15.313
5. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 140, द्रष्टव्य-इह वा किमहरहरधीयमानवाजसेनयकैकायनशाखान्...' (तत्रैव, पृ. 141) तथा 'यदेते वंशपरम्परया वाजसनेयशाखामधीयानाः (तत्रैव, पृ. 169)
6. ईश्वरसंहिता, 21.94

रत्नेषु त्रिष्वपि श्रेष्ठं जयाख्यं तन्त्रमुच्यते।
तदुक्तेन विधानेन प्रतिष्ठादि प्रवर्त्यताम्।।
काण्वीं शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ।
प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितावुभौ।।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से इस आशय के पर्याप्त सङ्केत प्राप्त होते हैं कि एकायन-शाखा का काण्वशाखा के साथ निकट का सम्बन्ध है। सम्भव है कि यह शुक्ल-यजुर्वेद की काण्व-शाखा की कोई शाखा हो। नागेश ने अपने ग्रन्थ 'काण्वशाखामहिमसंग्रह' में काण्व-शाखा को ही एकायन-वेद अथवा मूलवेद कहा है। यथा-

इयं शुक्लयजुःशाखा प्रथमेत्यभिधीयते।
मूलशाखेति चाप्युक्ता तथा चैकायनीति च।।
अयातयामयजुषा तथा मोक्षैकसाधिका।
इत्याद्यनेकनामानि सन्त्यस्यास्तत्र तत्र वै।।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि-1. पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय श्रुतिमूलक है, 2. मूलभूत श्रुति का नाम एकायन वेद है, 3. इस एकायन वेद का शुक्ल-यजुर्वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा 4. शुक्ल-यजुर्वेद की अनेक शाखाओं में इस एकायन-शाखा का काण्व-शाखा के साथ अभिन्न सम्बन्ध प्रतीत होता है।

एकायन-शाखा का स्वरूप

छान्दोग्योपनिषद् में चारों वेदों से पृथक् 'एकायन' का उल्लेख किया गया है।[3] प्रश्न यह उठता है कि क्या वस्तुतः एकायन-शाखा चार वेदों के अन्तर्गत आती है अथवा उनसे भिन्न कोई स्वतन्त्र शास्त्र है? छान्दोग्योपनिषद् के चर्चित उद्धरण से तो यही प्रतीत होता है कि यह उनसे पृथक् स्वतन्त्र शास्त्र है। पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी कुछ वचन इस बात की पुष्टि भी करते हैं। यथा-

प्रतिष्ठा विहिता ब्रह्मन् मन्त्रसिद्धिफलप्रदा।
एकायनाख्यवेदोक्तैः मन्त्रैरन्यैस्त्रयीमयैः।।[4]

---

1. जयाख्यसंहिता, 1.109, 110
2. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ. 6 (उदाहृत)
3. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं देवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं........।"
4. पारमेश्वरसंहिता, 15.7

अथवा

ऋगादिवेदाश्चतुरो द्विजाग्र्यैर्वेदवित्तमैः।
शाखामेकायनीं चापि विद्वद्भिरभिघोष्य च।।[1]
चतुर्दिक्षु चतुर्वेदपठनं कारयेद् द्विजः।
कोणेष्वेकायनीं शाखां तन्मयैः पाठयेदपि।।[2]

इस प्रकार के वचन अन्य पाञ्चरात्रसंहिताओं में भी मिल जायेंगे। इससे यह प्रतीत होता है कि एकायन-शाखा चारों वेदों से पृथक् है।

अब यह प्रश्न विचारणीय है कि यदि एकायन-शाखा चारों वेदों से पृथक् है तो उसका सम्भावित स्वरूप क्या हो सकता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि–

1. एकायन-शाखा शुक्ल यजुर्वेद की कोई शाखा रही होगी जो आज उपलब्ध नहीं है। अथवा शुक्ल यजुर्वेद की काण्वशाखा ही एकायन शाखा है।

2. एकायनवेद के लिए 'मूलवेद'[3] अथवा 'आदिवेद'[4] जैसी संज्ञाएँ भी प्राप्त होती हैं। ऐसे सङ्केत मिलते हैं कि द्वापर युग में कृष्णद्वैपायन व्यास के द्वारा जिस वेद का ऋग् आदि रूप में चतुर्धा व्यसन किया गया, वही मूलवेद अथवा आदिवेद है।[5] इस सन्दर्भ में पारमेश्वरसंहिता के निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य हैं–

इत्युक्त्वाऽध्यापयामास वेदमेकायनाऽभिधम्।
मूलभूतस्तु महतो वेदवृक्षस्य यो महान्।।
....
एष कार्तयुगो धर्मः निराशीः कर्मसंज्ञितः।
....

1. विश्वामित्रसंहिता, 24.60
2. तत्रैव, 18.157
3. "मूलवेदाऽनुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च।
सात्त्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम्।।" (ईश्वरसंहिता, 1.50, द्रष्टव्य, 21.549)
4. आद्यवेदोद्भवैर्मन्त्रैः साक्षात् सद्ब्रह्मवाचकैः। (पारमेश्वरसंहिता, 15.4)
आद्यमेकायनं वेदं वेदानां शिरसि स्थितम्। (ईश्वरसंहिता, 21.515)
आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नासंज्ञितम्।" (तत्रैव, 12.531)
5. एको वेदश्चतुर्धा तु तैः कृतो द्वापरादिषु।" (विष्णुपुराण, 3.3.20)

युगेषु मन्दसञ्चार इतरेष्वितरेष्वपि।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।।
साक्षात्सङ्कर्षणाद् व्यक्तात् प्राप्त एष महत्तरः।
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्त्वतो विधिः।।

....

एष प्रकृतिधर्माख्यो वासुदेवैकगोचरः।।
प्रवर्तते कृतयुगे ततस्त्रेतायुगादिषु।
विकारवेदाः सर्वत्र देवतान्तरगोचराः।।
महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूतास्तथा मुने।।[1]

इसी अभिप्राय की पुनरावृत्ति ईश्वरसंहिता में भी अनेकत्र प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार इन संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में एकायन वेद ही मूलवेद, प्रकृतिवेद अथवा आद्यवेद है।

3. पाञ्चरात्रसंहिताओं में कतिपय एकायन मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे कुछ मन्त्रों पर एक दृष्टिपात उपादेय होगा–

1. 'ओं नमो ब्रह्मणे'[3]

2. 'पूर्णात्पूर्णम्'[4]

इन मन्त्रों में यह ध्यान रखना चाहिए कि ये पूर्ण मन्त्र न होकर उनके सङ्केत मात्र हैं। ऐसी स्थिति में यह 'पूर्णात्पूर्णम्' मन्त्र अथर्ववेद का अधोलिखित मन्त्र हो सकता है–

---

1. पारमेश्वरसंहिता, 1.32, 33, 35, 37, 55, 74–76
2. ईश्वरसंहिता, 1.18.26
3. 'एकायनास्तदन्ते तु 'ओ नमो ब्रह्मणे तु यत्' (पारमेश्वरसंहिता, 15.187)
'ओं नमो ब्रह्मणेऽभीक्ष्णं.......। (तत्रैव, 15.844)
'एकायनांस्तदन्ते तु 'ओं नमो ब्रह्मणे तु यत्' (सात्वतसंहिता, 25.53)
4. 'दत्वा तदर्थे पूर्णा तु 'पूर्णात्पूर्ण' च पाठयेत्। (पारमेश्वरसंहिता, 15.212, 213)
'एकायनांस्तदन्ते तु क्रमात्तान् पाठयेत्ततः।।
'पूर्णात्पूर्णेति वै मन्त्रमाद्यात्पूर्णमसीति यत्।। (तत्रैव, 15.896, 897)
'दत्वा तदर्थ पूर्णा तु 'पूर्णात् पूर्णं च पाठयेत्।
एकायनान् ....।।' (सात्वतसंहिता, 25.95, 96)

पूर्णात्पूर्णमुदेचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते।।[1]

अथवा यजुर्वेद का अधोलिखित शान्तिमन्त्र हो सकता है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।[2]

3. 'यातव्येति'[3]

4. 'अजस्य नाभौ'[4]

यह मन्त्र ऋग्वेद में इस रूप में प्राप्त होता है–

अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः।[5]

5. 'आ त्वा हार्षेति'[6]

यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद इन तीनों वेदों में स्वल्प अन्तर के साथ उपलब्ध होता है।[7]

6. 'विश्वस्य मित्रम्'[8]

7. 'जितं ते'[9]

सम्भवतः यह प्रसिद्ध 'जितन्ता स्तोत्र' की ओर सङ्केत करता है, जिसके द्वारा श्वेतद्वीप में भगवान् की स्तुति की गयी थी। इसका उल्लेख महाभारत में इस रूप में किया गया है–

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज।।[10]

1. अथर्ववेद, 10.8.29
2. यजुर्वेद, शान्तिमन्त्र
3. 'यातव्येति' परं मन्त्रं विप्रानेकायनांस्तथा।' (पारमेश्वरसंहिता, 15.353; सात्त्वतसंहिता, 25, 118, 256)
4. 'अजस्य नाभावित्यादिमन्त्रैरेकायनैस्ततः' (पारमेश्वरसंहिता, 15.592)
'अजस्य नाभावध्येकमिति', (श्रीप्रश्नसंहिता, 6.56, 24.205)
5. ऋग्वेद, 10.82.6
6. 'आ त्वा हार्षेति' सह वै प्रतिष्ठासीति पाठयन्।
7. ऋग्वेद, 10.173.1, यजुर्वेद, 12.11, अथर्ववेद, 6.87.1
8. 'विश्वस्य मित्र' मित्यादि मन्त्रमेकायनान् द्विजः।।' (पारमेश्वरसंहिता, 15.843)
9. 'ओं नमो ब्रह्मणेऽभीक्ष्णं जितं ते त्वेवमेव हि।' (पारमेश्वरसंहिता, 15.884)
10. महाभारत, शान्तिपर्व, 336.44

इसे पाञ्चरात्रागम में श्रीमदष्टाक्षरकल्प में सम्मिलित किया गया है तथा इसे ऋग्वेद के खिल भाग के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।[1]

स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव ने अपने ग्रन्थ में कुछ वचन पाञ्चरात्रश्रुति तथा पाञ्चरात्रोपनिषद् से उदाहृत किये हैं। यदि यह मान लिया जाए कि 'पाञ्चरात्रश्रुति' अथवा 'पाञ्चरात्रोपनिषद्' से उत्पल वैष्णव को एकायन-वेद ही अभिप्रेत है तो निम्न वाक्यों को एकायन-वेद के अन्तर्गत ही मानना होगा-

'पाञ्चरात्रश्रुतावपि-

8. 'यद्वत् सोपानेन प्रासदमारुहेत् प्लवेन वा नदीं तरेत्
तद्वच्छास्त्रेणैव हि भगवान् शास्ताऽवगन्तव्यः।'[2]

'पाञ्चरात्रोपनिषदि च-

9. 'ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता व वाच्यं च भोक्ता व भोग्यं च।' इत्यादि तथाऽत्रैव-

10. 'सर्वान्तरं सर्वबाह्यं स्वयंज्योतिः स्वयंसम्बोध्यं स्वयम्भूरिति च' इति।'[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एकायन-शाखा के कुछ मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी प्राप्त होते हैं और कुछ मन्त्र किसी भी वेद में नहीं आते। इससे यह सम्भावना भी की जा सकती है कि एकायन-वेद एक ऐसा वेद है जिसमें अनेक स्थानों से लिये गये मन्त्रों को संग्रहीत किया गया है, किन्तु यह सब सम्भावना-मात्र है। इस सम्बन्ध में लिया गया कोई भी निर्णय अतिशीघ्रता में लिया गया निर्णय कहलायेगा।

पाञ्चरात्र, एकायन तथा पुरुषसूक्त-

पाञ्चरात्र-संहिताओं में न केवल वैदिक मन्त्रों का प्रचुर प्रयोग तथा माहात्म्य दृष्टिगत होता है, अपितु अनेक वैदिक-सूक्त भी विशेष महत्त्व से सम्पन्न दिखायी देते हैं। इन वैदिक सूक्तों में भी 'पुरुष-सूक्त' सर्वाधिक गौरव से युक्त है। लक्ष्मीतन्त्र में श्री की यह उक्ति द्रष्टव्य है-

'एको नारायणो देवः श्रीमान् कमललोचनः।
एकाहं परमा शक्तिः सर्वकार्यकरी हरेः।।

1. विब्लियोग्राफी ऑफ विशिष्टाद्वैत वर्क्स, पृ. 44
2. स्पन्दप्रदीपिका, पृ. 2, पं. 16-19
3. तत्रैव, पृ. 39, पं. 27, पृ. 40, पं. 1

तयोर्नौ हृदि संकल्पः कश्चिदाविर्बभूव ह।
उत्तारणाय जीवानामुपायोऽन्विष्यतामिति।।
आवाभ्यामुत्थितं तेजः शब्दब्रह्ममहोदधिः।
मथ्यमानात्ततस्तस्मादभूत् सूक्तद्वयामृतम्।।
पुरुषस्य हरेः सूक्तं मम सूक्तं तथैव च।
अन्योन्यशक्तिसम्पृक्तमन्योन्यार्णपरिष्कृतम्।।
नारायणार्षमव्यक्तं पौरुषं सूक्तमिष्यते।
अन्यन्मदार्षकं सूक्तं श्रीसूक्तं यत् प्रचक्षते।।
अष्टादश ऋचः प्रोक्ताः पौरुषे सूक्तसत्तमे।[1]

इस प्रकार पाञ्चरात्र-संहिताओं का पुरुषसूक्त के साथ कोई विशिष्ट घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्थूल रूप से ही यदि देखा जाए तो पाञ्चरात्र, एकायन तथा पुरुष-सूक्त में सम्बन्ध स्पष्टतया परिलक्षित हाता है-

1. पाञ्चरात्र, एकायन तथा पुरुषसूक्त इन तीनों का भगवान् नारायण से सम्बन्ध है। पाञ्चरात्र के आदिवक्ता भगवान् नारायण हैं।[2] वही एकायनवेद के भी उपदेशक हैं।[3]

---

1. लक्ष्मीतन्त्र, 36.89, 71, 76
द्रष्टव्य : 'सुखिनः स्युरिमे जीवाः प्राप्नुयुर्नौ कथं न्विति।
उपायान्वेषणायत्तौ परमेण समाधिना।।
मथ्नीवः स्मातिगम्भीरं शब्दब्रह्ममहोदधिम्।
मथ्यमानात्ततस्तस्मात् सामर्ग्यजुपसङ्कुलात्।।
तत्सूक्तमिथुनं दिव्यं दध्नो घृतमिवोत्थितम्।
तत्र पुंलक्षणं सूक्तं सद्ब्रह्मगुणभूषितम्।।
स्वीचकारारविन्दाक्षः स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितम्। (तत्रैव, 50-12-14, 6, 17)
2. पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणस्स्वयम्।
3. '.................... स्वयमेव जगत्पतिः।।
आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नायसंज्ञितम्।
....
अध्यापयामास यतस्ततस्तन्मुनिपुङ्गवाः।।
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते।।
.... तानुवाचेदमच्युतः।
एष एकायनो वेद उपदिष्टो मया द्विजाः।। (ईश्वरसंहिता, 2.1,530-534)

इसी प्रकार पुरुषसूक्त के ऋषि के रूप में नारायण प्रसिद्ध हैं। यदि पाञ्चरात्र, एकायन और पुरुषसूक्त इन तीनों के वक्ता अथवा उपदेशक नारायण हैं तो तीनों किसी न किसी रूप में सजातीय हुए।

2. मोक्ष के एक मार्ग को छोड़कर दूसरा कोई मार्ग नहीं है। उस एक मार्ग के प्रतिपादक शास्त्र को एकायन कहते हैं–

शृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्।।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः।।'[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुषसूक्त की अधोलिखित पंक्तियों की यह प्रतिध्वनि ही है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[2]

आपाततः इस मन्त्र में 'एकायन' शब्द और अर्थ की प्रतीति हो रही है।

3. इस सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण का निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य है–

'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम्'इति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं शतक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनाऽयजत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्।[3]

इस वाक्य में यह बताया गया है कि पुरुष–नारायण ने 'मैं सर्वोत्कर्ष को प्राप्त करूं, मैं ही सब कुछ हो जाऊँ' इस उद्देश्य से पुरुषमेध नामक पञ्चरात्रक्रतु का अनुष्ठान किया और उससे अपने उद्देश्य की प्राप्ति की। यह स्थल पाञ्चरात्र तथा पुरुषसूक्त के बीच सेतु का कार्य करने वाला सबसे प्राचीन सन्दर्भ है।

पुरुषसूक्त के ऋषि नारायण और देवता पुरुष हैं। शतपथब्राह्मण तक नारायण और पुरुष की एकता स्थापित हो चुकी थी। पुरुषसूक्त में 'स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'[4] के द्वारा पुरुष का सर्वातिशायी होना बताया गया है।

---

1. तत्रैव, 1.19, तथा द्रष्टव्य 21.534, 535
2. पुरुषसूक्त, 18
3. शतपथब्राह्मण, 13.6.1
4. पुरुषसूक्त, 1

शतपथब्राह्मण के उद्धृत वचन 'तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्' में उसी पुरुषमेध क्रतु के द्वारा पुरुष के सर्वातिशायी होने की बात कही गयी है। पुरुषसूक्त में भी पुरुषमेध यज्ञ का ही प्रतिपादन किया गया है।[1] जिस प्रकार हम यह कहते हैं कि जिस पुरुषमेध यज्ञ का प्रतिपादन पुरुषसूक्त में किया गया है वही यज्ञ शतपथब्राह्मण के उपर्युदाहृत पंक्तियों में अनूदित हुआ है, उसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि शतपथब्राह्मण में उल्लिखित पुरुषमेध एक पञ्चरात्र क्रतु है और उसी प्रकार यह भी कहना चाहिए कि पुरुषसूक्त में जिस यज्ञ का प्रतिपादन है वह पञ्चरात्र पुरुषमेध यज्ञ है।

इस प्रकार पञ्चरात्र, पुरुषसूक्त और एकायन के किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध होने के सङ्केत प्राप्त होते हैं।

पाञ्चरात्र-सम्मत वेदवृक्ष—पाञ्चरात्र आगमों में वेदवृक्ष की स्पष्ट परिकल्पना दृष्टिगत होती है। एतदनुसार एकायनवेद इस वेदवृक्ष का मूल है। ईश्वरसंहिता की निम्नलिखित पंक्तियों में यह तथ्य अच्छी तरह से प्रकाशित होता है—

श्रृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्।।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः।।
मूलभूतस्तु महतो वेदवृक्षस्य यो महान्।
सद्ब्रह्मवासुदेवाख्यपरतत्त्वैकसंश्रयम् ।।'[2]

अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति का इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है, इसी कारण इसे एकायनवेद कहा जाता है। यह महान् वेद रूपी वृक्ष का मूलभूत है। प्रायः इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते हुए यही बात पारमेश्वरसंहिता में भी कही गयी है। यथा—

'इत्युक्त्वाऽध्यापयामास वेदमेकायनाभिधम्।।
मूलभूतस्तु महतो वेदवृक्षस्य यो महान्।
सद्ब्रह्मवासुदेवाख्यपरत्त्वैकसंश्रयम् ।।'[3]

---

1. तत्रैव
2. ईश्वरसंहिता, 1.18.-20
3. पारमेश्वरसंहिता, 1.32.33

वेदवृक्ष का मूल होने के कारण एकायन वेद को मूलवेद, मूलश्रुति या आद्य वेद भी कहा गया है। ईश्वरसंहिता और पारमेश्वरसंहिता में ही ऋग्वेद आदि वेदों को इस वेदवृक्ष की शाखाएँ कहा गया है। यथा ईश्वरसंहिता में–

'महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूताश्च योगिनः।।'[1]

यही बात इसी रूप में पारमेश्वरसंहिता में भी कही गयी है।[2] श्रीवात्स्यचक्रवर्ति वीरराघवाचार्य ने 'वैखानसविजय' नामक ग्रन्थ में इस पाञ्चरात्र–सम्मत वेदवृक्ष का स्वरूप इन शब्दों में निबद्ध किया है–

'पाञ्चरात्रमेकायनश्रुतिमूलमिति सम्प्रतिपन्नम्। एकायनं च वेदमूलभागः' महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्' इत्युक्तेः। एको हि महान् वेदवृक्षः बहुधा विभज्यते। तत्र प्रणवः परमूलभूतः। तदुपरितनः शाखाविभागभागतः प्राक् मूलसन्निहितः स्कन्धभागः–भगवत्पारम्यतदर्चनोपासनादिमात्रपरं–एकायनमुच्यते। ततो भगवत्सृष्ट–विविधदेवपूजनादिष्वपि व्यापृतःऋग्यजुः सामाथर्वाख्यचतुष्कविभागशाली भागः। तत्र एकैकशाखायामप्युपशाखाः यथायथं स्थिताः।'[3]

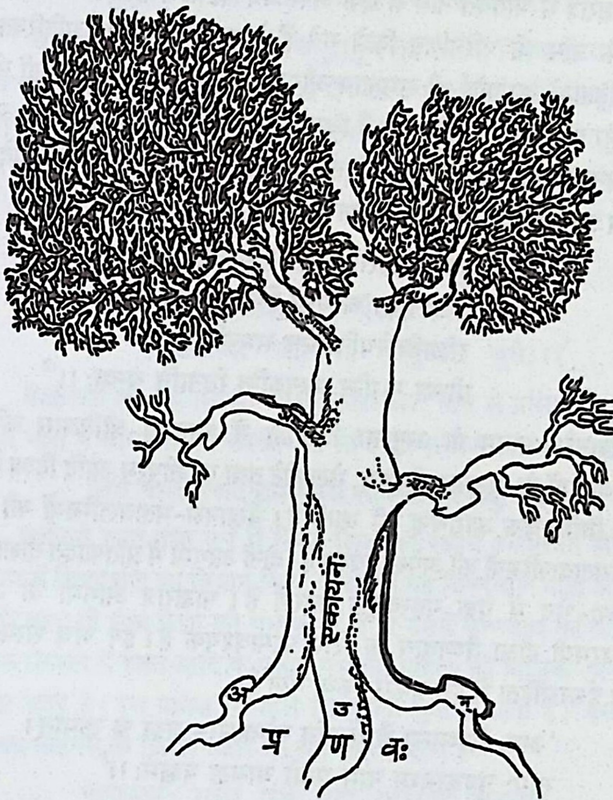
यहाँ प्रणव को वेदवृक्ष का परममूल कहा गया है। इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख यद्यपि संहिताओं में प्राप्त नहीं होता तथापि पाञ्चरात्र–संहिताओं को परममूल के रूप में प्रणव स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि उनमें प्रणव को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। शाखा–विभाग भाग के पूर्व मूल से सन्निहित स्कन्ध–भाग एकायन–वेद है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नाम की चार शाखाएँ हैं और प्रत्येक शाखा की उपशाखाएँ हैं।

इस प्रकार पाञ्चरात्र–संहिताओं में वेदवृक्ष की परिकल्पना स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है।

---

1. ईश्वरसंहिता, 1.24
2. पारमेश्वरसंहिता, 1.76
3. वैखानसविजयः, पृ. 21

वेदवृक्ष



महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूताश्च योगिनः।।

ईश्वरसंहिता, 1.24

वेद और पाञ्चरात्रागम

वैष्णव आगम वैखानस और पाञ्चरात्र भेद से दो प्रकार के होते हैं। हयशीर्ष-पाञ्चरात्र में भागवत नाम से एक अन्य भेद भी प्राप्त होता है जिसकी सात संहिताओं के नाम भी परिगणित किये गये हैं।[1] इस उल्लेख के अतिरिक्त इन भागवत-संहिताओं का कोई भी सम्प्रदाय और उसकी परम्परा उपलब्ध नहीं होती। वैखानस और पाञ्चरात्र ये दो भेद ऐसे हैं जिनके अनुसार वैष्णव दिव्यदेशों में अर्चना और आराधना का क्रम प्राचीन काल से लेकर आज भी प्रवर्तमान है। वेदान्तदेशिक ने यह तथ्य इन शब्दों में प्रकाशित किया है–

'त्वां पाञ्चरात्रिकनयेन पृथग्विधेन
वैखानसेन च पथा नियताधिकाराः।
संज्ञाविशेषनियमेन समर्चयन्तः
प्रीत्या नयन्ति फलवन्ति दिनानि धन्याः।।'[2]

वैखानस-आगम के अनुसार तिरुपति में भगवान् श्रीनिवास की तथा पाञ्चरात्र-आगमों के अनुसार श्रीरङ्गम्, मेलकोटे तथा काञ्चीपुरम् आदि दिव्य देशों में आज भी विधिपूर्वक आराधना की जाती है। वैखानस-मतावलम्बियों की संख्या पाञ्चरात्र-मतावलम्बियों की अपेक्षा स्वल्प है। दोनों आगमों में प्रतिपादित दीक्षा-विधि इस संख्या-भेद में एक महत्त्वपूर्ण कारण है। पाञ्चरात्र आगमों के अनुसार पञ्चसंस्कारमयी दीक्षा वैष्णवत्व के लिए परमावश्यक है। इन पांच संस्कारों का परिगणन ईश्वरसंहिता में इस प्रकार किया गया है–

'अतः शिष्यस्य वै कुर्यात् संस्कारान् पञ्च च क्रमात्।
तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।।'[3]

इन पञ्च संस्कारों में प्रथम 'ताप' संस्कार अत्यधिक चर्चित संस्कार है। इस संस्कार के अन्तर्गत आचार्य शिष्य के दक्षिण बाहुमूल में विष्णु के 'सुदर्शन' चक्र को तथा वाम बाहुमूल में 'पाञ्चजन्य' शंख को अच्छी प्रकार से अग्नि में तपाकर अङ्कित करता है–

---

1. हयशीर्षपाञ्चरात्र, 2.7-9
2. शरणागतिदीपिका, 32
3. ईश्वरसंहिता, 21.283-284

द्रष्टव्य– 'तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्चसंस्कारा युक्तस्यैकान्त्यहेतवः।। भारद्वाजसंहिता, 2.2 (परिशिष्ट)

आचार्यः स्वयमादाय नियुक्तो वाथ मन्त्रवित्।।
प्राङ्मुखस्योपविष्टस्य न्यसेद् बाहौ च दक्षिणे।
सुदर्शनं तथा वामे पाञ्चजन्यं स्वमन्त्रतः।।[1]

वैखानस वैष्णवों के लिए तप्तमुद्राङ्कन का सर्वथा निषेध किया गया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार विष्णु स्वयं दीक्षा देने वाले गुरु होते हैं और शिशु की दीक्षा माँ के गर्भ में ही हो जाती है। इस कारण वैष्णवत्व को प्राप्त होने वाला शिशु 'गर्भवैष्णव' कहा जाता है। इस सन्दर्भ में वैखानस आगम की आनन्दसंहिता की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

वैखानसानां सर्वेषां गर्भचक्रमुदाहृतम्।
यो विष्णुवलिसंस्काराद् गर्भचक्रेण लाञ्छितः।
स गर्भवैष्णवो जातमात्र इत्युच्यते बुधैः।।[2]

वैखानसों का यह संस्कार 'गर्भचक्रसंस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। गर्भाधान से आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार के साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है–

अथ गर्भाधानादष्टमे मासि सीमन्तोन्नयनं कुर्यात्।[3]

गर्भवती माता तथा गर्भ में स्थित शिशु की रक्षार्थ आयोजित होने वाले इस संस्कार में विष्णुबलि का विधान किया जाता है। यह विष्णुबलि माता और शिशु की रक्षा के साथ ही साथ शिशु की गर्भावस्था में ही उसमें वैष्णवत्व का आधान करती है। इस संस्कार में हवन आदि के पश्चात् गर्भवती महिला को याज्ञिक–पायस का पान कराया जाता है। इस पायस में पहले विष्णुचक्र डुबोया जाता है।[4] इस सन्दर्भ में वैखानस–आगम के क्रियाधिकार का यह अंश द्रष्टव्य है–

नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम्।
तत्करस्थेन चक्रेण शंखेन प्रथितौजसा।।
करोति शंखचक्राङ्कं शिशोर्वै बाहुमूलयोः।
वैखानसेन सूत्रेण स्यादयं गर्भवैष्णवः।।

---

1. तत्रैव, 2.10, 11
2. आनन्दसंहिता, 8.10, 11, वैखानस आगम, डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, भारतीय तंत्रशास्त्र, उदाहृत, पृ. 407.
3. वैखानसस्मार्तसूत्रम्।
4. वैखानस आगम, भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ. 407, विशेष विवरण हेतु डॉ. राघव प्रसाद चौधरी का यह लेख द्रष्टव्य है।

निसर्गवैष्णवा शुद्धा जन्मनाचार्यसंज्ञिताः।
विखना इति वै विष्णुस्तज्जा वैखानसाः स्मृताः।।[1]

इस प्रकार इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत शिशु जन्म से पूर्व ही वैष्णव हो जाता है तथा वैष्णव रूप में ही जन्म लेता है। जिन्होंने वैखानस वैष्णव के रूप में जन्म नहीं लिया है उनके लिए वैखानसत्व अथवा वैखानस वैष्णवत्व को प्राप्त करने का कोई भी अन्य उपाय नहीं है। सम्भवतः वैखानस-मतावलम्बियों की अल्पीयसी संख्या का यही एक विशिष्ट कारण है। पाञ्चरात्र-आगमों के अनुसार जन्मना वैष्णवत्व की कठोरता नहीं है। सम्भवतः उनकी भूयसी संख्या का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

वैखानस-आगमों की वैदिकता

वैखानस आगम पूर्णरूपेण वैदिक हैं। इनके पूर्ण वैदिक होने के कारण ही इनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी भी सम्प्रदायाचार्य ने आज तक सन्देह भी व्यक्त नहीं किया है। वैखानस-आगम की आनन्दसंहिता में आगम के तीन प्रकार बताये गये हैं-

निगमस्तान्त्रिको मिश्रस्त्रिविधः प्रोक्त आगमः।
निगमो विखना प्रोक्तो मिश्रो भागवतः स्मृतः।।[2]

अर्थात् आगम के तीन प्रकार होते हैं-निगम, तान्त्रिक और मिश्र। वैखानस आगम निगम है, पाञ्चरात्र तान्त्रिक तथा भागवत आगम मिश्र है। इस प्रकार वैखानस आगम को निगम घोषित करने का अर्थ है उसे पूर्ण वैदिक अथवा तान्त्रिक नहीं हो सकता। वैदिकता की सिद्धि के लिए आवश्यक है उसका किसी वेद संहिता अथवा किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध प्रदर्शित करना।

यद्यपि वैखानसों की अपनी कोई मन्त्र संहिता अभी तक प्रकाश में नहीं आयी है तथापि उल्लेख मिलते हैं जिनसे इनकी मन्त्रसंहिता होने के स्पष्ट सङ्केत मिलते हैं। वैखानस-श्रौतसूत्र के प्रिफेस में डॉ. कालैण्ड ने वैखानस आगम की आनन्दसंहिता (1.78) के निम्नलिखित अंश उदाहृत किये हैं-

वैखानसं तैत्तिरीयं तथा वाजसनेयकम्।
यजुर्वेदस्त्रिधा प्रोक्तः शुद्धं वैखानसं स्मृतम्।
अशुद्धं तैत्तिरीयं च शुद्धं वाजसनेयकम्।।[3]

---

1. तत्रैव, पृ. 408 (उदाहृत)
2. आनन्दसंहिता, 8.23 (उदाहृत-तत्रैव, पृ. 406)
3. वैखानस-श्रौतसूत्रम्, प्रिफेस XVI (उदाहृत)

इसके अतिरिक्त 'औखेय' नाम से कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का उल्लेख चरणव्यूह में प्राप्त होता है, यथा–

'तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति। औखेयाः खण्डिकेयाश्चेति।'[1]

वैखानस–श्रौतसूत्र की व्याख्या के आरम्भ में प्राप्त एक श्लोक से ज्ञात होता है कि वैखानसों का सम्बन्ध इसी औखेय शाखा से था। वह श्लोक इस प्रकार है–

येन वेदार्थं विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं पुत्रम् औखेयं तस्मै विखनसे नमः।।

इसी प्रकार वैखानस–श्रौतसूत्र की पुष्पिका भी द्रष्टव्य है–

'इति श्रीमदौखेयसशाखायां विखनसा प्रोक्ते श्रीवैखानससूत्रे मूलगृह्ये द्वात्रिशः प्रश्नः।'[2]

वैखानस–आगम की आनन्दसंहिता में प्राप्त विवरण से औखेय तथा वैखानस एकार्थक प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में आनन्दसंहिता के आठवें अध्याय की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

औखेयानां गर्भचक्रं न्यासचक्रं वनौकसाम्।
वैखानसान् विनाऽन्येषां तप्तचक्रं प्रकीर्तितम्।। 13।।
औखेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम्।। 28।।[4]

यहाँ वैखानस तथा औखेय शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। इसके साथ ही वैखानस–आगमों के अनुसार जिस गर्भचक्र–दीक्षा का उल्लेख पहले किया गया है, वही दीक्षा औखेयों के लिए विहित की गयी है। यह अनुमान किया जा सकता है यही औखेय शाखा वैखानसों की अपनी शाखा थी।

इसके अतिरिक्त वैखानसों के अपने सूत्र भी हैं। यह सूत्र साहित्य उपलब्ध भी है और प्रकाशित भी। डॉ. डब्ल्यू. कालैण्ड ने 1927 में वैखानसों के गृह्य और धर्म सूत्रों को 'वैखानसस्मार्तसूत्रम्' नाम से प्रकाशित किया। इसी प्रकार वर्ष 1941 में 'वैखानसश्रौतसूत्रम्' का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। यह दोनों ही ग्रन्थ रायल एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता से प्रकाशित हुए थे। इन सूत्रों के रचयिता 'विखनस्' निश्चित रूप से वैदिक ऋषि हैं। 'विखनस्' ऋषि के अत्रि, मरीचि, कश्यप और भृगु नामक शिष्यों ने अपने द्वारा रचित संहिताओं में इन्हीं सूत्रों

1. तत्रैव, प्रिफेस XII (उदाहृत)
2. तत्रैव, प्रिफेस XII (उदाहृत)
3. तत्रैव, पृ. 334
4. तत्रैव, प्रिफेस XVI (उदाहृत)

के तात्पर्यार्थ को विस्तार प्रदान किया है। इस प्रकार वैखानस आगम पूर्वतया वैदिक सिद्ध होते हैं। इन आगमों में विहित समग्र प्रतिष्ठा, अर्चना आदि विषयक अनुष्ठान भी पूर्णतया वैदिक हैं। इसके अतिरिक्त जैसे कुमारिल तथा शंकर आदि आचार्यों ने पाञ्चरात्र आगमों को लेकर उन्हें अवैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है, वैखानस आगमों के विषय में किसी भी दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की ओर से उनकी अवैदिकता की लेशमात्र भी शङ्का नहीं की गयी है।

इस प्रकार वैखानस आगम पूर्णतया वैदिक तथा प्रामाणिक है।

पाञ्चरात्र-आगमों की वैदिकता तथा प्रामाण्य

पाञ्चरात्र-आगमों की स्थिति वैखानस-आगमों के समान निर्विवाद नहीं है। सर्वप्रथम कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रवार्तिक में इन्हें अवैदिक शास्त्रों में परिगणित किया।[1] और सम्भवतः यहीं से पाञ्चरात्र-आगमों की वैदिकता तथा प्रामाणिकता के विषय में सन्देह की परम्परा का बीजारोपण हुआ। इसके कुछ समय पश्चात् शङ्कराचार्य ने अपने शारीरिक-भाष्य में पाञ्चरात्र-आगमों को वेदविरोधी सिद्ध किया है। उनका कहना है कि पाञ्चरात्र-आगमों में जीवोत्पत्ति का प्रतिपादन है तथा वेदनिन्दा भी की गयी है।[2] इस प्रकार वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पाञ्चरात्र-आगम सर्वथा अप्रामाणिक हैं। शङ्कराचार्य के पश्चात् तो पाञ्चरात्र आगमों की अवैदिकता और अप्रामाणिकता का उद्घोष करने वालों की एक लम्बी परम्परा की दिखायी देती है। प्रायः ब्रह्मसूत्रों के सभी अथवा अधिकांश अवैष्णव भाष्यकारों ने पाञ्चरात्र-आगम विषयक 'उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण' की व्याख्या शङ्कराचार्य की दृष्टि का अवलम्बन लेकर ही की है। इस प्रकार यह एक ऐसा समय था जब एक ओर तो पूर्ण वैदिक होने के कारण वैखानस-आगमों को सबका आदर और विश्वास प्राप्त हो गया था दूसरी ओर वैष्णव-आगम कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य की आलोचनाओं के फलस्वरूप अविश्वास और सन्देह की परिधि में आ गया था। अब आवश्यकता थी पाञ्चरात्र-आगमों के एक ऐसे समुद्धारक की जो उपर्युक्त आचार्यों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों का प्रबल और प्रभावशाली उत्तर दे सके।

विशिष्टाद्वैत-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य तथा रामानुज के परमगुरु यामुनाचार्य ने समय की इस चुनौती को स्वीकार किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'आगमप्रामाण्य' में इन आचार्यों के द्वारा उपस्थापित आक्षेपों का सबल उत्तर दिया। किन्तु यामुनाचार्य से भी पूर्व पाञ्चरात्र-आगमों को एक अतर्कित और अप्रत्याशित क्षेत्र से प्रभावशाली संरक्षक

1. तन्त्रवार्तिकम् (मीमांसादर्शनम्) 1.3.4, पृ. 112
2. ब्र.सू.शा.भा., 2.2.42-45

और समर्थक की सुखद उपलब्धि हुई। और वह संरक्षक थे न्यायदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य जयन्तभट्ट। जयन्तभट्ट ने अपनी रचनाओं 'न्यायमञ्जरी' तथा 'षण्मतनाटक' में आगमों को वेद के समान ही प्रामाणिक सिद्ध किया। रामानुजाचार्य तथा वेदान्तदेशिक ने यामुनाचार्य से दिशानिर्देश प्राप्त करके पाञ्चरात्र–आगमों को वैदिक तथा प्रामाणिक सिद्ध किया। अति संक्षेप में पाञ्चरात्र–आगमों के प्रामाण्य से सम्बद्ध आक्षेप और समाधान की यही परम्परा है।

यामुनाचार्य कृत 'आगमप्रामाण्य' इस सम्बन्ध में आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में पाञ्चरात्र–आगमों की अप्रामाणिकता की साधक प्रायः सभी युक्तियाँ पूर्वपक्ष के रूप में उपनिबद्ध करके सिद्धान्तपक्ष में उनका समीचीन उत्तर दिया गया है। यहाँ उन पक्षों द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रमुख युक्तियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

मीमांसकों द्वारा पाञ्चरात्र के अप्रामाण्य का प्रतिपादन

पाञ्चरात्र के अप्रामाण्य–प्रतिपादन की जो परम्परा उपलब्ध होती है उसका आरम्भ मीमांसकों से ही होता है। उसमें भी कुमारिल भट्ट अग्रगण्य हैं। कुमारिल भट्ट ने वेदविरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक साहित्य की परिगणना करते समय पाञ्चरात्र–आगमों को भी उसमें सम्मिलित किया है। उन्हीं के शब्दों में–

'......... यद्वा यान्येतानि त्रयीविद्भिर्न परिगृहीतानि किञ्चित्तन्मिश्रधर्म कञ्चुकच्छायापतितानि लोकोमसंग्रहलाभपूजाख्यातिप्रयोजनपराणि त्रयीविपरीता सम्बद्धदृष्टशोभादिप्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्तिप्राययुक्तिमूलोपनिबद्धानि सांख्ययोग–पाञ्चरात्रपाशुपतशाक्यग्रन्थपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धनानि विषचिकित्सावशीकरणो–च्चाटनोन्मादनादिसमर्थकतिपयमन्त्रौषधिकादाचित्कसिद्धिनिदर्शन–बलेनाहिंसासत्य–वचनदमदानदयादिश्रुतिस्मृतिसंवा दिस्तोकार्थ–गन्धवासितजीविकाप्रायार्थान्तरोपदेशीनि यानि च बाह्यतराणि म्लेच्छाचारमिश्रकभोजनाचरणनिबन्धनानि तेषामेवैतच्छ्रुतिविरोध–हेतुदर्शनाभ्यामनपेक्षणीयत्वं प्रतिपाद्यते।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में कुमारिल भट्ट ने पाञ्चरात्र–आगमों को त्रयीविपरीत अर्थ के प्रतिपादक साहित्य में परिगणित करते हुए उन्हें अप्रामाणिक सिद्ध किया है। यदि यह कहा जाए कि वेदविरुद्ध अंश को अप्रामाणिक मान भी लिया जाए तो भी उन शास्त्रों में जो अंश को विरुद्ध नहीं है, अपितु वेदानुकूल है उस अंश को तो प्रामाणिक मानना ही होगा। इस प्रश्न के उत्तर में कुमारिल का कथन है कि चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्यास्थान धर्म के विषय में प्रमाण के रूप में स्वीकृत किये गये हैं उनमें बौद्ध,

---

1. तन्त्रवार्तिकम्, (मीमांसादर्शनम्), द्वितीय भाग, 1.3.4, पृ. 112

आर्हत आदि नहीं आते। इस कारण उन्हें प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। कुमारिल के ही शब्दों में–

'यत्तर्हि वेदविहितं न बाधते शिष्टान् वा वेदविदो न कोपयति। विराहाराम-मण्डलकरणवैराग्यध्यानाभ्यासाहिंसासत्यवचनदमदानदयादि, तद्बुद्धादिभाषितं प्रमाणत्वेनाविद्धमिति चेत्। न। शास्त्रपरिमाणत्वात्। परिमितान्येव हि चतुर्दशाष्टादश वा विद्यास्थानानि धर्मप्रमाणत्वेन शिष्टैः परिगृहीतानि वेदोपवेदाङ्गाष्टादशधर्मसंहिता-पुराणशाखशिक्षादण्डनीतिसञ्ज्ञकानि, न च तेषां मध्ये बौद्धार्हतादिग्रन्थाः स्मृता गृहीता वा।'[1]

इस विवेचन का निष्कर्ष कुमारिल इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं–

'तस्माद्यावत्परिगणितवेदादिशास्त्रव्यतिरिक्तानिबन्धनं तद्धर्मप्रमाणत्वेन नापेक्षितव्यमिति।'[2]

यामुनाचार्य ने मीमांसा ग्रन्थों में पाञ्चरात्र-आगमों के अप्रामाण्य प्रतिपादक तर्कों को पूर्वपक्ष के रूप में संग्रहीत किया है। उनमें से कतिपय प्रमुख युक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। यथा–

1. पाञ्चरात्र आगमों में प्रतिपादिक विलक्षण दीक्षा में दीक्षित व्यक्ति ही समस्त पाञ्चरात्र अनुष्ठानों को सम्पादित करने का अधिकारी होता है।[3] मण्डलाराधन-पूर्वक सम्पन्न होने वाली दीक्षा अनेक पाञ्चरात्र-आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित है जो बहुसमय-साध्य होने के साथ बहुश्रम-साध्य भी है। पञ्चसंस्कारमयी दीक्षा उसी का संक्षिप्त रूप है। यह पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में प्रतिपादित होने के साथ ही साथ पाञ्चरात्र-सम्प्रदायावलम्बियों में प्रचलित भी है। आचार्य रामानुज की दीक्षा भी इसी विधि से हुई थी। इस दीक्षा संस्कार के पाँच अङ्ग हैं–ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग। भारद्वाजसंहिता के शब्दों में इन संस्कारों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

---

1. तत्रैव, 1.3.7, पृ. 121–122
2. तत्रैव, पृ. 124
3. 'दीक्षया जायते योग्यस्त्रैविद्यो देवपूजने।

   ....

   दीक्षितो देवदेवस्य कर्षणादिक्रिया चरेत्।
   नाधिकारी भवेद्यस्तु दीक्षाविरहितो द्विजः।।
   तस्माद्धर्यर्चनाकांक्षी दीक्षेत हरिसन्निधौ।' भार्गवतन्त्र, 24.27, 29.30

'तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्चसंस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः।।"[1]

वेदाध्ययन की योग्यता के लिए आवश्यक उपनयन संस्कार से सम्पन्न व्यक्ति के लिए भी भगवदर्चना आदि अनुष्ठानो में योग्यता प्राप्ति-हेतु पाञ्चरात्र-सम्मत यह विशेष दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। यामुनाचार्य आगमप्रामाण्य में पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसकों का पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पाञ्चरात्र-आगमों में प्रतिपादित विलक्षण दीक्षापूर्वक भगवद् आराधना और अभिलषित स्वर्ग-अपवर्ग रूपी फल में साध्य-साधन सम्बन्ध की सिद्धि प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से नहीं होती। आगमप्रामाण्य के ही शब्द इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं-

'न च पञ्चरात्रतन्त्रप्रतिपाद्यमानविलक्षणदीक्षापूर्वकभगवदाराधनाभिलषित-स्वर्गापवर्गादिसाध्यसाधनसम्बन्धं प्रत्यक्षादीन्यावेदयितुं क्षमन्ते। न हि प्रत्येक्षण दीक्षाराधनादीनि निरीक्षमाणाः तेषां निःश्रेयसाधनतां प्रतिपद्यामहे।[2]

इस सन्दर्भ में आगम-प्रमाण्य में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (वैदिकशब्द), उपमान तथा अर्थापत्ति नामक प्रमाणों का एकैकशः विचार किया गया है और प्रत्यक्ष आदि का अविषय होने के कारण पाञ्चरात्र के प्रामाण्याभाव का प्रतिपादन किया गया है।

2. मीमांसकों का यह भी कहना है कि पाञ्चरात्र आगमों के मानने वाले अपनी जाति और कर्मों से त्रीयमार्ग से अपभ्रष्ट हैं। वेदमार्ग से भ्रष्ट लोगों द्वारा परिगृहीत होने के कारण पाञ्चरात्र आगम सर्वथा अप्रमाणिक हैं। मीमांसक पाञ्चरात्र-आगमों के मानने वाले भागवतों को ब्राह्मण मानना तो दूर त्रैवर्णिक भी नहीं मानते। यद्यपि ये ब्राह्मणादि के समान ही शिखा, यज्ञोपवीत आदि धारण करते हैं, किन्तु इतने मात्र से तो वह ब्राह्मणादि हो नहीं सकते। दुष्ट शूद्रादि यज्ञोपवीत आदि धारण कर लेने से ब्राह्मण आदि नहीं हो जाते। यामुनाचार्य के शब्दों में मीमांसकों का यह पक्ष द्रष्टव्य है-

'ननु ते कथमशिष्टा ये त्रैवर्णिकाग्रण्यो ब्राह्मणाः?'

तन्न, तेषां त्रैवर्णिकत्वमेव नास्ति। दूरे ब्राह्मणभावः। नहि इन्द्रियसम्प्रयोगसमनन्तरं केषुचिदेव देहविशेषेषु अनुवर्तमानम्, अन्यतो व्यावर्तमानं नरत्वातिरेकिणं ब्राह्मण्यं

---

4. भारद्वाजसंहिता, 2.2 (परिशिष्ट), द्रष्टव्य-ईश्वरसंहिता, 21.283, 284, तथा विष्णुतिलकसंहिता, 189.90 (आगमप्रामाण्य, पृ. 3 की पादटिप्पणी में उदाहृत)
1. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 3

नाम जातिविशेषमपरोक्षयामः। शिखायज्ञोपवीतादयस्तु ब्राह्मणादीनां विधीयमाना न तद्भावमापदयितुं क्षमन्ते, नाप्यवगमयन्ति, दुष्टशूद्रादिषु व्यभिचारदर्शनात्।"[1]

इसी प्रकार भागवतों की एक और सञ्ज्ञा प्रसिद्ध है–सात्त्वत।[2] मनु ने वैश्य व्रात्य से उत्पन्न अवरजन्मा पुत्र को सात्त्वत कहा है–

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्त्वत एव च।।[3]

जो राजाज्ञा से वृत्त्यर्थ देवपूजन करते हैं, उन्हें सात्त्वत कहते हैं–

पञ्चमसात्त्वतो नाम विष्णोरायतनानि सः।
पूजयेदाज्ञया राज्ञां स तु भागवतस्स्मृतः।।[4]

इन भागवत सात्त्वतों के आचार से भी उनके अब्राह्मण्य का निश्चय हो जाता है। वृत्त्यर्थ देवतापूजा, विलक्षण दीक्षा, नैवेद्य का भक्षण, गर्भाधानादि दाहान्त संस्कार करना, श्रौत-क्रियाओं का अनुष्ठान न करना, द्विजों के साथ विवाहादि सम्बन्ध का वर्जन, यह सब अनाचार है और इनसे उनके अब्राह्मण्य का निश्चय होता है।[5] ऐसे लोगों का ब्राह्मणों के लिए विहित कर्मों में अधिकार नहीं होता–

येषां वंशक्रमादेव देवार्चा वृत्तितो भवेत्।
तेषामध्ययने, यज्ञे, याजने नास्ति योग्यता।।[6]

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति तीन वर्षों तक वृत्त्यर्थ देवतापूजन करे उसे देवलक कहते हैं और यह देवलक सभी शुभ कर्मों में गर्हित होता है–

वृत्त्यर्थं पूजयेद् देवं त्रीणि वर्षाणि यो द्विजः।
स वै देवलको नाम सर्वकर्मसु गर्हितः।।[7]

उपर्युक्त विवेचन का उपसंहार करते हुए यामुनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार त्रयीमार्ग से अपभ्रष्ट भागवत जनों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण पाञ्चरात्र-आगम सर्वथा अप्रामाणिक है। यथा–

---

1. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 11
2. 'भागवतशब्दश्च सात्त्वतेषु वर्तत इति नात्र कश्चिद् विवादः। (तत्रैव, पृ. 13)
3. मनु., 10.23
4. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 13 (उदाहृत)
5. तत्रैव, 14
6. तत्रैव, 15 (उदाहृत)
7. तत्रैव, 16 (उदाहृत)

'एवं जात्या कर्मणा च त्रयीमार्गादपभ्रष्टभागवतजनपरिग्रह एव पञ्चरात्रशास्त्र-प्रामाण्यप्रतिक्षेपाय पर्याप्तो हेतुः।'[1]

3. पाञ्चरात्र आगमों में विहित विलक्षण दीक्षा-विधि स्पष्ट रूप से उसकी अवैदिकता को प्रमाणित करती है। उपनयन आदि वैदिक संस्कारों से संस्कृत तथा समस्त अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों में अधिकृत लोगों के लिए भी भगवदाराधन के अधिकार की प्राप्ति के लिए पञ्चसंस्कारमयी दीक्षा नामक संस्कार का वर्णन करना उसकी अवैदिकता को ही सिद्ध करता है। वस्तुतः उपनयन आदि वैदिक संस्कारों से संस्कृत होने पर उन्हें भगवदाराधन रूपी कर्मों में भी अधिकृत हो जाना चाहिए।[2]

4. चतुर्दश विद्यास्थानों के द्वारा वेदार्थ का उपवृंहण किया जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में चतुर्दश विद्यास्थान इन शब्दों में गिनाये गये हैं-

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गविस्तरः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥[3]

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह वेदाङ्ग और चार वेद, यह चौदह विद्यास्थान हैं। कहीं-कहीं चार उपपुराणों को सम्मिलित करके विद्यास्थानों की संख्या अट्ठारह मानी गयी है। धर्म के विषय में यही शास्त्र प्रामाणिक है। इन विद्यास्थानों में कहीं भी पाञ्चरात्र-शास्त्र का परिगणन नहीं किया गया है। इस अपरिगणन से भी पाञ्चरात्र-आगमों की अवैदिकता सिद्ध हो जाती है।[4]

5. नारायण या वासुदेव को पाञ्चरात्र आगमों का आद्योपदेशक कहा गया है।[5]

---

1. तत्रैव, पृ. 17
2. 'यदपरमुपनयादिसंस्कृतानामधिकृतानां च अग्निहोत्रादिसमस्तवैदिककर्मसु, पुनरपि भगवदाराधनाधिकारसिद्धये दीक्षालक्षणसंस्कारवर्णनम्, तदवैदिकतामेवानुकारयति। वैदिकत्वे हि तैरेव संस्कारैः भगवदाराधनादावप्यधिक्रियेरन्।' (तत्रैव, पृ. 18)
3. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.3
4. 'यदपि धर्मप्रमाणतया समस्तास्तिकजनपरिगृहीतेषु चतुर्दशविद्यास्थानेष्वपरिगणनम्, तदप्यवैदिकत्वे लिङ्गम्। अन्यथा हीदमपि तदन्यतमत्वेन स्मर्येत। तदवसीयते अवैदिकमेवेदं पञ्चरात्रस्मरणमिति।' (आगमप्रमाण्यम्, पृ. 19)
5. 'पाञ्चरात्रस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।' (महाभारत, शान्ति., 349.37)

यही वासुदेव-सञ्ज्ञक नारायण वेद-मन्त्रों के प्रवक्ता भी हैं। इस सन्दर्भ में वेदान्तदेशिक की यह उक्ति द्रष्टव्य है-

कमप्याद्यं गुरुं वन्दे कमलागृहमेधिनम्।
प्रवक्ता छन्दसां वक्ता पञ्चरात्रस्य यः स्वयम्।।[1]

मीमांसा का कहना है कि किसी सर्वज्ञ और नित्य ईश्वर (वासुदेव अथवा नारायण) की कल्पना की ही नहीं जा सकती। अतः वासुदेव नामक किसी वञ्चक पुरुष ने जगत् को मोहित करने के उद्देश्य से पाञ्चरात्र आगमों की रचना की है-

यतो न साक्षात्कृतपुण्यपापः
पुमान् प्रमाणप्रतिपन्नसत्त्वः।
अतो जगन्मोहयितुं, प्रणीतं
नरेण केनापि हि तन्त्रमेतत्।।[2]

इस सन्दर्भ में ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं-

वासुदेवाभिधानेन केनचिद्विप्रलिप्सुना।
प्रणीतं प्रस्तुतं तन्त्रमिति निश्चिनुमो वयम्।।[3]

इस प्रकार इन सभी युक्तियों के आधार पर मीमांसक का यही निष्कर्ष है कि न केवल पाञ्चरात्र-आगम अवैदिक हैं और इसी कारण सर्वथा अप्रमाणिक हैं, अपितु इन्हें किसी वञ्चक पुरुष की कृति मानने के अतिरिक्त कोई और विकल्प नहीं है। यहाँ प्रयास यही किया गया है कि पाञ्चरात्र के अवैदिकत्व तथा अप्रामाणिकत्व की सिद्धि के लिए मीमांसकों द्वारा उत्थापित तथा यामुनाचार्य द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत सभी प्रमुख युक्तियों का परिचय दे दिया जाय।

पाञ्चरात्र-प्रामाण्य के सम्बन्ध में नैयायिकों का पक्ष

मीमांसकों के साथ जिस दूसरे दार्शनिक सम्प्रदाय का पाञ्चरात्र आगमों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में यामुनाचार्य ने विवेचन किया है वह है न्यायदर्शन। न्यायदर्शन में भी जयन्तभट्ट ही यहाँ विशेष रूप से विमर्श के विषय बनाये गये हैं। जयन्तभट्ट पाञ्चरात्र आगमों की प्रामाणिकता के पक्ष में प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य हैं। इनके द्वारा रचित न्यायमञ्जरी, न्यायकलिका तथा आगमडम्बर नामक

---

1. यतिराजसप्ततिः, 1
2. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 38
3. तत्रैव, पृ. 52

रूपक अतिशय प्रसिद्ध हैं। इनमें पाञ्चरात्र आगमों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विशद और व्यापक विचार किया गया है। पाञ्चरात्र-आगमों का यह सिद्धान्त है कि नारायण या वासुदेव ही इनका रचयिता है–

'पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्'[1]

नैयायिक भी इन आगमों के ईश्वरकर्तृकत्व की पूर्णरूपेण पुष्टि करता है। ईश्वरकर्तृक होने के कारण उनकी प्रामाणिकता का वह सर्वथा समर्थन भी करता है। उनके ईश्वरकर्तृकत्व तथा प्रामाणिकत्व के विषय में नैयायिक और यामुनाचार्य के मतों में अन्तर नहीं है। प्रामाण्य-विमर्श की इस प्रक्रिया में यामुनाचार्य का नैयायिकों से केवल एक विषय में स्पष्ट तथा गम्भीर मतभेद है। यामुनाचार्य मीमांसकों के समान ही वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। दोनों की यह मान्यता है कि ईश्वर वेदों का कर्ता नहीं है। इसके विपरीत नैयायिक वेदों को पौरुषेय मानते हैं। और ईश्वर ही वह औपनिषद पुरुष है जो वेदों का रचयिता है। इस प्रकार वेद और आगम दोनों की रचना ईश्वर ने अपने अनुभव से की है। दोनों ईश्वरकर्तृक होने के कारण समान रूप से प्रामाणिक हैं। वेदों को पौरुषेय अर्थात् ईश्वरकृत सिद्ध करते हुए जयन्त भट्ट का कथन है–

अतो नित्यानुमेयोऽपि कर्ता वेदस्य विद्यते।
न हि तेन विना कोऽपि व्यवहारोऽवकल्पते।।[2]

इसी प्रकार आगम भी ईश्वर-प्रणीत होने के कारण प्रामाणिक है–

तस्मादीश्वरप्रणीतत्वादेव सर्वागमानां प्रामाण्यम्।[3]

क्योंकि वेद और आगम दोनों की रचना ईश्वर ने अपने अनुभव से की है, अतः दोनों समान रूप से प्रामाणिक हैं। इस सम्बन्ध से जयन्त भट्ट की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

वेदानामेक एवातुलकुशलपथादेशकानेकाशाखा-
विक्षिप्तानां विधाता कविरमलमतिः कोऽपि देवःपुराणः।

---

1. महाभारत, शान्ति., 349.67
2. षण्मतनाटक, 4.36
3. न्यायमञ्जरी, प्रथम भाग, पृ. 219

तद्वत् सर्वागमानां भवतु स भगवानेक एव प्रणेता
नानात्वं कर्तुरित्थं न सुवचमिति प्रागुपन्यस्तमेतत्।।[1]

'आगम-प्रामाण्य' में वेदों के पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्व के विषय में मतभेद होने के कारण यामुनाचार्य ने नैयायिकों के पक्ष को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। जहाँ तक पाञ्चरात्र-आगमों के वैदिकत्व और प्रामाणिकत्व का प्रश्न है, दोनों के मत समान हैं। यामुनाचार्य वेद को अपौरुषेय तथा पाञ्चरात्र-आगमों को ईश्वर-कृत मानकर दोनों को भिन्न-भिन्न स्तर पर प्रामाणिक मानते हैं किन्तु उनसे कुछ आगे बढ़कर पाञ्चरात्र का प्रामाण्य निश्चित करते हैं। उनके अनुसार वेद और पाञ्चरात्र दोनों पौरुषेय हैं, दोनों ईश्वर-कृत हैं तथा दोनों समान रूप से प्रामाणिक हैं। यामुनाचार्य का बल पाञ्चरात्र-आगमों को वैदिक या वेदानुकूल सिद्ध करने में है जबकि नैयायिक की दृष्टि में इस प्रकार का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वेद तथा आगम दोनों ईश्वर की रचना होने के कारण समान रूप से प्रमाण हैं। आगम का वेद के अनुकूल होना या वेद का आगम के अनुकूल होना दोनों के प्रामाण्य के सन्दर्भ में अनावश्यक है।[2]

शङ्कराचार्य और पाञ्चरात्रप्रामाण्य

कुमारिल भट्ट के पश्चात् अवैदिकता के आधार पर पाञ्चरात्र-आगमों की अप्रामाणिकता की घोषणा करने वाले दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हैं शङ्कराचार्य। बादरायण-विरचित ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद का अन्तिम अधिकरण 'उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण' नाम से प्रसिद्ध है। इस अधिकरण में पाञ्चरात्र आगमों की प्रामाणिकता का विचार किया गया है, इस कारण यह अधिकरण 'पाञ्चरात्राधिकरण' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। शङ्कराचार्य के अनुसार इस अधिकरण में वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पाञ्चरात्र-आगमों के अप्रामाण्य का निरूपण किया गया है। इस वेदविरोधित्व को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से शङ्कराचार्य दो प्रमुख युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्रथम है वेदविरुद्ध जीवोत्पत्ति का प्रतिपादन तथा द्वितीय है पाञ्चरात्र-आगमों में वेदनिन्दा। यहाँ इन दोनों ही युक्तियों का स्वल्प विवेचन आवश्यक हैं।

1. चातुर्व्यूह की कल्पना पाञ्चरात्र-आगमों की प्रमुख अवधारणा है। पर-वासुदेव

---

1. षण्मतनाटक, 4.45
2. परस्परमपेक्षेते तुल्यकक्ष्ये न हि स्मृती।
पाञ्चरात्रश्रुती तद्वत् नापेक्षेते परस्परम्।' आगमप्रामाण्यम्, पृ. 22 (उदाहृत)

ही सृष्टि आदि व्यापारों के उद्देश्य से चार प्रकार के रूपों को धारण करता है। यह चार रूप हैं–1. वासुदेव, 2. सङ्कर्षण, 3. प्रद्युम्न तथा 4. अनिरुद्ध। इन्हें व्यूह कहते हैं। शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत प्रथम आक्षेप का संबंध इस चातुर्व्यूह की अवधारणा से ही है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि भागवतों का यह सिद्धान्त है कि पर–वासुदेव चार रूपों में (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) स्वयं को विभक्त करके अवस्थित होता है। वासुदेव परमात्मा है, सङ्कर्षण जीव, प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहङ्कार। इनमें वासुदेव परम प्रकृति है तथा सङ्कर्षण आदि व्यूह कार्य हैं। अभिगमन इत्यादि पूर्वक की गयी आराधना से भगवत्प्राप्ति होती है।[1]

इस सिद्धान्त में ईश्वर का अनेक रूपों में विभक्त होकर अवस्थित होना असङ्गत नहीं क्योंकि स्वयं श्रुति इस प्रकार की कल्पना को मान्यता प्रदान करती है, यथा–'स एकधा भवति त्रिधा भवति।'[2] इसी प्रकार अनन्य भाव से जो ईश्वर की आराधना का विधान है वह भी श्रुति–स्मृति के अनुकूल है। चातुर्व्यूह–कल्पना का इतना अंश तो प्रामाणिक है, किन्तु इस कल्पना का यह अंश कि वासुदेव–सञ्ज्ञक परमात्मा से सङ्कर्षण–सञ्ज्ञक जीव की उत्पत्ति होती है, सर्वथा अप्रामाणिक है, क्योंकि जीव की उत्पत्ति स्वीकार करने पर उसमें अनित्यत्व आदि दोषों की प्राप्ति हो जायगी, न उसे भगवत्प्राप्ति होगी और न मोक्ष। इसके अतिरिक्त जीवोत्पत्ति की कल्पना श्रुतिविरुद्ध भी है। शङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र–आगमों का आंशिक प्रामाण्य और आंशिक अप्रामाण्य इन शब्दों में व्यक्त किया है–

'तत्र यत्तावदुच्यते योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति, तत्र निराक्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा. 7.26.2) इत्यादि श्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधाभावस्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाऽभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते। श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत् पुनरिदमुच्यते वासुदेवात्

---

1. 'तत्र भगवता मन्यन्ते–भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम्, स चतुर्धाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण, सङ्कर्षणव्यूहरूपेण, प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मेत्युच्यते। सङ्कर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नामाहङ्कारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे सङ्कर्षणादयः कार्यम्। तमित्थम्भूतं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्या–स्वाध्याय–योगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इति।' (ब्रह्मसूत्र, शां.भां., 2.2.42
2. छान्दोग्योपनिषद्, 7.26.2

सङ्कर्षण उत्पद्यते ... अत्र ब्रूमः–न वासुदेव–सञ्ज्ञकात्परमात्मनः सङ्कर्षणसञ्ज्ञकस्यस जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति। अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्याऽनित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्। ... नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र.सू.2.3.17) इति तस्मादसङ्गतैषा कल्पना।[1]

यदि इस दोष से बचने के उद्देश्य से यह कहा जाय कि यहाँ सङ्कर्षण आदि जीव के अर्थ में अभिप्रेत नहीं हैं अपितु यह सभी षड्गुणसम्पन्न वासुदेव ही हैं तो अनेकेश्वरकल्पना जैसा दोष उपस्थित हो जायगा। इस सन्दर्भ में शङ्कराचार्य की यह पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

'अत्रोच्यते–एवमपि तदप्रतिषेधः उत्पत्त्यसम्भवस्याप्रतिषेधः प्राप्नोत्येवाय-मुत्पत्त्यसम्भवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम्? यदि तावदयमभिप्रायः परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनाऽऽनर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च। भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमाच्च।'[2]

इस प्रकार शङ्कराचार्य के अनुसार पाञ्चरात्र–अगमों में वर्णित चातुर्व्यूह का सिद्धान्त वेदविरुद्ध जीव की उत्पत्ति को स्वीकार करके ही प्रवृत्त हुआ है। अतः पाञ्चरात्र–आगम वेदविरुद्धार्थ प्रतिपादन के कारण अप्रामाणिक हैं।

2. शङ्कराचार्य के अनुसार पाञ्चरात्र–आगम न केवल वेदविरुद्धार्थ का प्रतिपादन करते हैं, वेदों के प्रति उनमें श्रद्धाबुद्धि भी नहीं है। इनमें प्राप्त होने वोले वेदों की निन्दा करने वाले वचन इनकी वेदविरोधी प्रकृति को प्रकाशित करते हैं।[3] इन सन्दर्भ में शङ्कराचार्य पाञ्चरात्र–आगमों से निम्नलिखित वचन उदाहृत करते है–

'चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्'

अर्थात् चारों वेदों में परमकल्याण अथवा परमपुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव न देखकर शाण्डिल्य ने इस शास्त्र का अध्ययन किया। इस प्रकार स्पष्ट रूप से इस शास्त्र में वेद की निन्दा की गयी है। इससे इनका वेदविरोधित्व सुदृढ हो जाता है और अप्रामाणिकत्व भी।

---

1. ब्र.सू.शां.भा., 2.2.43
2. तत्रैव, 2.2.44
3. तत्रैव, 2.2.45

पाञ्चरात्र-आगमों के विषय में भट्टोजिदीक्षित का अभिमत–

सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भट्टोजिदीक्षित की गतिविधियों का काल था। यद्यपि भट्ठोजिदीक्षित मूर्धन्य वैयाकरण के रूप में प्रसिद्ध हैं तथापि इन्होंने धर्मशास्त्र, मीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त जैसे गम्भीर विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन्हीं में एक ग्रन्थ है 'तन्त्राधिकारनिर्णयः'। इस ग्रन्थ में इन्होंने प्रधानतया पाञ्चरात्र-आगमों के प्रामाण्य के संबंध में विचार किया है। भट्टोजिदीक्षित ने अपने ग्रन्थ में कुमारिल और शङ्कराचार्य के मतों को बहुलता के साथ उदाहृत किया है। कुमारिल ने पाञ्चरात्र-आगामों को सर्वात्मना अप्रामाणिक घोषित किया था और शङ्कराचार्य ने उन्हें आंशिक रूप से अप्रामाणिक घोषित किया। भट्टोजिदीक्षित का कहना है कि पाञ्चरात्र-आगम कुछ अधिकारियों के लिए प्रामाणिक हैं और कुछ अधिकारियों के लिए अप्रामाणिक। कौन से अधिकारियों के लिए ये प्रामाणिक हैं और कौन से अधिकारियों के लिए अप्रमाणिक, यही निर्णय करना इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। भट्टोजिदीक्षित ने यह निर्णय दिया है कि पाञ्चरात्र-आगम श्रुतिभ्रष्ट, पतित, सङ्करज, कुण्डगोलक, स्त्री और शूद्र आदि के लिए प्रमाण है और वैदिकों के लिए अप्रमाण। भट्टोजिदीक्षित के ही शब्दों में–

'उभयथापि वैदिकान् प्रति पाञ्चरात्रादयो नाऽनुष्ठापका इति निर्विवादमेव। तस्मात् पतितादय एव शङ्खचक्राङ्कनादावधिकारिण इति सिद्धम्।'[1]

भट्टोजिदीक्षित ने जैसे अधिकारियों के लिए पाञ्चरात्र-आगमों को प्रामाणिक कहा है, उससे तो यही स्पष्ट होता है कि यह इन आगमों को सर्वथा अप्रामाणिक कहने का एक नया ढंग है। जैसा कि यामुनाचार्य मीमांसकों का मत प्रस्तुत करते हुए आगम-प्रामाण्य में कहते हैं–

'एवं जात्या कर्मणा च त्रयीमार्गादपभ्रष्टभागवतजनपरिग्रह एव पाञ्चरात्रप्रतिक्षेपाय पर्याप्तो हेतुः।'[2]

पाञ्चरात्रागमों की ओर से आक्षेपों का उत्तर और वैदिकता की स्थापना

मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत किये गये आक्षेपों का यामुनाचार्य ने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उत्तर दिया है। मीमांसकों ने जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अविषय होने के

---

1. तन्त्राधिकारिनिर्णयः, पृ. 52
2. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 17

कारण पाञ्चरात्र-आगमों के प्रामाण्याभाव का प्रतिपादन किया है, यामुनाचार्य ने उसका उत्तर प्रौढ तार्किक शैली में दिया है। उनका कथन है–

विवादाध्यासितं तन्त्रं प्रमाणमिति गृह्यताम्।
निर्दोषज्ञानजन्मत्वात् ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्।।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में अनुमान प्रयोग को श्लोकबद्ध किया गया है। यह प्रयोग इस प्रकार है–

विवादाध्यासितं तन्त्रं प्रमाणम्

निर्दोषज्ञानजन्यत्वात्

ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्

इस अनुमान में 'तन्त्रम्' पक्ष है, 'प्रमाणम्' साध्य है, 'निर्दोषज्ञानजन्यत्वात्' हेतु है तथा 'ज्योतिष्टादिवाक्यवत्' उदाहरण हैं। यामुनाचार्य का कहना है कि यह अनुमान सभी प्रकार के दोषों से रहित हैं–

न तावदनुमानेऽस्मिन् न्यायशास्त्रपरीक्षिताः।
दोषा मृगयितुं शक्याः............................।।[2]

इसके पश्चात् उन्होंने विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए प्रदर्शित किया है कि उक्त अनुमान 'पक्ष' अथवा 'हेतु' से सम्बन्ध हो सकने वाले सभी प्रकार के दोषों से रहित है। इस प्रकार पाञ्चरात्र-तन्त्रों के प्रमाणत्व का साधक यह अनुमान सर्वथा निर्दोष है।

2. यामुनाचार्य का कहना है कि 'पाञ्चरात्र-आगमों को मानने वाले भागवतों को ब्राह्मण तो दूर तो त्रैवर्णिक भी नहीं है,' यह कथन सत्य से दूर है। सत्य तो यह है कि भगवच्छास्त्र को मानने वाले भागवत उत्कृष्ट ब्राह्मण हैं। मीमांसकों के इस कथन कि 'शिखा, यज्ञोपवीत धारण करने मात्र से किसी के ब्राह्मण होने का निश्चय नहीं किया जा सकता क्योंकि दुष्ट शूद्र आदि इन चिह्नों को धारण कर लेने से ब्राह्मण नहीं हो जाते', के उत्तर में यामुनाचार्य का कहना है कि इस प्रकार ब्राह्मणत्व का सन्देह केवल भागवतों के प्रति नहीं भागवतेतर विप्रों के प्रति भी हो सकता है।[3]

---

1. तत्रैव, पृ. 59
2. तत्रैव।
3. 'तद्भागवतेतरविप्राणामपि समानम्', (तत्रैव, 141)

विशद विवेचनपूर्वक यह निर्णय प्राप्त होता है कि भागवतों तथा दूसरों के ब्राह्मण्य में कोई अन्तर नही है। यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना कि वे भागवत परमपुरुष का ही आश्रय ग्रहण करने वाले एकान्ती हैं और अन्य क्षुद्रदैवतक हैं। यामुनाचार्य के शब्दों में–

'इति न भागवतानामन्येषां च ब्राह्मण्ये कश्चिद्विशेषः। यदि परम्, ते परमपुरुष-मेवाश्रिता एकान्तिनः, अन्ये क्षुद्रदैवतकाः साधारणा इति।'[1]

भागवतों के लिए प्रचलित सात्त्वत सञ्ज्ञा को आधार बनाकर कहा गया था कि मनु ने सात्त्वत को वैश्य व्रात्य कहा है[2] अतः भागवत वैश्य व्रात्य होते हैं। इस सम्बन्ध में यामुनाचार्य कहते हैं कि सर्वत्र भागवत और सात्त्वत वैश्य व्रात्य ही नहीं होता क्योंकि इसी संज्ञा से त्रैवर्णिकों का अभिधान भी हो सकता है।[3] यदि मनु के वचनों को दृढतापूर्वक प्रमाण मानकर सात्त्वत शब्द का अर्थ नीच जाति वैश्यव्रात्य ही मीमांसकों को स्वीकार्य है और भगवच्छास्त्र पाञ्चरात्र के अनुमागी ब्राह्मणों को वैश्यव्रात्य घोषित करना ही उन्हें अभिप्रेत है तो साङ्ग-सरहस्य वेद का उपदेश करने वाले आचार्य (ब्राह्मण) को भी व्रात्य मानना पड़ेगा क्योंकि मनु के अनुसार आचार्य का अर्थ भी व्रात्य होता है। यामुनाचार्य के शब्द द्रष्टव्य हैं–

'यदि पुनरनयोः जात्यन्तरेऽपि प्रयोगो दृष्ट इत्येतावता तच्छब्दाभिधेयतया भगवच्छास्त्रानुगामिनामपि विप्राणां तज्जातीयत्वनिश्चयः, ततः तत्रैव सहपठिताऽऽचार्यशब्दस्यापि निकृष्टव्रात्यापत्ये प्रयोगदर्शनात् साङ्गरहस्यवेददातुः द्विजवरस्यापि व्रात्यत्वं स्यात्।'[4]

इस प्रकार यामुनाचार्य ने अनेक प्रकार की युक्तियों के द्वारा भागवत सात्त्वत शब्दों के निकृष्ट जाति रूपी अर्थ का निराकरण करते हुए श्रेष्ठ द्विज रूपी अर्थ को स्वीकार किया है। उन्हीं के शब्दों में–

ततश्च सत्त्वान् भगवान् भज्यते यैः परः पुमान्।
ते 'सात्त्वता' 'भागवता' इत्युच्यन्ते द्विजोत्तमाः।।[5]

1. तत्रैव, 142
2. 'वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
भारुषश्च निजंघश्च मैत्रस्सात्त्वत एव च।।' (मनुस्मृति, 10.23)
3. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 148
4. तत्रैव।
5. तत्रैव, 153

इसी प्रकार वृत्त्यर्थ पूजन और नैवेद्य-प्राशन आदि के कारण भागवतों को अब्राह्मण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी भागवत वृत्ति के लिए देवपूजन नहीं करते। यद्यपि कुछ भागवत विषम आर्थिक कारणों से वृत्त्यर्थ पूजन का कार्य कर सकते हैं किन्तु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वह ब्राह्मण नहीं है। द्रव्य के लोभ से इस प्रकार के कर्म का निषेध किया गया है।[1]

यह जो वृत्त्यर्थ देवपूजन के कारण अथवा देवकोशोपजीवी होने के कारण भागवतों के लिए देवलक होने की शङ्का की गयी है, इस विषय में यामुनाचार्य कहते हैं कि स्मृतियों का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि पाञ्चरात्रागमों में प्रतिपादित दीक्षा से रहित ब्राह्मण ही देवलक हो सकते हैं। उन्हीं के शब्दों में-

'...............इत्यादिस्मृतिशतपर्यालोचनया पञ्चरात्रसिद्धदीक्षासंस्कारविरहितानां ब्राह्मणानां देवकोशोपजीवनवृत्त्यर्थपूजनादिकमब्राह्मणत्वदेवलकत्वावहमिति निश्चीयते।'[2]

3. पाञ्चरात्र-आगमों में विहित संस्कारों के आधार पर इन आगमों को अवैदिक कहा गया है क्योंकि ये संस्कार सर्वथा असामान्य हैं। यामुनाचार्य का इस आक्षेप के उत्तर में कहना है कि भागवत लोग शुक्ल यजुर्वेद की एकायनशाखा के मानने वाले होते हैं तथा कात्यायन आदि के गृह्यसूत्र के अनुसार संस्कारों का अनुष्ठान करते हैं। किसी अन्य वेदशाखा के अनुसार संस्कार न करने से वे अब्राह्मण नहीं हो जाते। यामुनाचार्य के अनुसार-

'यदप्युक्तम्-गर्भाधानादिदाहान्तसंस्कारान्तरसेवनात् भागवतानामब्राह्मण्यमिति, तत्राप्यज्ञानमेवापराध्यति, न पुनरायुष्ममतो दोषः, यदेते वंशपरम्परया वाजसनेयशाखामधीयानाः कात्यायनादिगृह्योक्तमार्गेण गर्भाधानादिसंस्कारान् कुर्वते।'[3]

पाञ्चरात्र-आगमों में विहित विलक्षण दीक्षा के आधार पर भी इन आगमों को अवैदिक कहा गया है क्योंकि उपनयन आदि वैदिक संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति के लिए भगवदाराधना में अधिकार हेतु इस दीक्षा-संस्कार को आवश्यक माना गया है। यामुनाचार्य के अनुसार विशेष प्रकार के कर्मों के लिए विशेष प्रकार के संस्कारों की

---

1. तत्रैव, 155
2. तत्रैव, पृ. 157-158
3. 'यत्पुनरुक्तम्-उपनयनादिसंस्कृतानांभगवदाराधनार्थतया दीक्षालक्षण- संस्कार-विधानाद-वैदिकत्वमिति, तदयुक्तम्। नहि उपनयनादिसंस्कृतानां ज्योतिष्टोमादिकर्माङ्गतया दीक्षासंस्कार-विधायकं 'आग्नावैष्णवम्' इत्यादिवाक्यमवैदिकं भवति।' (तत्रैव, पृ. 169)

आवश्यकयता वैदिकों के लिए कोई नयी बात नहीं है। ज्योतिष्टोम याग के लिए उपनयन आदि से संस्कृत व्यक्ति के लिए 'आग्नावैष्णवम्' वाक्य से विशेष दीक्षा का विधान किया गया है। किन्तु यह वाक्य अवैदिक तो नहीं है।[1]

4. पाञ्चरात्र-आगमों को अवैदिक सिद्ध करते हुए एक हेतु यह भी दिया गया कि इन आगमों का चतुर्दश विद्यास्थानों में परिगणन नहीं किया गया है। यामुनाचार्य इस तर्क के उत्तर में कहते हैं कि यदि चतुर्दश विद्यास्थानों में परिगणित होना ही वैदिकता का निकष है तब तो कृष्ण द्वैपायन व्यास और वाल्मीकि द्वारा प्रणीत महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थ भी अवैदिक हो जायेंगे। इन ग्रन्थों में अवैदिकता का आक्षेप किसी ने भी नहीं लगाया है। यामुनाचार्य के शब्दों में-

'यदपि धर्मप्रमाणतयाभिमतचतुर्दशविद्यास्थानेषु अपरिगणतत्वात् पाशुपतादि-तन्त्रवत् त्रयीबाह्यत्वमिति, तदपि द्वैपायनवाल्मीकिप्रणीतभारतरामायणादिग्रन्थैः अनेकान्तिकम्।[2]

5. मीमांसकों के इस कथन की 'पाञ्चरात्र किसी वासुदेव नामक वञ्चक पुरुष की कृति है,' के उत्तर में यामुनाचार्य कहते हैं कि यदि यह तर्क है कि अन्य पौरुषेय रचनाओं के समान पाञ्चरात्र आगम भी पौरुषेय है अतः अन्य पौरुषेय रचनाओं के समान पाञ्चरात्र आगमों में भी दोषों की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, तो प्रतिप्रश्न यह उपस्थित होता है कि अन्य लौकिक वाक्यों के समान ही वैदिक वाक्य भी है। दोनों ही वाक्य हैं। अतः लौकिक वाक्यों के समान ही वैदिक वाक्यों में भी दोष की सम्भावना होगी। वैदिक वाक्यों में दोष की सम्भावना का निराकरण कैसे होगा? वाक्यों की अपौरुषेयता ही दोष सम्भावनाओं का निराकरण करती है। यामुनानचार्य कहते हैं कि इसी प्रकार पाञ्चरात्र-आगम सर्वज्ञ, अवाप्तसकलकाम परम-पुरुष की रचना होने के कारण दोष-सम्भावना से रहित है, जबकि अन्य रचनाएँ पाञ्चरात्र के समान ही पौरुषेय होने पर भी अल्पज्ञ पुरुषों की रचनाएँ हैं।[3]

---

1. तत्रैव, पृ. 105
2. तत्रैव, पृ. 106
3. 'ननु कथं पौरुषेयत्वसामान्यादापतन्ती दोषसम्भावना अपनीयते पञ्चरात्रतन्त्राणाम्? कथं वाक्यत्वसामान्यदापतन्ती वेदेषु सा वार्यते? अपौरुषेयत्वादिति चेत्, तदिहापि सर्वज्ञावाप्तकामपरमपुरुषप्रणीततयेत्यवगम्य शाम्यतु भवान्।...........
वदन्ति खलु वेदान्ताः सर्वज्ञं जगतः पतिम्।
महाकारुणिकं तस्मिन् विप्रलम्भादयः कथम्।। (तत्रैव, पृ. 5. 66)

न्यायमत और यामुनाचार्य

पाञ्चरात्र-आगमों के सन्दर्भ में नैयायिक, विशेष रूप से जयन्त भट्ट किसी भी दृष्टि से यामुनाचार्य के प्रतिपक्षी नहीं हैं क्योंकि दोनों ही इन आगमों को सर्वज्ञ ईश्वर की रचना मानते हैं और सर्वथा प्रामाणिक मानते हैं। पूर्वपक्ष के रूप में न्यायमत का उल्लेख केवल इसलिए किया गया है कि कहीं ऐसा न करने से वेदों के विषय में भी नैयायिकों को यामुनाचार्य की सहमति का भ्रम न हो जाए। न्यायमत के विवेचन के अवसर पर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उनके अनुसार वेद और आगम दोनों पौरुषेय हैं, ईश्वरकृत हैं। मीमांसकों के अनुसार वेद अपौरुषेय तथा आगम पौरुषेय हैं। पाञ्चरात्र-परम्परा के अनुसार भी वेद अपौरुषेय और पाञ्चरात्र-आगम पौरुषेय। यह बात निम्नचित्र से अधिक स्पष्ट होगी-

	वेद	पाञ्चरात्र
न्यायमत	पौरुषेय	पौरुषयेय (सर्वज्ञ ईश्वरकृत)
मीमांसामत	अपौरुषेय	पौरुषेय (वञ्चक पुरुष-कृत)
पाञ्चरात्रमत	अपौरुषेय	पौरुषेय (सर्वज्ञ ईश्वरकृत)

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों के सम्बन्ध में पाञ्चरात्र का मीमांसा के साथ ऐकमत्य है,[1] और न्याय-मत उनका प्रतिपक्षी है। जहाँ तक पाञ्चरात्र का प्रश्न है तीनों में ऐकमत्य है। तीनों पाञ्चरात्र में आगमों को पौरुषेय मानते हुए भी भिन्न मतों को मानते हैं। न्याय और पाञ्चरात्र-परम्परा में पूर्ण ऐकमत्य है। दोनों पाञ्चरात्र-आगमों को

---

1. द्रष्टव्य है रामानुज तथा वेदान्तदेशिक के अनुसार पाञ्चरात्र मत-
'एतदेव वेदानामपौरुषेयत्वं नित्यत्वञ्च यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यमाणत्वम्।' (वेदार्थसंग्रह, पृ. 42)
'तथापि सर्गप्रलयसम्भवात्सम्प्रदायविच्छेदे सर्ववेदोच्छेदात् पश्चादीश्वरस्तत्स्रष्टा स्यात्। न स्यात्, तथापि प्राचीनवेदसाक्षात्कारिणस्तस्य तत्प्रवर्तनमात्रौचित्यात् शक्यस्यापि तज्जातीयवेदान्तरकल्पने गौरवात्।' (तत्रैव, 159)
तथा मीमांसा-मत-हेतु द्रष्टव्य है-
वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्यनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा।।
इत्यादिना वेदापौरुषेयस्य साधितत्वात्। 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' इति न्यायेन संसारस्यानादित्वादीश्वरस्य च सर्वज्ञत्वादीश्वरो गतकल्पीयं वेदमस्मिन् कल्पे स्मृत्वा उपादिशत्।
(मीमांसान्यायप्रकाश, पृ. 7. 8)

ईश्वरकृत मानते हैं और प्रामाणिक मानते हैं जब कि मीमांसक उन्हें वञ्चकपुरुष की कृति मानते हुए अप्रामाणिक मानते हैं। इन तीनों परम्पराओं में किसी का किसी के साथ ऐकमत्य नहीं है। इसी कारण न्यायमत को यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पाञ्चरात्र-प्रामाण्य के सम्बन्ध में न्याय और पाञ्चरात्र परम्परा में पूर्णतः ऐकमत्य है।

शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत आक्षेपों का निराकरण

शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण की व्याख्या करते हुए वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पाञ्चरात्र आगमों को वेदविरोधी सिद्ध किया है। उनके द्वारा उपस्थापित युक्तियों का समीचीन उत्तर यामुनाचार्य ने आगमप्रामाण्य में और उन्हीं को आधार बनाकर रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में दिया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि शङ्कराचार्य के अनुसार उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण के चारों सूत्रों में पाञ्चरात्र-सिद्धान्त का खण्डन किया गया है जब कि यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य के मत में इस अधिकरण के प्रथम दो सूत्र पूर्व-पक्ष को प्रस्तुत करते हैं तथा अन्य दो सूत्र सिद्धान्त-पक्ष को। इन आचार्यों के अनुसार शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के उत्तर इस प्रकार हैं–

1. शङ्कराचार्य पाञ्चरात्र-आगमों में प्रतिपादित चातुर्व्यूह सिद्धान्त को आंशिक रूप से प्रमाण मानते हुए उस अंश को अप्रमाण मानते हैं जिसमें वासुदेव-सञ्ज्ञक परमात्मा से सङ्कर्षण-सञ्ज्ञक जीव की उत्पत्ति का प्रतिपादन है।[1] इस आक्षेप का उत्तर देते हुए रामानुजाचार्य कहते हैं कि भागवत प्रक्रिया को समीचीनतया न जानने वाले ही यह कहते हैं कि पाञ्चरात्र-आगमों में वेद-विरोधी जीव की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है। भागवत-प्रक्रिया यह है कि वासुदेव नामक परं ब्रह्म ही स्वाश्रित लोगों के समाश्रयण हेतु चार रूपों में अवस्थित होता है। इन चारों ही रूपों में की जाने वाली उपासना वासुदेव नामक परं ब्रह्म की ही उपासना है। वही सूक्ष्म व्यूह और विभव रूपों में विभक्त होने वाला वासुदेव-सञ्ज्ञक परं ब्रह्म अधिकार के अनुसार भक्तों के द्वारा ज्ञानपूर्वक कर्म से अभ्यर्चित होता हुआ प्राप्त किया जाता है। विभव-रूपों की अर्चना से व्यूह-रूप की प्राप्ति होती है। और व्यूह-रूप की अर्चना से वासुदेव नामक सूक्ष्म रूप पर ब्रह्म ही प्राप्ति होती है। इस प्रकार सङ्कर्षण आदि भी

---

1. 'न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति।'
(ब्र.सू.शां.भा., 2.2.43)

परं ब्रह्म के स्वेच्छाविग्रह रूप हैं। 'अजायमानो बहुधा विजायते' इस प्रकार के श्रुति-वाक्यों से सिद्ध संकर्षण आदि के परं ब्रह्म के स्वेच्छा-विग्रह-रूप के जन्म का अभिधान करने वाले पाञ्चरात्र शास्त्र में अप्रमाण्य रूपी दोष प्राप्त नहीं हो सकता। परमात्मा के विविध-रूप में जन्म लेने की बात तो 'अजायमानो बहुधा विजायते' इत्यादि श्रुतिवचनों से ही सिद्ध हो जाती है।[1]

अब प्रश्न उठता है कि यदि सङ्कर्षण आदि पर-ब्रह्म वासुदेव के ही रूप हैं तो उन्हें जीव आदि शब्दों से क्यों अभिहित किया गया है। इसका उत्तर देते हुए रामानुज कहते हैं कि सङ्कर्षण जीव के अधिष्ठाता या अन्तर्यामी हैं, प्रद्युम्न मन के अधिष्ठाता होते हैं और अहङ्कार तत्त्व के अधिष्ठाता अनिरुद्ध होते हैं। इसी कारण सङ्कर्षण आदि को जीव आदि कहा गया है। यह उसी प्रकार है जैसे उपनिषदों में आकाश और प्राण आदि शब्दों के द्वारा ब्रह्म का अभिधान किया गया है।[2]

इसके अतिरिक्त स्वयं पाञ्चरात्र-आगमों मे जीवोत्पत्ति का प्रतिषेध किया गया है। इस बात को प्रमाणित करने के उद्देश्य से रामानुज पाञ्चरात्र-आगमों की परमसंहिता की निम्नलिखित पंक्तियाँ उदाहृत करते हैं-

अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया।
त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते।।
व्याप्तिरूपेण सम्बन्धः तस्याश्च पुरुषस्य च।
स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन तिष्ठिति।।[3]

यहाँ स्पष्ट रूप से जीव को अनादि और अनन्त कहा गया है। इस प्रकार पाञ्चरात्र-तन्त्रों में जीव की उत्पत्ति का प्रतिषेध ही किया गया है। वेद और पाञ्चरात्रतन्त्रों में इस विषय को लेकर किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।[4]

2. शङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र-आगमों को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के उद्देश्य से पाञ्चरात्र-आगमों से वेदनिन्दा सूचक एक वचन उदाहृत किया जिसका अर्थ है कि चारों वेदों में पुरुषार्थ को न प्राप्त कर सकने के कारण महर्षि शाण्डिल्य ने इस शास्त्र

---

1. श्रीभाष्यम्, 2.241
2. 'तत्र जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम्, यथा आकाशप्राणादिशब्दैर्ब्रह्मणोऽभिधानम्।' (तत्रैव)
3. परमसंहिता, 2.18-19
4. श्रीभाष्यम्, 2.2.42

का अध्ययन किया। क्योंकि यह वाक्य वेदनिन्दापरक है अतः पाञ्चरात्र-आगम वेद-विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक है। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए रामानुजाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के आक्षेप वे ही प्रस्तुत कर सकते हैं जिन्होंने वेदवचनों का और उपबृंहण के न्याय-कलाप का मर्म नहीं समझा है। उन्हीं के शब्दों में-

'यश्चैष केषाञ्चिदुद्घोषः 'साङ्गेषु वेदेषु निष्ठामलभमानः शाण्डिल्यः पाञ्चरात्रशास्त्रमधीतवान्' इति साङ्गेषु वेदेषु पुरुषार्थनिष्ठा न लब्धेति वचनात् वेदविरुद्धमेवेदं तन्त्रम् इति-सोऽप्यनाघ्रातवेदवचसाम्-अनाकलिततदुपबृंहणन्याय-कलापानां श्रद्धामात्रविजृम्भितः।'[1]

वस्तुतः यह वचन वेदनिन्दापरक नहीं है। इसका यथार्थ उद्देश्य तो पाञ्चरात्र की प्रशस्ति है, जैसा कि यामुनाचार्य ने कहा है-

'अनवगतवचनव्यक्तेरयं पर्यनुयोगः।' न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु निन्दितादितरत् प्रशंसितुम्, यथैतरेयकब्राह्मणे 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति' इत्यनुदितहोमनिन्दा उदितहोमप्रशंसार्थेति गम्यते।[2]

रामानुजाचार्य कहते हैं कि जैसे छान्दोग्योपनिषद् के भूमविद्याप्रकरण में नारद ने सनत्कुमार से कहा-'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि'- मैंने सभी वेदों और वेदाङ्गों का अध्ययन किया, फिर भी हे भगवन्! मैं मन्त्रज्ञ ही हो सका हूँ, आत्मज्ञ नहीं। यह वाक्य वेद, वेदाङ्गों की निन्दा-परक नहीं है। इस वाक्य का उद्देश्य भूमविद्या की प्रशंसा-मात्र है। इसी प्रकार उपर्युक्त विचारणीय वाक्य पाञ्चरात्र-प्रशंसार्थक है, वेदनिन्दार्थक नहीं। इस कारण वेदविरोधी होने के कारण पाञ्चरात्र के अप्रामाण्य का दोष प्राप्त नहीं होता।[3]

भट्टोजिदीक्षित के अभिमत के विषय में

भट्टोजिदीक्षित के मत का विवरण पहले दिया जा चुका है। उनके अनुसार पाञ्चरात्र-आगम वैदिकों के लिए अप्रामाणिक और पतित आदि के लिए प्रामाणिक है। यह एक नया ढंग है यह कहने का कि पाञ्चरात्र-आगम सर्वथा अप्रामाणिक है। इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए भट्टोजिदीक्षित ने जिन युक्तियों का सहारा लिया है, प्रायः इन सभी युक्तियों का यामुनाचार्य उनसे बहुत पूर्व ही विचार करके निराकरण

1. तत्रैव।
2. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 103
3. श्रीभाष्यम्, 2.2.42

कर चुके थे। यदि भट्टोजिदीक्षित ने यामुनाचार्य-विरचित आगमप्रामाण्यम् का सम्यग् अनुशीलन किया होता तो सम्भवतः वह तन्त्राधिकारिनिर्णय जैसे ग्रन्थ की रचना ही न करते और यदि करते तो सम्भवतः निष्कर्ष कुछ और ही होता।

अतः पाञ्चरात्र-आगम वैदिक हैं और वेदानुकूल अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण सर्वथा प्रामाणिक हैं।

पाञ्चरात्र-आगमों का वेदोपबृंहणत्व

पर्याप्त अनुशीलन और परिशीलन के परिणामस्वरूप अब यह निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुका है कि पाञ्चरात्र-आगम सर्वथा वेदाविरुद्ध और वेद-सम्मत होने के कारण पूर्णतया प्रामाणिक हैं। पाञ्चरात्र-आगम-परम्परा इसी अर्थ का विशदतया प्रतिपादन, पल्लवन, व्याख्यान और विस्तार करती हुई दृष्टिगत होती है। अतः दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पाञ्चरात्र-आगमों के द्वारा भी वेदार्थ का उपबृंहण किया गया है। पाञ्चरात्र-आगमों के प्रामाण्याप्रामाण्य-विवेचन की परम्परा तो अत्यन्त प्राचीन है। शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य से इस परम्परा का आरम्भ माना जाता है। पाञ्चरात्र-आगमों की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के उद्देश्य से जो तर्क शङ्कराचार्य ने प्रस्तुत किये हैं, प्रायः यह विवेचन-परम्परा उन्हीं तर्कों के पक्ष और प्रतिपक्ष के खण्डन-मण्डन के आसपास केन्द्रित रही है। किन्तु पाञ्चरात्र-आगम और वेदों के सम्बन्ध के स्वरूप को प्रकाशित करने के उद्देश्य से सम्भवतः कोई सार्थक और गम्भीर प्रयास नहीं किया गया। इस कारण वेदों के उपबृंहण के रूप में पाञ्चरात्र-आगमों का अध्ययन आवश्यक और प्रासङ्गिक हो जाता है और इसके भी पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि यह निश्चित कर लिया जाय कि उपबृंहण शब्द से क्या अर्थ समझा जाता है और यह भी किस प्रकार के शास्त्र के द्वारा वेदों के उपबृंहण का विधान किया गया है।

उपबृंहण शब्द का अर्थ

'उप' उपसर्ग-पूर्वक 'बृहि वृद्धौ' (भ्वा.) धातु से करणे ल्युट् प्रत्यय के योग से उपबृंहण शब्द निष्पन्न होता है; (उप+बृह्+ल्युट्=उपबृंहण)। इसका अर्थ है व्यक्त करना, विशद करना या स्पष्ट करना। इस उपबृंहण शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता है। उस विशिष्ट अर्थ के अनुरोध से इस शब्द का अर्थ होगा-'उपबृंह्यते वेदार्थो येन।' अर्थात् जिसके द्वारा वेदार्थ का उपबृंहण किया जाये, उसे व्यक्त, विशद या स्पष्ट किया जाये उसे उपबृंहण कहते हैं। शास्त्रकारों और आचार्यों ने इसी अर्थ में

उपबृंहण शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य रामानुज ने दो स्थानों पर इस शब्द के दो लक्षण प्रस्तुत किए हैं। यथा–

1.'उपबृंहणं-नाम-विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोग- महिम-साक्षात्कृत-वेदतत्त्वार्थानां वाक्यैः स्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम्।'[1]

अर्थात् जिन्होंने सभी वेदों का अध्ययन कर उनके अर्थों को जान लिया है तथा जिन्होंने अपने योग की महिमा से वेदों के तत्त्वार्थों का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे महर्षियों के वाक्यों के द्वारा अपने द्वारा ज्ञात अर्थ का विशदीकरण ही उपबृंहण है।

श्रीभाष्य में ही अन्यत्र आचार्य रामानुज सूत्ररूप में इसी लक्षण को इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं–

2. 'उपबृंहणं नाम श्रुतिप्रतिपन्नार्थविशदीकरणम्।'[2]

अर्थात् श्रुतियों से ज्ञात अर्थ का विशदीकरण ही उपबृंहण है।

इन लक्षणों का अभिप्राय यही है कि वेदशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ऋग्, यजुस्, साम और अथर्व ये चार वेद हैं तथा इनकी सहस्राधिक शाखाएँ हैं। इस सम्पूर्ण वेद-साहित्य का अध्ययन करना तथा उसके अर्थ का सम्यक् निश्चय कर लेना मानव-बुद्धि की शक्ति के क्षेत्र से नितान्त परे है। वेदों के स्वल्प भाग के श्रवण मात्र से समग्र वेद-शास्त्र के मर्म को जान लेना सम्भव भी नहीं है। अध्ययन और श्रवण के द्वारा वेद-शास्त्र का मर्म-ज्ञान मानव के लिए इष्ट भी है और वाञ्छनीय भी। इसी स्थिति में उपबृंहण-शास्त्र सार्थक, आवश्यक और प्रासङ्गिक हो जाता है। ऋषियों, महर्षियों के द्वारा परिकल्पिक इस उपबृंहणशास्त्र के द्वारा ही अधीत अथवा अनधीत समग्र वेदशास्त्र का तत्त्वार्थ जिज्ञासु के लिए सुलभ हो जाता है। आचार्य रामानुज के शब्दों में–

'सकलशाखावगतस्य वाक्यार्थस्याल्पभागश्रवणाद् दुरवगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगाद् उपबृंहणं हि कार्यमेव।'[3]

श्रीभाष्य की श्रुतप्रकाशिका-टीका के रचयिता सुदर्शनाचार्य का इस विषय में मन्तव्य है कि वेद की अनेक शाखाओं में कोई ही शाखा अधीत होती है, शेष सभी शाखाएँ अनधीत होती हैं। अधीत शाखा का अर्थ ही मनुष्य को ज्ञात होता है।

---

1. श्रीभाष्य, प्रथम सम्पुट 1.1.1, पृ. 148 (मेलकोटे-संस्करण)
2. श्रीभाष्य, तृतीय सम्पुट, 2.1.1, पृ. 7
3. तत्रैव, प्रथम सम्पुट, 1.1.1 पृ. 148 (मेलकोटे संस्करण)

अनधीत शाखा के अर्थ के ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी शाखाओं के अर्थ-ज्ञान के विना वेद के अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता। अतएव महर्षियों ने उपबृंहण-शास्त्र की सृष्टि की, जिससे कि अधीत और अनधीत दोनों प्रकार के वेदों का अर्थ सुलभ हो जाए। उपबृंहण-शास्त्र की यही सार्थकता है। सुदर्शनाचार्य के शब्द इस प्रकार हैं-

'उपबृंहणं नाम अनधीतशाखान्तरार्थैः सह अधीतशाखार्थ-निष्कर्षः।'[1]

इस प्रकार उपरि-विवेचित सभी अर्थों को अपने में समाहित कर लेने के कारण आचार्य रामानुज के द्वारा किया गया उपबृंहण का लक्षण चतुरस्रभद्र है।

उपबृंहणविधि

अब तक किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि वेदार्थ के यथार्थ ज्ञान के लिए उपबृंहण वाञ्छनीय ही नहीं आवश्यक भी है। किन्तु प्रश्न यह है कि जिस प्रकार वेदसञ्ज्ञक शब्दराशि के अध्ययन के लिए 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन-विधि प्रसिद्ध है, इसी प्रकार उपर्युक्त उपबृंहण के लिए भी कोई उपबृंहण-विधि उपलब्ध होती है या नहीं। उपबृंहण-विधि का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उसके न होने पर उपबृंहण के कर्तव्यत्व अथवा अकर्तव्यत्व के विषय में संशय की स्थिति बनी ही रहेगी। उपबृंहण-विधि की यह आकांक्षा महाभारत के इन शब्दों से पूर्णतया शान्त हो जाती है-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।[2]

वायुपुराण के प्रथम अध्याय में यह वचन पूर्णतया इसी रूप में प्राप्त होता है।[3] इस श्लोक का पूर्वार्द्ध ही उपबृंहण-विधि के रूप में स्वीकार किया गया है।[4] सुदर्शनाचार्य स्पष्ट करते हैं कि 'अल्पाच्तरम्' इस पाणिनि-सूत्र के निर्देशानुसार

1. श्रीभाष्य, श्रुतप्रकाशिका, पृ. 733 (परकालमठ, मैसूर)
2. महाभारत, आदि., 1.267-268
3. वायु., 1.201
4. द्रष्टव्य-श्रीभाष्य, श्रुतप्रकाशिका-'श्रुतवेदान्तस्येतिहासपुराणश्रवणविधिं दर्शयति इतिहासेति... ...... एवमुपबृंहणविध्यभिज्ञशिष्टजनवादप्रसिद्ध्या तदभिज्ञगुरुवचनेन वा तेनोपबृंहणाधिगमप्रवृत्त-पुरुषान्तरदर्शनाद्वा उपबृंहणज्ञानस्य सम्पाद्यताज्ञानाच्छिष्यस्य प्रश्न उपपद्यते, अत उपबृंहणविधिरुपपन्नः तत्र स्वगुरोः पराशरस्य सार्वज्ञ्यप्रसिद्धेः।।' पृ. 733-735 (परकालमठ मैसूर)
5. अष्टाध्यायी, 2.2.34

'इतिहासपुराणाभ्याम्' इति द्वन्द्वान्त पद में अल्पाच् होने के कारण पुराण शब्द का पूर्व निपात होना चाहिए किन्तु 'अभ्यर्हितञ्च'[1] इस नियम की अपेक्षा से अभ्यर्हित अर्थात् पूज्य होने के कारण इतिहास शब्द का पूर्व निपात हुआ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुराण की अपेक्षा इतिहास अभ्यर्हित है। स्वयम् उपबृंहण-भूत इतिहास-ग्रन्थ रामायण में इस उपबृंहण-विधि की ओर सङ्केत किया गया है-

तौ तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत् प्रभुः।।[2]

'विभेत्यल्पश्रुताद्' यह उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध में विहित उपबृंहण की कार्यता का उपपादक है।[3] इस उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि वेद अल्पश्रुत व्यक्ति से डरता है कि वह उसे प्रतारित करेगा। आशय यह है कि वेद मनुष्य की सीमित शक्ति से पूर्णतया परिचित है। वेद यह अच्छी तरह से जानता है कि व्यक्ति अल्पश्रुत ही हो सकता है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह विधि-वचन स्वशाखागत शब्दराशि के अध्ययन का ही विधान करता है। सम्पूर्ण वेद का अध्ययन तो मानव-मात्र की शक्ति से बाहर है। अतः मनुष्य को तो अल्पश्रुत ही होना है। दूसरी कोई गति है ही नहीं। ऐसी स्थिति में वेद को भय इस बात का है कि उस अल्पश्रवण के आधार पर ही व्यक्ति अश्रुत और अनधीत वेद-भाग के अर्थ के विषय में निर्णय देने लगेगा। इस प्रकार वेद अपनी प्रतारणा के भय से आतङ्कित है। प्रतारणा का अर्थ है-अभिप्रेत अर्थ से विपरीत अर्थ का वर्णन करना। श्रुतप्रकाशिकाकार का कहना है कि उपबृंहण का दृष्ट फल होता है, अदृष्ट नहीं। वह दृष्ट फल है-अभिप्रेत अर्थ से विपरीत अर्थ के वर्णन की निवृत्ति-

'वेदस्य प्रतारणं नाम तदभिप्रेतविपरीतार्थवर्णनमेव। अतस्तन्निवृत्तिरूपं दृष्टफलं वाचनिकम्। तस्मिन् सत्यदृष्टकल्पनमयुक्तम्।'[4]

प्रायः समग्र भारतीय आस्तिक-परम्परा में सर्वमान्य होने के कारण इस उपबृंहण कार्य को अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है, किन्तु आचार्य रामानुज की श्रीवैष्णव धर्म और दर्शन की परम्परा में विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाने के कारण उसे सैद्धान्तिक मान्यता भी प्राप्त हो गयी है।

---

1. तत्रैव, वार्तिक, 1.4.12
2. रामायण, बाल., 4.6
3. पूर्वार्द्धविहितोपबृंहणकार्यतोपपदाकमुपबृंहणम्। (श्रीभाष्य, श्रुतप्रकाशिका, पृ. 733)
4. श्रीभाष्य, श्रुतप्रकाशिका, पृ. 734

वेदोपबृंहण-साहित्य

वेद के अभिप्रेत अर्थ के विरुद्ध अर्थ के वर्णन की निवृत्ति रूपी दृष्ट फल का साधन है वेदोपबृंहण। अतः वेदोपबृंहण इष्ट होने के कारण साध्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि वेदोपबृंहण जब साध्य है तो उसका साधन क्या होगा। इसका उत्तर महाभारत तथा वायुपुराण के पूर्वोदाहृत 'इतिहासपुराणाभ्याम्'[1] इस वचन में ही स्पष्ट रूप से उपलब्ध हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इतिहास और पुराण-ये दो निस्सन्दिग्ध रूप से वेदोपबृंहण के साधन हैं। किन्तु जब कालिदास जैसे भारतीय परम्पराओं के विशेषज्ञ कवि 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'[2] इस प्रकार की सूक्तियों का प्रयोग करते हैं तो सहज प्रश्न उठता-है कि विज्ञ कवि यहाँ किस सर्वमान्य सिद्धान्त की ओर सङ्केत कर रहा है। स्पष्ट रूप से कवि ने दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार स्मृति श्रुति के अर्थ का अनुगमन करती है......'। दृष्टान्त सदा सर्वमान्य और निस्सन्दिग्ध होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि कालिदास के अनुसार स्मृति श्रुति के अर्थ का अनुगमन करती है अर्थात् श्रुति के अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करती है, अर्थात् श्रुत्यर्थ का उपबृंहण करती है। मनु के अनुसार स्मृति का अर्थ है धर्मशास्त्र या धर्मसंहिता।[3] दूसरी ओर स्मृति के क्षेत्र के अन्तर्गत ही धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण इन तीनों शास्त्रों को समाविष्ट करने की परम्परा भी है।[4] किन्तु 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस प्रमाण के बल से तो यही प्रतीत होता है कि महाभारत और वायुपुराण की दृष्टि में वेदोपबृंहण इतिहास-पुराण के द्वारा करना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इतिहास-पुराणेतर शास्त्र के द्वारा उपबृंहण-कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता? वस्तुतः भारतीय आस्तिक परम्पराओं के वेत्ता आचार्यों का अभिमत है कि उपबृंहण-कार्य इतिहास-पुराण के द्वारा भी हो सकता है और इतिहास-पुराणेतर शास्त्र के द्वारा भी हो सकता है। इस सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने पर्याप्त चिन्तन मनन किया है। इस विषय से सम्बद्ध प्रमुख पक्ष यहाँ विचारार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

---

1. 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
   विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरिष्यति।।' (महा.आ., 1.267-268, वायु., 1.20)
2. रघुवंश, 2.2
3. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनु., 2.10
4. वेदमूलाः स्मृतयस्त्रिविधाः धर्मशास्त्रेतिहासपुराणभेदात्। (न्यायपरिशुद्धि शब्द, 2 आह्निक)

1. शङ्कराचार्य के अनुसार ब्रह्म की सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए हेतु प्रदर्शनार्थ ही बादरायण के 'शास्त्रयोनित्वात्'[1] सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इसी सूत्र के भाष्य में प्रयुक्त शङ्कराचार्य के ये शब्द विचारणीय हैं–

'महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्याऽनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य .... योनिः कारणं ब्रह्म।'[2]

शङ्कराचार्य ने ऋग्वेद आदि शास्त्र के अनेक विद्यास्थानों से उपबृंहण की बात कही है। विद्यास्थानों से वेदोपबृंहण की बात शङ्कराचार्य की मौलिक कल्पना नहीं है। वस्तुतः वह वैदिक–परम्परा में प्रसिद्ध सिद्धान्त का अनुवाद मात्र कर रहे हैं। मीमांसकों को भी यह मत अभिप्रेत है और शङ्कराचार्य को यह सिद्धान्त मान्य है। उनके नाम से इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करना एक व्याजमात्र है। याज्ञवल्क्य ने विद्यास्थानों का परिगणन करते हुए उनकी चौदह संख्या निश्चित की हैं। यथा–

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाःस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।[3]

एतदनुसार चार वेद, छह वेदाङ्ग तथा पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र यह चौदह (4+6+4=14) विद्यास्थान होते हैं। एक अन्य परम्परा के अनुसार विद्यास्थान अट्ठारह होते हैं। उपर्युक्त चतुर्दश विद्यास्थानों में ही आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र को मिलाकर अष्टादश विद्यास्थानों की कल्पना की गयी है। विष्णुपुराण में अष्टादश विद्यास्थानों का परिगणन करते हुए कहा गया है–

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं चैव ते त्रिधा।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः।।[4]

वेदोपबृंहण की विधायक महाभारत की उक्ति में इतिहास और पुराण का ही उल्लेख किया गया है। उपरि प्रस्तुत विद्यास्थानों में पुराण की तो गणना की गयी है किन्तु इतिहास को इस सूची में स्थान प्राप्त नहीं हो सका है। इस स्थिति में विष्णुचित्तीय

1. ब्रह्मसूत्र, 1.1.3
2. तत्रैव, शां.भा.
3. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.3
4. विष्णुपुराण, 3.6, 27, 28

व्याख्या में दिया गया समाधान ही एकमात्र उपाय है। विष्णुचित्त के अनुसार चतुर्दश विद्यास्थानों की सूची में परिगणित पुराण शब्द में ही इतिहास का भी अन्तर्भाव हो जाता है। उन्हीं के शब्दों में–

'पुराणानां वेदोपबृंहकत्वेन धर्मवेदनहेतुत्वाद्धर्मविद्यास्थानेषु अन्तर्भावं दर्शयति–अङ्गानीति। इतिहासस्य पुराणेऽन्तर्भावः; इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् इति वचनात्।'[1]

उपर्युदाहृत वचनों में कहीं विद्यास्थानों की संख्या चौदह कही गयी है और कहीं अट्ठारह। स्पष्ट रूप से यहाँ विरोध दिखायी देता है। विष्णुचित्त के अनुसार इन कथनों में कहीं कोई विरोध नहीं है। जो शास्त्र विद्यास्थान और धर्मस्थान दोनों हैं उनका प्रथम चतुर्दश विद्यास्थानों की सूची में परिगणन किया गया है। आयुर्वेद आदि चार शास्त्र दृष्ट-प्रधान हैं, अदृष्ट-प्रधान नहीं। अतः ये धर्मस्थान नहीं है, केवल विद्यास्थान ही हैं। एतदनुसार विद्यास्थान अट्ठारह हैं और धर्मस्थान चौदह। विष्णुचित्त के ही शब्दों में–

'आयुर्वेदादिचतुष्कस्य दृष्टप्राधान्यात् केवलविद्यास्थानत्वात् न धर्मस्थानत्वम् इति तस्य पृथगुक्तिः।'[2]

विद्यास्थानों की इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए शङ्कराचार्य की पूर्वोदाहृत सूक्ति विचारणीय है। उनके अनुसार विद्यास्थानों के द्वारा वेद का उपबृंहण किया जाता है। उपरि प्रस्तुत विद्यास्थानों की सूची में चार वेदों को भी परिगणित किया गया है। प्रश्न होता है कि वेद विद्यास्थान होने के कारण स्वयं अपना ही उपबृंहण कैसे कर सकते हैं? यह प्रश्न शाङ्कर-भाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र के सम्मुख भी रहा होगा। इसी कारण सम्भवतः उन्होंदे दश विद्यास्थानों के द्वारा ही वेदों के उपबृंहण की बात कही है। उन्हीं के शब्दों में–

'अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य पुराणन्यायमीमांसादयो दशविद्यास्थानानि तैस्तया तया द्वारोपकृतस्य।'[3]

भामतीकार ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि 1. पुराण, 2. न्याय, 3. मीमांसा, 4. धर्मशास्त्र, 5. शिक्षा, 6. कल्प, 7. निरुक्त, 8. छन्द, 9. ज्योतिष तथा 10. व्याकरण।

---

1. तत्रैव, विष्णुचित्तीया, 27
2. विष्णुपुराण, 28
3. भामती, 1.1.3

इन दश विद्यास्थानों के द्वारा वेद का उपबृंहण होता है। शङ्कराचार्य ने अनेक विद्यास्थानों से उपबृंहण की बात कही है। विद्यास्थानों की कोई निश्चित संख्या का उल्लेख नहीं किया है तथापि भामती के उपर्युदाहृत शब्दों के आलोक में दश विद्यास्थानों से वेदोपबृंहण के विषय में शङ्कराचार्य की सम्मति को स्वीकार कर लेने में कोई अनौचित्य नहीं दिखायी देता है।

2. आचार्य रामानुज ने वेदोपबृंहण के विषय में अनेकत्र अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण उद्धरणों को यहाँ प्रस्तुत करना और उनकी मीमांसा करना अभिप्रेत है। उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन के प्रतिपादक तीन सर्वमान्य ग्रन्थ हैं–1. उपनिषद्, 2. भगवद्गीता तथा 3. ब्रह्मसूत्र। इन तीन ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। वेदान्त-दर्शन के अन्य प्रतिष्ठापक आचार्यों के समान आचार्य रामानुज ने भी इन तीनों प्रस्थान-ग्रन्थों पर भाष्यों की रचना की है। यहाँ इन तीनों भाष्य-ग्रन्थों से वेदोपबृंहण के अर्थ को स्पष्ट करने वाले एक-एक उद्धरण को क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) आचार्य रामानुज ने पृथक्-पृथक् उपनिषदों पर भाष्यों की रचना न करके सभी उपनिषदों के प्रतिपादनीय सिद्धान्तों की व्याख्या करने के उद्देश्य से 'वेदार्थसङ्ग्रह' नामक एक ही ग्रन्थ की रचना की है। प्रस्थानत्रयी के प्रथम ग्रन्थ उपनिषदों के भाष्य के रूप में प्रतिष्ठित 'वेदार्थसंग्रह' नामक इस ग्रन्थ में वेदोपबृंहण के विषय में अपने मन्तव्य को प्रकाशित करते हुए आचार्य रामानुज का कथन है–

'तत्साक्षात्कारक्षमभगवद्द्वैपायन-पराशरवाल्मीकिमनुयाज्ञवल्क्य-गौतमापस्तम्ब-प्रभृतिमुनिगण-प्रणीत-विध्यर्थवादमन्त्ररूपवेदमूलेतिहास-पुराणधर्मशास्त्रोपबृंहितपरमार्थभूतानादिनिधनाविच्छिन्नपाठ-सम्प्रदाय-ऋग्यजुस्सामाथर्वरूपानन्तशाखं वेदं चाऽभ्युपगच्छतामस्माकं किं न सेत्स्यति।'[1]

अर्थात् वेदप्रतिपाद्य औपनिषद पुरुष ईश्वर का साक्षात्कार कर सकने में समर्थ भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास, पराशर, वाल्मीकि, मनु, याज्ञवलक्य, गौतम, आपस्तम्ब मुनि-गणों द्वारा प्रणीत विधि, अर्थवाद और मन्त्र रूप वेद जिनका मूल है ऐसे इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रों से उपबृंहित परमार्थभूत अनादि और अनन्त अविच्छिन्न पाठ की परम्परा वाले ऋक्, यजुस्, साम और अथर्व रूप अनन्त शाखाओं वाले वेद को परमप्रमाण के रूप में स्वीकार करने वाले हमारे (विशिष्टाद्वैतदर्शन) मत में कौन सा अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है।

1. वेदार्थसंग्रह, पृ. 10 (रामानुजग्रन्थमाला, काञ्चीपुरम् 1956)

(ख) प्रस्थानत्रयी के द्वितीय ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता पर रचित अपने भाष्य में रामानुजाचार्य ने इसी प्रकार वेदोपबृंहण की बात कही है। यथा–

'तस्मात्कार्याकार्यव्यवस्थितौ उपादेयानुपादेयव्यवस्थायां शास्त्रमेव तव प्रमाणम्। धर्मशास्त्रेतिहासपुराणाद्युपबृंहिता वेदा यदैव पुरुषोत्तमाख्यं परं तत्त्वं तत्प्रीणनरूपं तत्प्राप्त्युपायं च बोधयन्ति, ...।'[1]

अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य या ग्राह्य और त्याज्य की व्यवस्था के विषय में केवल शास्त्र ही प्रमाण है। धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण आदि से उपबृंहित अर्थात् विशदीकृत वेद जिस पुरुषोत्तम नामक परम तत्त्व का तथा समाराधन रूप उसकी प्राप्ति के उपायभूत कर्म का बोध कराते हैं, शास्त्रविधानोक्त उस तत्त्व और कर्म को यथावत् जानकर स्वीकार करना चाहिए।

(ग) ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी का तीसरा प्रमुख घटक है। आचार्य रामानुज ने इस पर जिस भाष्य की रचना की है वह श्रीभाष्य नाम से प्रतिष्ठित है। इस श्रीभाष्य में भी वेदोपबृंहण की पूर्ववत् ही विवेचना की गयी है। द्रष्टव्य है आचार्य रामानुज के एतद्विषयक वचन–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरिष्यति।।

इति शास्त्रेणार्थस्य इतिहासपुराणाभ्यामुपबृंहणं कार्यमिति विज्ञायते। उपबृंहणं नाम विदितसकलवेदतदर्थानां वाक्यैः स्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम्।'[2]

इन पंक्तियों में रामानुजाचार्य ने अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा है कि महर्षियों ने वेद के मर्म को जानकर उसकी व्याख्या के रूप में इतिहास और पुराण की रचना की है। अतः उन्हीं इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदार्थ का निश्चय कर लेना चाहिए।

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों में आचार्य रामानुज ने जिन शास्त्रों के द्वारा वेदोपबृंहण का उल्लेख किया है, क्रमशः वह इस प्रकार है–

1. श्रीभाष्य – इतिहास और पुराण के द्वारा
2. वेदार्थसंग्रह – इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के द्वारा
3. गीताभाष्य – धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण आदि के द्वारा

1. गीताभाष्य, 16.24
2. श्रीभाष्य, 1.1.1, पृ. 148 (मेलकोटेसंस्करण)

इन तीनों ही ग्रन्थों में उपबृंहणशास्त्र के रूप में परिगणित शास्त्र-सूची में दो शास्त्रों अर्थात् इतिहास और पुराण का नाम सार्वत्रिक है किन्तु यह संख्या अन्तिम नहीं है। इसीलिए वेदार्थसंग्रह में धर्मशास्त्र का नाम भी जोड़ दिया गया। किन्तु आचार्य की दृष्टि में अभी भी कुछ छूट रहा था। इसी कारण गीताभाष्य में धर्मशास्त्र इतिहास और पुराण के साथ 'आदि' शब्द जोड़ दिया गया। इस 'आदि' शब्द के द्वारा किसी भी शास्त्र का ग्रहण किया जा सकता है। वेदान्तदेशिक ने 'आदि' शब्द का अर्थ 'सदाचार' किया है। उन्हीं शब्दों में-

"आदिशब्देनाचारग्रहणम्"[1]

इस सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् उपबृंहण-शास्त्र की संख्या के विषय में कोई स्पष्ट चित्र उभरता हुआ दिखायी नहीं देता है। पूर्वोदाहृत महाभारत के वचनों के अनुसार इतिहास और पुराण के द्वारा वेदोपबृंहण किया जाना चाहिए। आचार्य रामानुज के अनुसार धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण के द्वारा उपबृंहण होना चाहिए। शङ्कर, कुमारिल आदि के अनुसार विद्यास्थानों के द्वारा वेदों का उपबृंहण होना चाहिए। इस स्थिति को एक ही दृष्टि में इस प्रकार देखा जा सकता है-

महाभारत के अनुसार	–	1. इतिहास और 2. पुराण के द्वारा
रामानुजाचार्य के अनुसार	–	1. धर्मशास्त्र, 2. इतिहास और 3. पुराण के द्वारा
तथा शङ्कराचार्य के अनुसार	–	1. पुराण, 2. न्याय, 3. मीमांसा, 4. धर्मशास्त्र, 5. शिक्षा, 6. कल्प, 7. निरुक्त, 8. छन्द, 9. ज्योतिष तथा 10. व्याकरण के द्वारा वेदोपबृंहण किया जाता है।

महाभारत का प्रामाण्य सर्वमान्य होने के कारण इतिहास और पुराण का वेदोपबृंहणत्व सर्वसम्मत है। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह सूची आत्यन्तिक नहीं है, अर्थात् वेदोपबृंहण इतिहास और पुराण से अतिरिक्त किसी अन्य शास्त्र से भी किया जा सकता है। इस प्रकार मान लेने से रामानुजादि के कथनों से कोई विरोध नहीं होगा, क्योंकि इतिहास और पुराण का स्थान सुरक्षित रखते हुए उन्होंने उसमें धर्मशास्त्र को भी सम्मिलित कर लिया है जो कि श्रुति और धर्मशास्त्र शब्द-वाच्य स्मृति को सर्वमान्य प्रमाण मानने की परम्परा के सर्वथा अनुकूल भी हैं। इस सन्दर्भ में मनु के यह शब्द द्रष्टव्य हैं-

1. गीताभाष्यतात्पर्यचन्द्रिका, 16.24

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।[1]

धर्मशास्त्र वेदानुकूल अर्थ का प्रतिपादन करने पर ही प्रमाण हो सकता है। वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृतियाँ (धर्मशास्त्र) सर्वथा अप्रामाणिक हैं। मनु का ही कथन है–

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताःस्मृताः।।[2]

शङ्कराचार्य ने जो विद्यास्थानों से वेदोपबृंहण की बात कही है, वह भी वैदिक-परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। कुमारिलभट्ट ने वेदसम्मत होने के कारण विद्यास्थानों की प्रामाणिकता स्पष्ट रूप से स्वीकार की है। उन्हीं के वाक्य हैं–

'परिमितान्येव हि चतुर्दशाष्टादश वा विद्यास्थानानि धर्म-प्रमाणत्वेन शिष्टैः परिगृहीतानि।[3] तथा–

'तेन प्रतिकल्पमन्वन्तरयुगनियतनित्यऋषिनामाभिधेयकृत्रिम-विद्यास्थानकारा ये वेदेऽपि मन्त्रार्थवादेषु श्रूयन्ते तत्प्रणीतान्येव विद्यास्थानानि धर्मज्ञानाङ्गत्वेन सम्मतानि।'[4]

विद्यास्थानों की प्रामाणिकता के विषय में अन्यान्य परम्पराएँ एकमत ही हैं। किन्तु इतिहास अर्थात् व्यास और वाल्मीकि-रचित महाभारत और रामायण ग्रन्थों का विद्यास्थानों का उपबृंहण के रूप में परिगणन न होने से उनकी अप्रामाणिकता का प्रश्न अवश्य उठ सकता है। विष्णुपुराण की पूर्वोदाहृत विष्णुचित्तीया व्याख्या के अनुसार पुराण शब्द के अन्तर्गत इतिहास को मान लेने से इस प्रश्न का समाधान हो सकता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदोपबृंहण के लिए अपनी-अपनी बातों को युक्तिपूर्वक प्रस्तुत करते हुए भी आचार्यगण अन्य शास्त्रों द्वारा वेदोपबृंहण के पक्ष को अस्वीकार नहीं करते हैं। इस विषय में आचार्य एकमत होते हुए प्रतीत होते हैं कि जिस भी शास्त्र से वेदोपबृंहण की बात की जाए, उस शास्त्र को विद्यास्थानों में अवश्य परिगणित होना चाहिए। यद्यपि दस विद्यास्थानों से वेदोपबृंहण प्रायः एक

---

1. मनु., 2.10
2. तत्रैव, 12.95
3. तन्त्रवार्तिक, 1.3.7
4. तत्रैव
5. विष्णुचित्तीया, 3.6.27

सर्वमान्य सिद्धान्त है, तथापि इनसे अतिरिक्त किसी अन्य शास्त्र से वेदोपबृंहण का प्रतिषेध भी नहीं किया जा सकता। इतना होने पर भी प्रधानता के कारण धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण के द्वारा उपबृंहण पर बल दिया जाता है। यह तीनों शास्त्र स्मृति के अन्तर्गत भी माने गये हैं। अतः स्मृति के द्वारा वेदोपबृंहण का विरोध भी नहीं होता है।

उपबृंहण-शास्त्रों का विषय-विभाजन

धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण के द्वारा वेदोपबृंहण का निश्चय हो जाने पर प्रश्न उठता है कि क्या ये तीनों शास्त्र अपने-अपने ढंग से सम्पूर्ण वेद का उपबृंहण करते हैं अथवा वेद के विशिष्ट भागों को पृथक्तया उपबृंहण का विषय बनाते हैं। यही विषय यहाँ विचारणीय है। आचार्य रामानुज की निम्न पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं–

'वेदानामनन्तत्त्वाद् दुरवगाहत्वाच्च परमपुरुषनियुक्ताः परमर्षयः कल्पे-कल्पे निखिलजगदुपकारार्थं वेदार्थं स्मृत्वा विध्यर्थवादमन्त्रमूलानि धर्मशास्त्राणीतिहासपुराणि च चक्रुः।'[1]

अर्थात् वेद अनन्त और दुरवगाह (दुष्प्रवेश) हैं, अर्थात् वेदों का अर्थ दुर्बोध है। इस कारण परमपुरुष की प्रेरणा से परमर्षिगण ने प्रत्येक कल्प में सम्पूर्ण जगत् के उपकारार्थ वेदार्थ का स्मरण करते हुए उन अर्थों को प्रकाशित करने में समर्थ उपबृंहणशास्त्र की रचना की। वेद के विधि-भाग का स्मरण करके उन्होंने धर्मशास्त्रों की तथा अर्थवाद और मन्त्रभाग का स्मरण करके इतिहास और पुराणों की रचना की।

मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'।[2] अर्थात् वेद के दो भाग हैं (1) पूर्व तथा (2) उत्तर। पूर्व भाग ही मन्त्र है तथा उत्तर भाग ब्राह्मण। ब्राह्मण की दो विधाएँ हैं। (1) विधि तथा (2) अर्थवाद। इस प्रकार वेद को मन्त्रब्राह्मणात्मक कहा जाए या मन्त्रविध्यर्थवादात्मक कहा जाए, बात एक ही है। दोनों का एक ही अभिप्राय है। मन्त्र के द्वारा अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशन किया जाता है। वेदान्तदेशिक के शब्दों में–

---

1. वेदार्थसंग्रह, 43
2. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, 24.1.31

'तत्र-प्रामाणिक-तन्त्रव्यवहारविषयो मन्त्रः। स चानुष्ठेयार्थ-प्रकाशनादिनोपकरोति।'[1]

हित के अनुशासन रूप वाक्य को विधि कहते हैं–

हितानुशासनरूपवाक्यमिह विधिः।[2]

इसी प्रकार अर्थवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि विधि के अधीन प्रवृत्ति के उत्तम्भक या प्रेरक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में–

विध्यधीनप्रवृत्त्युत्तम्भकवाक्यविशेषो ह्यर्थवादः।[3]

इस प्रकार रामानुजाचार्य के पूर्वोदाहृत वचन का अभिप्राय यही है कि प्रपञ्चित विधि-भाग का उपबृंहण धर्मशास्त्र के द्वारा तथा अर्थवाद और मन्त्रभाग का उपबृंहण इतिहास-पुराण के द्वारा करना चाहिए।

विंशतिलक्षणी मीमांसा को ध्यान में रखकर यदि विचार किया जाए तो वेद के पूर्वभाग में कर्म-विचार किया गया है तथा उत्तर भाग में ब्रह्मविचार किया गया है। विचार के अर्थ में मीमांसा शब्द का प्रचलन है। इसी कारण कर्मप्रतिपादक पूर्वभाग को पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसा कहते हैं तथा ब्रह्मप्रतिपादक उत्तर भाग को उत्तरमीमांसा या ब्रह्ममीमांसा कहते हैं। इस पूर्वोत्तर विभाग को ध्यान में रखकर ही श्रीभाष्य की प्रसिद्ध टीका 'श्रुतप्रकाशिका' के ॱवयिता सुदर्शनाचार्य का निम्नोद्धृत वचन द्रष्टव्य है–

'इतिहासेत्यादिश्लोके वेदशब्दो वेदान्तपरः। वेदोपबृंहणभूतेषु धर्मशास्त्रेतिहासपुराणेषु-धर्मशास्त्राणि पूर्वभागोपबृंहणानि। इतिहास-पुराणान्युपरितनभागोपबृंहणपराणीति विभागः।'[4]

सुदर्शनाचार्य का कहना है कि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस श्लोक में पठित वेद शब्द का अर्थ वेदान्त है। धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण के द्वारा वेदों का उपबृंहण किया जाता है। धर्मशास्त्र के द्वारा वेद के पूर्वभाग अर्थात् (कर्मप्रतिपादक भाग) का उपबृंहण होता है तथा इतिहास और पुराण के द्वारा

---

1. न्यायपरिशुद्धि, शब्द पृ. 161
2. तत्रैव, 162
3. तत्रैव
4. श्रीभाष्य, श्रुतप्रकाशिका, पृ. 733 (परकालमठ, मैसूर)

उपरितन भाग अर्थात् वेदान्त का उपबृंहण होता है।[1] इस प्रकार उपबृंहण-साहित्य से कार्य का विभाजन होने पर भी कभी-कभी ऐसा भी होता है कि धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ब्रह्मप्रतिपादन और इतिहास-पुराण के अन्तर्गत कर्म का प्रतिपादन किया गया हो। ऐसी स्थिति में यह समझ लेना चाहिए कि उन स्थलों पर शास्त्रकार किसी विशिष्टार्थ की ओर इंगित करना चाहते हैं। यदि धर्मशास्त्रों में ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है तो शास्त्रकार का अभिप्राय यह बतलाने में है कि कर्म का स्वरूप ब्रह्मोपासना है। इसी प्रकार इतिहास-पुराण में कर्मप्रतिपादन से यह मन्तव्य है कि कर्म ब्रह्मोपासना का अङ्ग है। सुदर्शनाचार्य के ही शब्दों में-

'*तत्र धर्मशास्त्रेषु ब्रह्मप्रतिपादनं कर्मणां तदाराधनरूपत्वज्ञापनार्थम्।* इतिहासपुराणेषु कर्मप्रतिपादनं कर्मणां ब्रह्मोपासनाङ्गप्रतिपादनार्थम्।'[2]

उपरि-विवेचित विषय को संक्षेप में इस प्रकार उपस्थापित किया जा सकता है-

उपबृंहण शास्त्र	उपबृंहणीय वेद-भाग
धर्मशास्त्र	विधि/पूर्वभाग (कर्मप्रतिपादक)
इतिहास	अर्थवाद/उत्तरभाग
पुराण	मन्त्र (ब्रह्म-प्रतिपादक वेदान्त)

पाञ्चरात्र-आगमों द्वारा वेदोपबृंहण

पाञ्चरात्र आगमों द्वारा वेदोपबृंहण की चर्चा-मात्र विस्मय और कौतूहल को उत्पन्न कर सकती है। विशेषतया यह बात उन लोगों के लिए अधिक सङ्गत है जो कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य के विचारों के संस्कार से युक्त हैं अथवा पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। दोनों ही आचार्य पाञ्चरात्र-आगमों द्वारा वेदोपबृंहण की कल्पना भी नहीं कर सकते। उनके अनुसार पाञ्चरात्र-आगम नितान्त वेदविरोधी हैं। यह चर्चा पहले

1. द्रष्टव्यम्-पूर्वोत्तरभागद्वयात्मकस्य वेदस्यार्थनिर्णये एकः उपायभूतनियमः विद्यते
प्रायेण पूर्वभागार्थः पुराणधर्मशास्त्रतः।
इतिहासपुराणाभ्यामुत्तरार्थः प्रकाश्यते।।
स्मृतिधर्मशास्त्रेभ्यः वेदस्य पूर्वभागस्यार्थः निर्णीयते।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदस्योत्तरभागस्यार्थः प्रकाश्यते इति भावः।।
(वेदार्थसंग्रहस्य समीक्षात्मकमध्ययनम्, उपोद्घात्, 6)
2. श्रीभाष्य, श्रुतप्रकाशिका, पृ. 733 (परकाल मठ)

पाञ्चरात्र-प्रामाण्य विवेचन के सन्दर्भ में की जा चुकी है। कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र-आगमों को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वेद-विरोधी स्वीकार किया है।[1] किन्तु प्रभूत उल्लेख और सन्दर्भ ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनसे पाञ्चरात्र-आगमों का वेदों के साथ स्पष्ट घनिष्ठ संबंध दृष्टिगोचर होता है। महाभारत के शान्तिपर्व में प्राप्य उल्लेखों के आधार पर उक्त संबंध के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। शान्तिपर्व का मोक्षधर्म पर्व पाञ्चरात्र-शास्त्र के सिद्धान्तों के विशदीकरण तथा प्रशंसा के लिए समर्पित है। कुछ अति प्रसिद्ध उद्धरण यहाँ निदर्शनार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं यथा–

1. 'इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम्।
ऋग्यजुस्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा।।

. . . .

सर्वे प्रमाणं हि यथा तथा तच्छास्त्रमुत्तमम्।
भविष्यति प्रमाणं वै एतन्मदनुशासनम्।।[2]

2. 'इदं महोपनिषदं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
सांख्ययोगकृतान्तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम्।।[3]

3. इदं महोपनिषदं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
आमन्थ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम्।
नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।।
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधीभ्योऽमृतं यथा।
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन् कथामृतमिदं तथा।।[4]

इत्यादि वेदोपबृंहण-शास्त्र के रूप में सर्वमान्य इतिहास-ग्रन्थ महाभरत के अनेक पाञ्चरात्र-प्रशंसा-परक उद्धरणों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि

---

1. द्रष्टव्य-यान्येतानि-त्रयोविद्भिर्न-परिगृहीतानि...त्रयीविपरीता- सम्बद्धदृष्टशोभादिप्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिप्राययुक्ति-मूलोपनिबद्धानि सांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपतशाक्यपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धनानि........ तेषामेतैवच्छ्रुतिविरोधहेतुदर्शनाभ्यामनपोणीयत्वं प्रतिपाद्यते।
(मीमांसादर्शन, तन्त्रवार्तिक, 1.3.4 तथा ब्रह्मसूत्र, शांकर-भाष्य, 2.2.42-45)
2. महा., शान्ति., मोक्ष., 335, 32-44
3. तत्रैव, 339,111, 112
4. तत्रैव, 343.11-13

महाभारत की दृष्टि में पाञ्चरात्र वेदविरुद्ध है। इसके विपरीत यही सहज निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत के अनुसार पाञ्चरात्र-शास्त्र सर्वथा वेदानुकूल और वेद-सम्मत है। इसी प्रकार पुराण आदि साहित्य में भी पाञ्चरात्र के समर्थन में अनेक वचन मिल जायेंगे।

पाञ्चरात्र-शास्त्र के पक्ष में इदम्प्रथमतया एक स्वतन्त्र ग्रन्थ आगमप्रामाण्यम् के रचयिता यामुनाचार्य ने पाञ्चरात्र-आगमों को वेदार्थ के प्रतिपादक-शास्त्र के रूप में ही प्रस्तुत किया है। उन्हीं के शब्दों में-

'अत्रोच्यते-स खलु भगवानमोघ-सहजसंवेदनसाक्षाद्भवदखिलवेदराशिः विप्रकीर्णविविधविध्यर्थवादमन्त्रात्मकानेकशाखाध्ययनधारणादिषु अधीरधियो भक्तानवलोक्य तदनुकम्पया लघुनोपायेन तदर्थं संक्षिप्योपदिदेशेति न किञ्चिदनुपपन्नम्।'[1]

आचार्य रामानुज ने भी श्रीभाष्य के उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में यामुनाचार्य के ही अभिप्राय का उपबृंहण किया है। इसी प्रकार प्रायः सभी वैष्णवाचार्यों ने इन्हीं आचार्यों द्वारा प्रदर्शित पाञ्चरात्र-आगमों के समर्थन की पद्धति का अनुसरण किया है। इन सभी आचार्यों ने अर्थतः स्वीकार किया है कि पाञ्चरात्र-आगमों में वेदार्थ का ही विशदीकरण है। उपबृंहण शब्द का शब्दतः प्रयोग न करते हुए भी इन सबका अर्थतः अभिप्राय यह प्रतिपादन करने में ही है कि पाञ्चरात्र भी वेदोपबृंहण-शास्त्र है। इसी प्रतिपादन-सरणि का अनुसरण अन्य परवर्ती वैष्णवाचार्य भी करते हैं। इन आचार्यों में वेदान्तदेशिक सर्वाधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने अपने पूर्वाचार्यों के मत को अधिक सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत किया है तथा शब्दतः पाञ्चरात्र आगमों के वेदोपबृंहण के रूप में घोषित किया है।

वेदान्तदेशिक की स्थापना

तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में श्रीवैष्णव गतिविधियों को अपने चरमोत्कर्ष तक ले जाने वाले आचार्य वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक की अनेक उपाधियों में एक उपाधि थी 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र'।[2] इस उपाधि के अनुरूप ही वे नानाविध विद्याओं के पारङ्गत विद्वान् थे। पाञ्चरात्र-शास्त्र के प्रति उनकी अनन्यनिष्ठा थी। इस

1. आगमप्रामाण्यम्, पृ. 102
2. द्रष्टव्य : 'परमतदुरहन्ता प्राप्तशास्त्रार्तिहन्ता
विकसितगुणभूमा वेदचूडार्यनामा।
विहरतु हृदि कश्चिद् विश्वमान्यो विपश्चिद्
विदितसकलमन्त्रः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः।।' (आचार्यपञ्चाशत्, 25)

शास्त्र में प्रदर्शित आचार-पद्धति का अपने जीवन में स्वयं अनुसरण करते थे। साथ ही इस शास्त्र के वह मूर्धन्य विद्वान् भी थे।

पाञ्चरात्र-शास्त्र-विषयक उनके ज्ञान की गंभीरता उनके द्वारा रचित विपुल साहित्य में अनेकत्र प्रतिबिम्बित होती है। इसके अतिरिक्त 'पाञ्चरात्ररक्षा' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी उन्होंने की। भगवच्छास्त्र के रूप में पाञ्चरात्रशास्त्र की प्रामाणिकता की स्थापना, उनके वेदाविरुद्धत्व और वेदानुकूलत्व की सिद्धि तथा पञ्चकाल-प्रक्रिया की विवेचना इस ग्रन्थ के प्रमुख विषय हैं। यह ग्रन्थ तीन अधिकारों में विभक्त है- सिद्धान्तव्यवस्थापनाख्यः प्रथमोऽधिकारः, नित्यानुष्ठानस्थापनाख्यो द्वितीयोऽधिकारः, तथा नित्यव्याख्यानाख्यस्तृतीयोऽधिकारः।

वेदान्तदेशिक ने अपनी रचनाओं में पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदर्शित वर्त्म का अनुसरण करते हुए शब्दतः और अर्थतः पाञ्चरात्र-आगमों की वेद के उपबृंहरणशास्त्र के रूप में स्थापना की है। पाञ्चरात्ररक्षा की ही निम्न पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं-

'तदेतत् महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्' इत्याद्युक्तान्त-शाखाश्रयऋगादिस्कन्धभिदुरमूलभागोपबृंहणरूपं स्वमूलनिगमभागभेदात् ऋगादिवदेव-चतुर्धाऽवतिष्ठते-आगमसिद्धान्तो मन्त्रसिद्धान्तस्तन्त्रसिद्धान्तस्तन्त्रान्तरसिद्धान्त इति।[1]

इसी प्रकार न्यायपरिशुद्धि की निम्न पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं-

'चतुर्विधं चेदं पञ्चरात्रम्-आगमसिद्धान्तः, दिव्यसिद्धान्तः, तन्त्रसिद्धान्तः, तन्त्रान्तरसिद्धान्तश्चेति। चतुर्विधं चेदं वेदमूलभूतांशस्योपबृंहणम्, तदभिप्रायेणोक्तं महाभारते महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम् इत्यादि।[2]

इन पंक्तियों में आचार्य वेदान्तदेशिक ने स्पष्टतर शब्दों में पाञ्चरात्रशास्त्र को वेदोपबृंहण-शास्त्र कहा है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि उपबृंहण-शास्त्र तो पहले से ही निश्चित या परिगणित हे। यथा-विद्यास्थान,स्मृति और इतिहास-पुराण। इनमें पाञ्चरात्र-शास्त्र का कहीं उल्लेख नहीं है। तो फिर वेदान्तदेशिक अथवा अन्य आचार्यों के कथन कैसे विश्वसनीय और आदरणीय हो सकते हैं कि पाञ्चरात्र-शास्त्र भी वेदोपबृंहण-शास्त्र है। यह प्रश्न निश्चित रूप से वेदान्तदेशिक के मन में भी रहा होगा। इसी कारण उन्होंने अपने ढंग से इस प्रश्न का समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है।

वेदान्तदेशिक के अनुसार श्रुति ईश्वर की आज्ञा है। उसी आज्ञा का अनुविधान

---

1. पाञ्चरात्ररक्षा (वेदान्तदेशिकग्रन्थमाला), पृ. 95
2. न्यायपरिशुद्धि (वेदान्तदेशिकग्रन्थमाला), पृ. 169

करने के कारण स्मृति भी ईश्वर की आज्ञा है। इस सम्बन्ध में विष्णुधर्मपुराण का निम्नवचन प्रमाण के रूप में यामुनाचार्य से लेकर अन्य आचार्य-गण प्रायः उदाहृत करते हैं–

श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्तामुल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः।।[1]

इसी प्रमाणवचन का उल्लेख करते हुए वेदान्तदेशिक व्यवस्थित रूप में अपना सिद्धान्त इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं–

'*श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा इति। तथा भाष्यम्–स्वशासनावबोधि शास्त्रमिति नित्यं श्रुत्यैव नियुङ्क्ते परः इति। नित्याऽपि सा तदाज्ञा। गीतादिरपि श्रुत्यर्थोपदेशरूपतया प्रवर्तते। साक्षात्तु श्रुतिस्तदादेशः। तदनुविधानाच्च स्मृतिरपि।*'[2]

इसी प्रकार स्मृति-विवेचन के सन्दर्भ में वेदान्तदेशिक का कथन है–

एवं श्रुतिस्तावदीश्वराज्ञा, तदनुविधानात् स्मृतिरपि।[3]

इस प्रकार ईश्वर की आज्ञा रूप होने के कारण श्रुति और स्मृति ही परम प्रमाण हैं। स्मृति के धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण, इन तीन भेदों की चर्चा करते हुए वेदान्तदेशिक सांख्य, योग, पाशुपत और पाञ्चरात्र को भी मनु आदि की स्मृतियों के समान धर्मशास्त्र के भेद के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्हीं के शब्दों में–

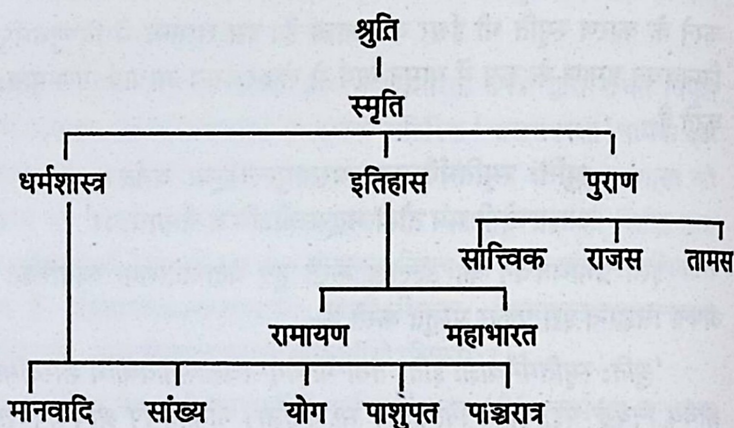
'*ततश्च वेदामूलाः स्मृतयस्त्रिविधाः–धर्मशास्त्रेतिहासपुराणभेदात्।.... यानि पुनः सांख्ययोगपाशुपतपञ्चरात्राणि तान्यपि धर्मशास्त्रभेदा एव।*'[4]

स्मृति के विषय में इतना अवश्य है कि उनका जो अंश वेदविरुद्ध है, उसका बाध हो जाएगा और अप्रमाण होगा। किन्तु पाञ्चरात्र कहीं भी वेदविरुद्ध नहीं है, अतः सर्वांश में प्रमाण है। यथा–

'पञ्चरात्रं तु कृत्स्नं श्रुतिवत् स्मृतिवद् वा प्रमाणम्, प्रत्यक्ष-श्रुत्यादि-विरोधाभावात्।[5]

शास्त्र-प्रमाण-विषयक वेदान्तदेशिक के उपरिप्रपञ्चित विषय को निम्नाङ्कित रूप में उपस्थापित किया जा सकता है–

1. तत्रैव, पृ. 155 (उदाहृत)
2. तत्रैव, पृ. 157, 158
3. तत्रैव, पृ. 166
4. तत्रैव, पृ. 167
5. तत्रैव।



श्रीमन्मित्रमिश्र द्वारा समर्थन

वेदान्तदेशिक द्वारा पाञ्चरात्र-आगमों को धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता प्रदान करना उनकी मौलिक कल्पना-मात्र नहीं है। इस मान्यता के पीछे पर्याप्त शास्त्रीय आधार भी है और धर्मशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य पाञ्चरात्र आगमों की धर्मशास्त्रता को स्वीकार भी करते हैं। इस सन्दर्भ में मित्र मिश्र-कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की वीरमित्रोदय व्याख्या का यह अंश अवलोकनीय है-

'स्मृतयो मन्वादिप्रणीता धर्मसंहिताः..............स्मृतिपदेन पञ्चरात्राण्यपि गृह्यन्ते, तेषामपि मन्वादिस्मृतिवदेव प्रामाण्यात्।

अलाभे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदितेन ये।
आचारेण प्रपद्यन्ते माया यास्यन्ति मानवाः।।
इति वाराहे (66.11) श्री भगवद्वाक्यात्।

अभावे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदिते विधिः। इति तत्रैव वचनान्तरात्।[1]

यहाँ स्पष्ट रूप से पाञ्चरात्र-आगमों का स्मृतिरूपत्व या धर्मशास्त्र-रूपत्व स्वीकार किया गया है।

वीरमित्रोदय नामक एक अन्य ग्रन्थ में पण्डित मित्र मिश्र स्वयं प्रश्न प्रस्तुत करते हैं कि सांख्य, योग, पञ्चरात्र, पाशुपत आदि आगम धर्म के विषय में प्रमाण हैं अथवा नहीं? यदि प्रमाण हैं तो धर्मस्थानों की चतुर्दश संख्या के साथ विरोध उपस्थित होगा और यदि यह कहा जाए कि प्रमाण नहीं हैं तो महाजन-परिग्रह के

1. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, आचाराध्याय, 1.3

साथ विरोध उपस्थित हो जायेगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उनका कथन है कि ये सभी शास्त्र वेद के अविरुद्ध हैं और प्रमाण हैं। समर्थन में वह योगि–याज्ञवल्क्य के वचनों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उन्हीं के शब्दों में–

'ननु सांख्ययोगपञ्चरात्रपाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न। आद्ये धर्मस्य च चतुर्दशेति संख्याव्याकोपः। द्वितीयेऽविगीतमहाजन–परिग्रहविरोधः।'उच्यते, तेऽपि वेदाविरुद्धाः प्रमाणमेव। तथा च योगियाज्ञवल्क्यः;

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रन्तु वेदशास्त्रात् सनातनात्।।
दुर्बोध्यं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्।।
पुराणन्यायमीमांसाधर्म – शास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।
सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
अतिप्रमाणान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत्।।'[1]

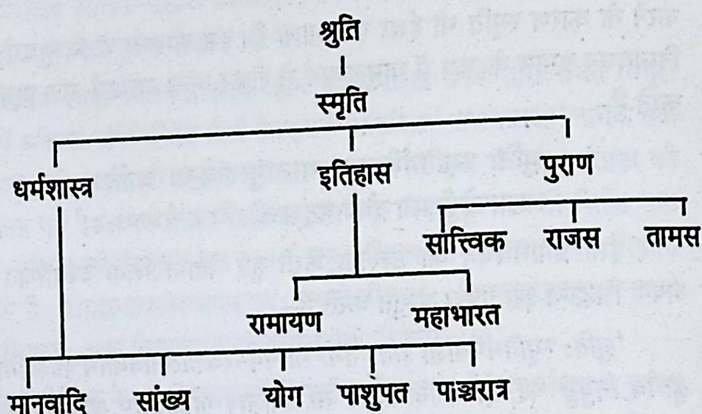
यहाँ पाञ्चरात्र आदि आगमों को अतिप्रमाण कहा गया है। अतः पण्डित मित्र मिश्र द्वारा प्रस्तुत प्रश्न अनुत्तररित ही रहा कि यदि ये पाञ्चरात्र आदि आगम धर्म के विषय में प्रमाण हैं तो इनका चतुर्दश धर्म स्थानों में परिगणन क्यों नहीं किया गया? आगे मित्र मिश्र इस प्रश्न को उठाकर उत्तर देते हैं–

'कथं तर्हि धर्मस्य च चतुर्दशेति संख्यानिर्देश उपपद्यते। उपलक्षणमात्रतयेति ब्रूमः। अन्यथा रामायणशिष्टाचारादीनामप्यनुपसंग्रहादप्रामाण्यापत्तेः।

यदि तु तथा स्मृत्यन्तरेषु चेति पूर्वोदाहृतभविष्यत्पुराणवचनेन तदुपसंग्रहः तदा स प्रकृतेऽपि तुल्यः।'[2]

इस प्रकार श्रीमित्र मिश्र पाञ्चरात्र आदि आगमों को स्मृति के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। यहाँ प्रयुक्त स्मृतिशब्द धर्मशास्त्र का ही पर्याय है। मित्र मिश्र के पूर्व यही पद्धति वेदान्तदेशिक ने प्रदर्शित की थी। उन्होंने भी मन्वादि स्मृतियों के साथ ही आगम–साहित्य को भी धर्मशास्त्र के भेद के रूप में उपस्थापित किया है। इस प्रकार पाञ्चरात्र–आगमों का धर्मशास्त्रत्व सुस्थिर हो जाने पर उसके द्वारा वेदों का उपबृंहण

1. वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रकाश, पृ. 20–21
1. तत्रैव, पृ. 23, 24



श्रीमन्मित्रमिश्र द्वारा समर्थन

वेदान्तदेशिक द्वारा पाञ्चरात्र-आगमों को धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता प्रदान करना उनकी मौलिक कल्पना-मात्र नहीं है। इस मान्यता के पीछे पर्याप्त शास्त्रीय आधार भी है और धर्मशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य पाञ्चरात्र आगमों की धर्मशास्त्रता को स्वीकार भी करते हैं। इस सन्दर्भ में मित्र मिश्र-कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की वीरमित्रोदय व्याख्या का यह अंश अवलोकनीय है-

'स्मृतयो मन्वादिप्रणीता धर्मसंहिताः.............स्मृतिपदेन पञ्चरात्राण्यपि गृह्यन्ते, तेषामपि मन्वादिस्मृतिवदेव प्रामाण्यात्।

अलाभे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदितेन ये।
आचारेण प्रपद्यन्ते माया यास्यन्ति मानवाः।।
इति वाराहे (66.11) श्री भगवद्वाक्यात्।

अभावे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदिते विधिः। इति तत्रैव वचनान्तरात्।[1]

यहाँ स्पष्ट रूप से पाञ्चरात्र-आगमों का स्मृतिरूपत्व या धर्मशास्त्र-रूपत्व स्वीकार किया गया है।

वीरमित्रोदय नामक एक अन्य ग्रन्थ में पण्डित मित्र मिश्र स्वयं प्रश्न प्रस्तुत करते हैं कि सांख्य, योग, पञ्चरात्र, पाशुपत आदि आगम धर्म के विषय में प्रमाण हैं अथवा नहीं? यदि प्रमाण हैं तो धर्मस्थानों की चतुर्दश संख्या के साथ विरोध उपस्थित होगा और यदि यह कहा जाए कि प्रमाण नहीं हैं तो महाजन-परिग्रह के

1. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, आचाराध्याय, 13

साथ विरोध उपस्थित हो जायेगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उनका कथन है कि ये सभी शास्त्र वेद के अविरुद्ध हैं और प्रमाण हैं। समर्थन में वह योगि-याज्ञवल्क्य के वचनों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उन्हीं के शब्दों में-

'ननु सांख्ययोगपञ्चरात्रपाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न। आद्ये धर्मस्य च चतुर्दशेति संख्याव्याकोपः। द्वितीयेऽविगीतमहाजन-परिग्रहविरोधः।'उच्यते, तेऽपि वेदाविरुद्धाः प्रमाणमेव। तथा च योगियाज्ञवल्क्यः;

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रन्तु वेदशास्त्रात् सनातनात्।।
दुर्बोध्यं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्।।
पुराणन्यायमीमांसाधर्म - शास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।
सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
अतिप्रमाणान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत्।।[1]

यहाँ पाञ्चरात्र आदि आगमों को अतिप्रमाण कहा गया है। अतः पण्डित मित्र मिश्र द्वारा प्रस्तुत प्रश्न अनुत्तररित ही रहा कि यदि ये पाञ्चरात्र आदि आगम धर्म के विषय में प्रमाण हैं तो इनका चतुर्दश धर्म स्थानों में परिगणन क्यों नहीं किया गया? आगे मित्र मिश्र इस प्रश्न को उठाकर उत्तर देते हैं-

'कथं तर्हि धर्मस्य च चतुर्दशेति संख्यानिर्देश उपपद्यते। उपलक्षणमात्रतयेति ब्रूमः। अन्यथा रामायणशिष्टाचारादीनामप्यनुपसंग्रहादप्रामाण्यापत्तेः।

यदि तु तथा स्मृत्यन्तरेषु चेति पूर्वोदाहृतभविष्यत्पुराणवचनेन तदुपसंग्रहः तदा स प्रकृतेऽपि तुल्यः।[2]

इस प्रकार श्रीमित्र मिश्र पाञ्चरात्र आदि आगमों को स्मृति के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। यहाँ प्रयुक्त स्मृतिशब्द धर्मशास्त्र का ही पर्याय है। मित्र मिश्र के पूर्व यही पद्धति वेदान्तदेशिक ने प्रदर्शित की थी। उन्होंने भी मन्वादि स्मृतियों के साथ ही आगम-साहित्य को भी धर्मशास्त्र के भेद के रूप में उपस्थापित किया है। इस प्रकार पाञ्चरात्र-आगमों का धर्मशास्त्रत्व सुस्थिर हो जाने पर उसके द्वारा वेदों का उपबृंहण

---

1. वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रकाश, पृ. 20-21
1. तत्रैव, पृ. 23, 24

सुतरां सिद्ध हो जाता है क्योंकि धर्मशास्त्र वेदोपबृंहण-शास्त्र के रूप में सर्वस्वीकृत और सर्वमान्य हैं।

श्रीमद् अभिनवरङ्गनाथपरकालस्वामी द्वारा सिद्धान्तविवृति

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म-पर्व में 'हयशिर उपाख्यानम्' का विशिष्ट स्थान है। इस पर श्रीमद् अभिनवरङ्गनाथ परकाल स्वामी ने हयशिरोरत्नभूषण नामक व्याख्या तथा 'हयशिरोरत्नभूषणदीधिति' नामक अनुव्याख्या की रचना की है। श्रीलक्ष्मीहयग्रीव भगवान् के अनन्योपासक होने के कारण श्रीलक्ष्मीहयग्रीवदिव्यपादुकासेवक'-विरुद से विभूषित स्वामिचरण के द्वारा इस व्याख्या और अनुव्याख्या की रचना उनके अपने स्वरूप के अनुरूप ही है।[1] पाञ्चरात्र-तात्पर्य-वेत्ता स्वामी जी ने पाञ्चरात्र-आगमों का वेदोपबृंहणत्व तथा धर्मशास्त्रत्व सप्रमाण प्रतिपादित किया है। उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया है कि भाट्टदीपिका की व्याख्या में खण्डदेव के शिष्य शम्भुभट्ट ने याज्ञवल्क्यस्मृति से 'पुराणन्यान्यमीमांसा' श्लोक को उदाहृत करते हुए सांख्य, योग, पाशुपत और पाञ्चरात्र को धर्मशास्त्र के रूप में स्वीकार किया है। स्वामी जी के शब्दों में *'पाञ्चरात्राधिकरणे श्रीभाष्ये च' अतः स भगवान् वेदवेद्यः परब्रह्माभिधानो वासुदेवः इत्युपक्रम्य स्वस्वरूपस्वविभूतिस्वाराधनतत्फलयाथात्म्यवेदिनो वेदान् विध्यर्थवादमन्त्ररूपान् स्वेतरसकलसुरनरदुरवगाहांश्चावधार्य तदर्थयाथात्म्यावबोधि पञ्चरात्रशास्त्रं स्वयमेव निरमिमीति इत्युक्तम्। एतेन पञ्चरात्रस्य वेदोपबृंहणत्वं सिद्धम् अत्र श्रीभाष्ये उदाहृतस्य 'भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम्' इति वचनस्याऽनन्तरं' अस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम् इति वचनं व्यासार्यैरुदाहृतम्। एतेन पञ्चरात्रस्य धर्मशास्त्रत्वं सिद्धम्।*[2]

अपने समर्थन में स्वामी जी वेदान्तदेशिक और शम्भुभट्ट के मतों को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं-

'एवं च पाञ्चरात्रमपीतिहासपुराणवद्धर्मशास्त्रत्वेन स्मृतिरेवेति व्यासार्याणामाशयः स्फुटः। न्यायपरिशुद्धौ च स्मृतित्रैविध्यं धर्मशास्त्रेतिहासपुराणभेदेनाभिधाय पाञ्चरात्रस्य धर्मशास्त्रत्वेन स्मृतित्वमाचार्यपादैरभिहितिमिति, भाट्टदीपिकाव्याख्यायां खण्डदेवशिष्येण शम्भुभट्टेनापि पाञ्चरात्रस्य धर्मशास्त्रत्वमुक्तमिति पूर्वमेव निरूपितम्।'[3]

---

1. स्वामी जी मैसूर नगर में स्थित श्रीमद्ब्रह्मतन्त्र-परकालमठ के तैंतीसवें पीठाधिपति थे।
2. हयशिरोरत्नदीधिति (हयशिरउपाख्यानम्, अनुव्याख्या, पृ. 408
3. तत्रैव।

अन्यत्र शम्भुभट्ट के द्वारा पञ्चरात्रशास्त्र को धर्मशास्त्र के रूप में स्वीकार किये जाने का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं–

शम्भुभट्टोऽपि भाट्टदीपिकाव्याख्यायाम्-
पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

इति याज्ञवल्क्यवचनमुदाहृत्य- महाभारतरामायणसांख्यपातञ्जल-पाशुपतवैष्णवानां धर्मशास्त्र एवान्तर्भावः। पाञ्चरात्रस्याऽत्रैव वैष्णवमन्त्रशास्त्रेऽन्तर्भाव इत्याचार्यपादोक्तरीतिमनुससार।"[1]

यहाँ उपर्युदाहृत पाञ्चरात्र-आगमों के धर्मशास्त्रत्व तथा वेदोपबृंहणत्व को शब्दशः घोषित करने वाले आचार्यों में आचार्य वेदान्तदेशिक ही प्रथम आचार्य हैं। अतः यह माना जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों ने किसी न किसी रूप में उन्हीं से दिशानिर्देश प्राप्त किया है। यही कारण है कि परकाल स्वामी शम्भु भट्ट का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उन्होंने आचार्य वेदान्तदेशिक के मार्ग का अनुसरण किया है। इस सन्दर्भ में उपरि प्रस्तुत वचन 'शमभुभट्टोऽपि.......... आचार्यपादोक्तरीतिमनुससार' महत्त्वपूर्ण है।[2]

निष्कृष्टार्थ

अब पाञ्चरात्र-आगमों को प्रमाण मानने वाले आचार्यों की उपरि-प्रपञ्चित विवेचना के अनुसार वेद और पाञ्चरात्र-आगमों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में स्थिति इस प्रकार स्पष्ट होती है कि धर्म के विषय में वेद ही परम प्रमाण है,[3] तथा तदनुकूल विधान करने के कारण स्मृति भी प्रमाण है–

श्रुतिस्तावदीश्वराज्ञा तदनुविधानात्स्मृतिरपि।[4]

स्मृति के तीन भेद हैं–1. इतिहास, 2. पुराण और 3. धर्मशास्त्र। मन्वादि स्मृतियों के समान पाञ्चरात्र-आगम भी धर्मशास्त्र है और धर्मशास्त्र होने के कारण स्मृति है। इस प्रकार निष्कृष्ट अर्थ यह निकला कि धर्मशास्त्र या स्मृति होने के कारण पाञ्चरात्र-आगम भी वेदोपबृंहण-शास्त्र हैं।

---

1. तत्रैव, पृ. 113
2. तत्रैव।
3. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, (गौ.ध.सू., 1.1.2 तथा मनु. 11.6)
4. न्यायपरिशुद्धि, पृ. 166

इस प्रकार धर्म के विषय में श्रुति और स्मृति दोनों ही प्रमाण हैं–श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः'।[1] अव प्रश्न यह उठता है कि श्रुत्यर्थ और स्मृत्यर्थ में विरोध की दशा में किससे किसका बाध होगा, कौन सबल होगा और कौन दुर्बल। इस विशेष स्थिति के लिए ही जैमिनि ने इस सूत्र-विशेष का प्रणयन किया है–

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।[2]

अर्थात् श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर निरपेक्ष श्रुतिवाक्य प्रमाण होता है, सापेक्ष स्मृति-वचन नहीं। वह अनपेक्ष्य अर्थात् अनादरणीय या उपेक्ष्य होता है। बलाबल की जैमिनि प्रोक्त यही व्यवस्था धर्मशास्त्रों में सर्वत्र स्वीकार की गयी है।[3] कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र आगमों के अप्रामाण्य का जो प्रतिपादन किया है वह पाञ्चरात्र-आगमों के वेदविरुद्ध अंश के विषय में ही समझना चाहिए। वीरमित्रोदय व्याख्या के अनुसार–

'एवं च वेदान्ते भट्टवाक्ये च पाञ्चरात्रप्रामाण्याभिधानं वेदविरुद्धं पञ्चरात्रविषयं मन्तव्यम्'।[4]

पाञ्चरात्र-आगम भी धर्मशास्त्रत्वेन स्मृति है। अतः वेद और पाञ्चरात्र आगमों में विरोध होने पर भी यही व्यवस्था प्रभावी होगी। इस व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी वेदान्तदेशिक पाञ्चरात्र आगमों की विशेष स्थिति की ओर सङ्केत करते हैं कि वेदाविरुद्ध अंश ही प्रमाण होता है और विरुद्ध अंश अप्रमाण। सांख्य योग, पाशुपत और पाञ्चरात्र भी स्मृति ही है। अतः इनका अविरुद्ध अंश ही प्रमाण होगा। सांख्यादि में वेदविरुद्धाशों की स्थिति है, अतः वह अंश अप्रमाण होगा तथा अविरुद्ध अंश प्रमाण। किन्तु पाञ्चरात्र-आगमों की स्थिति सर्वथा भिन्न है। पाञ्चरात्र-आगमों का तो कहीं श्रुति के साथ विरोध है ही नहीं। अतः समग्र पाञ्चरात्र श्रुति अथवा स्मृति के समान प्रमाण है। वेदान्तदेशिक के ही शब्दों में–

'यत्सांख्ये ईश्वरानधिष्ठितप्रधानादिप्रतिपादनम, यच्चेश्वरमभ्युपगम्य केवल-निमित्तकारात्वप्रतिफलनकल्पैश्वर्यवर्णनं योगे, यच्च पाशुपते परावरतत्त्वव्यत्यय-

---

1. वसिष्ठस्मृतिः, 1.2
2. मीमांसादर्शनम्, 1.3.2
3. श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे तु श्रुतिर्वलीयसी निरपेक्षत्वात्। स्मृतेस्तु मूलभूतवेदानुमानसापेक्षत्वेन विलम्बितत्वाद दुर्वलत्वम्, (वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रकाश, पृ. 25)
4. वीरमित्रोदय, याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्या, आचाराध्याय, उपोद्घातप्रकरण, 3

वेदविरुद्धाचारादिकल्पनम्, तत् सर्वं व्यपोह्य शिष्टेंऽशे प्रामाण्यं ग्राह्यम् चैतत् तुषतण्डुलविभागवदल्पज्ञैः शक्यम्। अतो हि शारीरके त्रयाणां निरासः।

पञ्चरात्रम्। पञ्चरात्रं तु कृत्स्नं श्रुतिवत् स्मृतिवद् वा प्रमाणम्, प्रत्यक्षश्रुत्यादि-विरोधा। भावात्।[1]

इस प्रकार पञ्चरात्र आगमों के मर्मवेत्ता आचार्यों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि पाञ्चरात्र-आगम धर्मशास्त्र के रूप में स्मृति-शास्त्र होने के कारण वेदोपबृंहण-शास्त्र हैं और मनु आदि स्मृतियों के समान ही सर्वथा प्रामाणिक हैं।

1. न्यायपरिशुद्धि, शब्दाध्याय, द्वितीयाह्निक, पृ. 161.

तृतीय-अध्याय

पाञ्चरात्र-शब्द और उसका अर्थ

पाञ्चरात्र-शब्द

पाञ्चरात्र-शब्द अपने अर्थ के विषय में विचारकों के मन में बहुत अधिक कौतूहल उत्पन्न करता रहा है। विभिन्न ग्रन्थों में यह शास्त्र-विशेष कहीं पाञ्चरात्र अथवा कहीं पञ्चरात्र शब्दों के द्वारा सम्बोधित किया जाता है। दोनों ही शब्द समानार्थक हैं। तथापि यह प्रश्न तो विचारणीय है कि शास्त्र-विशेष पाञ्चरात्र संज्ञा से किस कारण अभिहित किया गया? अतः पाञ्चरात्र अथवा पञ्चरात्र शब्दों के यत्र-तत्र जो विभिन्न अर्थ बताये गये हैं उन पर दृष्टिपात उपयोगी होगा।

शब्द की निष्पत्ति

पञ्चरात्र–सर्वप्रथम 'पञ्चरात्र' शब्द की निष्पत्ति का स्वरूप विचारणीय है। 'पञ्चानां रात्रीणां समाहारः' इस प्रकार यहाँ पर द्विगुतत्पुरुष समास का होना स्पष्ट ही है। 'अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः।'[1] इस सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति होती है। इसके अनुसार अहः, सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य, संख्या और अव्यय जिनके पूर्व में हैं ऐसे रात्रि-शब्दान्त तत्पुरुष से परे 'अच्, यह तद्धित प्रत्यय होगा-पञ्चरात्रि + अच्। 'अच्' प्रत्यय के चकार की 'हलन्त्यम्'[2] से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। पञ्चरात्रि + अ। 'यचि भम्'[3] सूत्र से पञ्चरात्रि की भ-सञ्ज्ञा हो जाती है। इसके पश्चात् 'यस्येति च'[4] सूत्र की प्राप्ति होती है। इसके अनुसार ईकार या तद्धित प्रत्यय परे हो तो भ-सञ्ज्ञक इवर्ण और अवर्ण का लोप हो जाता है। लोप हो जाने पर

---

1. अष्टध्यायी, 5.4.87
2. तत्रैव, 1.3.3
3. तत्रैव, 1.4
4. तत्रैव, 6.4.148

पञ्चरात् + अ = 'पञ्चरात्र' रूप बनता है। अब इसके पश्चात् लिङ्ग-विचार करना चाहिए। 'द्विगुरेकवचनम्'[1] इस सूत्र के अनुसार समाहार-द्विगु एक वचन होता है। इस प्रकार जिसके एक वचनत्व का विधान किया गया है वह द्विगु अथवा द्वन्द्व नपुसंक-लिङ्ग होता है-यह 'स नपुंसकम्'[2] सूत्र से विहित किया गया है। इस प्रकार पञ्चरात्र-शब्द में नपुंसकत्व की प्राप्ति होने पर 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'[3] इस सूत्र से स्त्रीत्व की प्राप्ति होती है। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[4] इस अपवाद-सूत्र से पुंस्त्व की प्राप्ति, तदनन्तर पुंस्त्व को भी बाधित करके 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्'[5] सूत्र से नपुंसकलिङ्गत्व का विधान होता है। इस प्रकार प्रातिपदिक कार्य के पश्चात् 'पञ्चरात्रम्' रूप निष्पन्न होता है।

पाञ्चरात्र-'पञ्चरात्र' शब्द के समान 'पाञ्चरात्र' शब्द उसी अर्थ में बहुलता के साथ प्रयुक्त होता है। पांच रातों में निर्मित ग्रन्थ अथवा शास्त्र इस अर्थ में पञ्चरात्रि शब्द से 'कृते ग्रन्थे'[6] इस सूत्र से अथवा इदमर्थ में (पांच रातों से सम्बद्ध) इस अर्थ में 'तस्येदम्'[7] सूत्र से अण् प्रत्यय की प्राप्ति होगी-पञ्चरात्रि+अण्। 'हलन्त्यम्'[8] से अन्तिम हल् का लोप होकर 'तद्धितेष्वचामादेः'[9] से णित्तद्धित परे होने के कारण पंचरात्रि' शब्द के आदि अच् की वृद्धि हो जायेगी'-पाञ्चरात्रि+अ। एतदनन्तर 'यस्येति च'[10] से भसञ्ज्ञक इवर्ण का लोप होकर पाञ्चरात् + अ = 'पाञ्चरात्र' शब्द की निष्पत्ति होती है। पूर्वोल्लिखित नियमानुसार नपुंसकत्व की प्राप्ति होकर 'पाञ्चरात्रम्' यह शब्द बन जाता है।

उपर्युक्त पद्धति से जब हम शब्दनिष्पत्ति के स्वरूप पर विचार करते हैं तो 'पञ्चरात्रम्' और 'पाञ्चरात्रम्' दोनों ही शब्द साधु सिद्ध होते हैं। किन्तु इसके साथ ही दोनों के अर्थ में भेद भी दृष्टिगत होता है। 'पञ्चानां रात्रीणां समाहारः' इस अर्थ में

---

1. तत्रैव, 2.4.1
2. तत्रैव, 2.4.17
3. तत्रैव, 2.4.26
4. तत्रैव, 2.4.29
5. तत्रैव, वार्तिकम्।
6. तत्रैव, 4.3.116
7. तत्रैव, 4.3.120
8. तत्रैव, 1.3.3
9. तत्रैव, 4.3.117
10. तत्रैव, 6.4.148

समाहार द्विगु से निष्पन्न 'पञ्चरात्रम्' यह शब्द पाँच रातों के परिमित समय का बोधक होता है। 'पाञ्चरात्रम्' यह शब्द 'कृते ग्रन्थे'[1] सूत्र से निष्पन्न होने पर पाँच रातों में निर्मित ग्रन्थ अथवा शास्त्र का बोधक होता है और 'तस्येदम्'[2] इस सूत्र से निष्पन्न होने पर पाँच रातों से सम्बद्ध वस्तु का बोधक होता है या पाँच रातों से सम्बद्ध शास्त्र का बोधक हो सकता है। यद्यपि इस पद्धति से विचार करने पर दोनों शब्दों के अर्थों में भेद होना चाहिए था। तथापि दोनों ही शब्द परम्परया शास्त्र-विशेष का अभिधान करते हैं और इस प्रकार समानाभिधायी है। पाञ्चरात्र-शब्द तो शास्त्र-विशेष वाचक है ही। किन्तु पाँच रातों के परिमित समय का वाचक 'पञ्चरात्र' शब्द भी प्रयोग, परम्परा, रूढि अथवा लक्षणा से शास्त्र-विशेष का वाचक हो सकता है। ऐसा अर्थ करने में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं हैं।

पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पञ्चरात्र' अथवा 'पाञ्चरात्र' शब्द व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया साधु है। तथापि यह प्रश्न तो बना ही रहा कि यह नारायणोपदिष्ट शास्त्र-विशेष क्यों और कैसे पाञ्चरात्र शब्द से वाच्य हो गया? पाञ्चरात्र-संहिताएँ स्वयं पाञ्चरात्र-शब्द से बलात् भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी अर्थों का प्रतिपादन करते हुए दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसी स्थिति में विद्वानों में ऐकमत्य का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः विभिन्न संहिता-ग्रन्थों में पाञ्चरात्र शब्द के जो अर्थ बताये गये हैं, यहाँ उन सबका विवेचन क्रमशः प्रस्तुत किया जाएगा।

1. 'अव्यक्त'-आदि का पञ्चरात्रित्व-प्रतिपादन

कुछ पाञ्चरात्र-संहिताएँ अव्यक्त आदि तत्त्वों के पञ्चरात्रित्व प्रतिपादन में ही पाञ्चरात्र शब्द की अर्थवत्ता देखती हैं। इस सन्दर्भ में परमसंहिता का यह स्थल द्रष्टव्य है:-

> भूतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिरव्यक्तमेव च।
> रात्रयः पुरुषस्योक्ताः पञ्चरात्रं ततःस्मृतम्।।[3]

यहाँ अव्यक्त शब्द-वाच्य प्रकृतितत्त्व, बुद्धिशब्दवाच्य महत्तत्व, गर्व-शब्दवाच्य

---

1. तत्रैव, 4.3.116
2. तत्रैव, 4.3.120
3. परमसंहिता, 1.40.10

अहङ्कार तत्त्व, मात्रशब्द-वाच्य पञ्च तन्मात्राएँ तथा भूत शब्दवाच्य पञ्च महाभूतों का उल्लेख किया गया है। यह पाँच तत्त्व पुरुष की रातें कही गयी हैं। पाञ्चरात्र-शब्द का अर्थ यही पाँच रातें हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि अव्यक्त आदि पाँच तत्त्व पुरुष की राते हैं तो यह शास्त्र-विशेष पाञ्चरात्र संज्ञक कैसे हो गया? यहाँ विष्णुतन्त्र का यह स्थल ध्यान देने योग्य है-

अव्यक्तं मनो बुद्धिरहङ्कारश्च चिन्तकम्।
तन्मात्राऽथ गन्धाद्याः रात्रयो देहिनां स्मृताः।।
एभिः समन्वितैर्देहैः देहिनां भुक्तिमुक्तिदम्।
साधनं पूजनं त्वेतत् पाञ्चरात्रमिति स्थितम्।।[1]

यह विष्णुतन्त्र सम्प्रति हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में सुरक्षित है। सम्पादित न होने के कारण यह स्थल अपरिष्कृत सा प्रतीत होता है। यहाँ पाठभेद से उपलब्ध होने वाला 'चिन्तकम्' अथवा 'चित्तकम्' पद विचारणीय है। विष्णुतन्त्र का स्थल भार्गवतन्त्र की भूमिका से उदाहृत किया गया है। यही स्थल परमसंहिता की भूमिका में भी उदाहृत किया गया है। यथा-

अव्यक्तञ्च मनो बुद्धिरहङ्कारश्च चिन्तकम्।
भूतमात्रादिग्धेषु रात्रयो देहिनः स्मृताः।।
एभिस्समन्वितैर्देहैः देहिनां भुक्तिमुक्तिदम्।
साधनं पूजनं त्वेतत् पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।[2]

यहाँ कहे गये 'भूतमात्रादिगन्धेषु' इस पद के स्थान पर भार्गवतन्त्र की भूमिका में 'तन्मात्राऽथ गन्धाद्याः' पाठ स्वीकार किया गया है। दोनों ही पाठों की साधुता स्पष्ट रूप से सन्दिग्ध है। 1. अव्यक्त, 2. मन, 3. बुद्धि, 4. अहङ्कार, 5. महाभूत तथा 6. तन्मात्र-ये छह तत्त्व द्वितीय पाठ में गिनाये गये हैं। पाञ्चरात्र शब्द की सार्थकता की सिद्धि में छह तत्त्वों की परिगणना कैसे उपयोगी हो सकती है। इसकी अपेक्षा प्रथम पाठ में कुछ भेद के साथ पाँच तत्त्व गिनाये गये हैं। 1. अव्यक्त, 2. महत्तत्व, 3. अहङ्कार, 4. मन और 5. तन्मात्र-ये पाँच तत्त्व देही की पाँच रातें कही गयी हैं। इन से समन्वित देही के लिए भोग और मोक्ष को प्रदान करने वाला साधनभूत शास्त्र की पाञ्चरात्र संज्ञा है। यही उपर्युक्त कथन का अभिप्राय हो सकता है।

---

1. विष्णुतन्त्र, 1.79.81 (भार्गवतन्त्र-भूमिका, पृ. ठ से उदाहृत)
2. तत्रैव, (परमसंहिता की भूमिका, पृ. 37 पर उदाहृत)

2. पञ्चमहाभूतों का रात्रित्व-प्रतिपादन

इसी प्रकार कुछ संहिताएँ भूतगुणों के रात्रित्व के प्रतिपादन के कारण पाञ्चरात्र-शब्द की अर्थवत्ता का प्रतिपादन करती है। उपर्युदाहृत विष्णुतन्त्र इस शब्द की दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। यथा-

पञ्चरात्रस्य शब्दस्य वक्ष्याम्यर्थमतः परम्।
वियद् वायुश्च वह्निश्च आपश्चैव धरा तथा।।
रात्रयो देहिनां प्रोक्ताः अविद्यासम्भवाः स्मृताः।
तद्भोगाद् विनिवृत्तं तु कारयेयुर्यतस्ततः।।
पाञ्चरात्रमिदं प्रोक्तम् एतच्छास्त्रं मया तथा।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप पञ्च-महाभूत ही देहधारियों की अज्ञानरूपिणी रातें हैं। यह शास्त्र प्राणियों को इनके भोग से विनिवृत्त करता है, इसी कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहते हैं। हयशीर्षसंहिता में पञ्चमहाभूतों के रात्रित्व का प्रतिपादन इन शब्दों में किया गया है-

आकाशवायुतेजांसि पानीयं वसुधा तथा।
एताः वै रात्रयः ख्याताः ह्यचैतन्यास्तेजोत्कटाः।।[2]

इस प्रकार यहाँ, पाँच महाभूतों के रात्रित्व-प्रतिपादन के कारण यह शास्त्र पाञ्चरात्र-संज्ञक हुआ, ऐसा कहा गया है।

3. पञ्च-तन्मात्राओं का रात्रित्व-प्रतिपादन

विष्णुतन्त्र का ही कथन है-

देहभूतगुणाः पञ्च रात्रयो देहिनः स्मृताः।
तद्योगाद् विनिवृत्तं तु कारयेयुर्यतः स्मृतः।।[3]

यहाँ भूतगुणों को रात्रि कहा गया है। 'भूतानां गुणाः' भूतों के गुण, इस प्रकार पञ्च तन्मात्राएँ ही भूतगुण शब्द का अर्थ होंगी। परमसंहिता में भी इसी प्रकार पञ्चरात्र-शब्द का अर्थ प्रतिपादित किया गया है। यथा-

---

1. तत्रैव।
2. हयशीर्षसंहिषता, आ.का. 4.2.3, (भागंवतन्त्र-भूमिका, पृ. ठ)
3. विष्णुतन्त्र, (परमसंहिता-भूमिका, पृ. 37)

'महाभूतगुणाः पञ्च रात्रयो देहिनां स्मृताः।
तद्योगाद् विनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।'[1]

विष्णुतन्त्रोक्त 'देहभूतगुणाः' पाठ की अपेक्षा परमसंहिता में प्रयुक्त पाठ 'महाभूतगुणाः' स्पष्ट होने के कारण अधिक उचित है। अर्थ की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पञ्च-तन्मात्राओं को स्पष्ट ही रात्रि कहा गया है। इसी कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहा गया है।

4. गुणों और मात्राओं, दोनों का रात्रित्व-प्रतिपादन

ऊपर कहीं महाभूतों को रात्रि कहा गया है और कहीं पञ्च तन्मात्राओं को। किन्तु कपिञ्जलसंहिता में महाभूत और तन्मात्र दोनों के ही रात्रित्व का प्रतिपादन किया गया है। यथा–

पृथिव्यादीनि भूतानि गुणाः पञ्च महामते।
रात्रयो जन्तवः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रेषु निश्चिताः।।
तद्भोगाद् विनिवृत्तिश्च पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्।[2]

'पृथिव्यादीनि भूतानि' इन पदों के द्वारा पञ्च महाभूतों के, तथा 'गुणाः' इस पद के द्वारा पञ्च तन्मात्राओं के रात्रित्व का यहाँ स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार भूत और गुण दोनों के रात्रित्व का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। विष्णुसंहिता में भूत और गुण दोनों में से किसी एक के रात्रित्व का विकल्प से प्रतिपादन किया गया है। यथा–

रात्रयो गोचरा यत्र शब्दादिविषयात्मिकाः।
महाभूतात्मका वाऽत्र पञ्चरात्रमिदं ततः।।
अवाप्य तु परं तेजो यत्रैताः पञ्चरात्रयः।
नश्यन्ति पञ्चरात्रं तत् सर्वाऽज्ञानविनाशकम्।।[3]

तन्मात्र अथवा महाभूत-स्वरूपिणी पाँच रातें ही पञ्चरात्र-शब्द से वाच्य होता हैं। यह पञ्च रात्रि जिसे तेज को प्राप्त करके विनष्ट हो जाती हैं वह है समस्त अज्ञान को नष्ट कर देने वाला पाञ्चरात्र-शास्त्र।

---

1. परमसंहिता, 1.39.40
2. कपिञ्जलसंहिता, 1.31-32 (भार्गवतन्त्र भूमिका, पृ. ठ)
3. विष्णुसंहिता, 2.49-5

इस प्रकार उपर्युदाहृत संहिताएँ पञ्चरात्र शब्द की अर्थवत्ता बतलाती हैं। जो शास्त्र अव्यक्त आदि पाँच तत्त्वों के रात्रित्व का कथन करता है वही महाभूतों के रात्रित्व का भी प्रतिपादन करता है। जो शास्त्र महाभूतों के रात्रित्व का निश्चय करता है वही तन्मात्राओं के रात्रित्व की भी सिद्धि करता है। किन्तु पञ्चरात्र शब्द में स्थित रात्रि शब्द का तो कोई एक ही अर्थ हो सकता है, सब नहीं। जब शास्त्र ऐसा कहे कि 'अमुक शब्द का अर्थ अमुक हो सकता है अथवा अमुक' तब तो निश्चित ही है कि अमुक शब्द के अर्थ के विषय में शास्त्र स्वयं संशयालु है।

5. पाँच रातों में उपदेशः

पाँच अहोरात्रों में अध्यापन किये जाने के कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहते हैं। ऐसा विभिन्न पाञ्चरात्रसंहिताओं में कहा गया है। अन्य अर्थों की अपेक्षा यह अर्थ तर्क-सम्मत होने के कारण श्रद्धेय है। इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाली संहिताओं में प्रमुख है प्रसिद्ध ईश्वरसंहिता। इस संहिता के अनुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक और भारद्वाज-इन पाँच योगियों ने ईश्वराराधन के लिए तोताद्रि पर दुस्तर तप किया। उस तप से प्रसन्न होकर वासुदेव ने एक-एक अहोरात्रों में उन पाँचों योगियों को उपदेश किया। पञ्च अहोरात्रों में उपदेश किये जाने के कारण यह शास्त्र 'पाञ्चरात्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ईश्वरसंहिता के ही शब्दों में-

पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः।
मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः।।
ते मिलित्वा समालोच्य विष्णोराराधनेच्छया।
अभिसङ्गम्य तोताद्रौ तपश्चक्रुस्सुदुस्तरम्।।
तेषां तु तपसा तुष्टो वासुदेवो जगत्पतिः।

. . . . .

. . . . .

पञ्चापि पृथगेकैकदिवारात्रं जगत्प्रभुः।
अध्यापयामास यतस्ततस्तन्मुनिपुङ्गवाः।।
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते।[1]

मार्कण्डेयसंहिता में यही बात इन शब्दों में कही गयी है-

---

1. ईश्वरसंहिता, 21.519-521, 532, 533

सार्धकोटिप्रमाणेन कथितं तस्य विष्णुना।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।[1]

यद्यपि परमसंहिता में पाञ्चरात्र-शब्द का अव्यक्त आदि परक अर्थ बताया गया है और यहाँ इसके पूर्व इसकी चर्चा भी की गयी है तथापि उपसंहारात्मक अन्तिम अध्याय में प्रकारान्तर से पञ्च अहोरात्र-परक अर्थ भी प्रतिपादित किया गया है। यथा-

सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातनः।
एते शृण्वन्तु चत्वारः प्रज्ञामेधा विशेषतः।।

. . . . .

इति सिद्धैरनुज्ञाताश्चत्वारस्तं महर्षयः।
ज्ञानहेतोर्मुदा युक्ता ब्रह्माणं पर्यवासयन्।।
सृष्टिसंहारसंयुक्तं मुक्तिसंहारदायकम्।
तेभ्यो ज्ञानं ददौ सर्वं पञ्चरात्रेण सर्वशः।।

. . . . .

स्वयम्भू पश्यतां तेषां तत्रैवाऽन्तर्धीयत।[2]

पञ्चरात्र-शब्द से पञ्च अहोरात्र-परक अर्थ सरलता से प्राप्त हो जाता है।

6. पाञ्चरूप्य का प्रतिपादन

पाञ्चरात्र-सिद्धान्त में भगवान् वासुदेव का पाञ्चरूप्य प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त में स्वीकार भी किया गया है। जैसा कि विशिष्टाद्वैत-दर्शन के प्रकरणग्रन्थ यतीन्द्रमतदीपिका में कहा गया है-

'एवम्प्रकार ईश्वरः परव्यूहविभवाऽन्तर्याम्यर्चावताररूपेण पञ्चप्रकारः'[3] अहिर्बुध्न्यसंहिता का अधोलिखित अंश भगवान् के पाञ्चरूप्य के प्रतिपादक अंश के रूप में प्रसिद्ध है-

निर्ममे सारमुद्धृत्य स्वयं विष्णुरसंकुलम्।
तत्परव्यूहविभवस्वभावादिनिरूपणम्।।

---

1. मार्कण्डेयसंहिता, 1.22, 23 (भार्गवतन्त्र-भूमिका, पृ. ठ)
2. परमसंहिता, 31.16-20
3. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 133

पञ्चरात्राह्वयं तन्त्रं मोक्षैकफललक्षणम्।
सुदर्शनाह्वयो योऽसौ सङ्कल्पो वैष्णवः परः।।
स स्वयं विभिदे तेन पञ्चधा पञ्चवक्त्रगः।[1]

यहाँ पर विष्णु के पर, व्यूह और विभव इन तीन रूपों का स्पष्ट निर्देश दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि यहाँ अन्तर्यामी और अर्चा ये दो अन्य रूप नहीं गिनाये गये हैं, तथापि स स्वयं विभिदे तेन पञ्चधा पञ्चवक्त्रगः' यहाँ भगवान् के सुदर्शन नामक सङ्कल्प का जो पञ्चधा-विभजन कहा गया है उसके आधार पर डॉ. श्रेडर आदि विद्वान् नाम्ना अनुल्लिखित होते हुए भी उन दोनों रूपों का उल्लेख मान लेते हैं।[2] डॉ. श्रेडर अपने इस मत के समर्थन में शतपथब्राह्मण में उल्लिखित पञ्चरात्र-क्रतु की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। शतपथ ब्राह्मण के इस अंश में कहा गया है कि पुरुष नारायण ने 'अहमेवेदं सर्वं स्याम्' 'मैं ही सब कुछ हो जाऊँ' इस इच्छा से पञ्चरात्र पुरुषमेध याग किया, जिससे वह सब कुछ हो गया-सर्वातिशायी हो गया। डॉ. श्रेडर का यह कथन तो सर्वथा सत्य है कि शतपथ-ब्राह्मण[3] के उल्लिखित स्थल पर पञ्चरात्र-शब्द का सर्वप्रथम दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि नारायण ने 'सर्वं स्याम्' इस इच्छा से पञ्चरात्रयाग का अनुष्ठान किया न कि 'पञ्चधा स्याम्' इस इच्छा से। अतः भगवान् के पाञ्चरूप्य के साथ पञ्चरात्र-शब्द का सम्बन्ध सरलतया स्थापित नहीं हो पाता।

श्रीप्रश्नसंहिता में भी भगवान् का पाञ्चरूप्य स्वीकार किया गया है। किन्तु इस पाञ्चरूप्य की कुछ अपनी ही विशेषता है। इसमें प्रसिद्ध अन्तर्यामी रूप के स्थान पर सर्वथा नवीन हार्द रूप का प्रतिपादन किया गया है। यथा–

मन्मूर्तयः पञ्चविधा वदन्त्युपनिषत्सु च।
परव्यूहो हार्द इति विभवोऽर्चेति भेदतः।।[4]

यहाँ कहे गये हार्द रूप के विषय में इसी संहिता का कहना है–

---

1. अहिर्बुध्न्यसंहिता, 11.63-65
2- Introduction to pāñcarātra and Ahirbudhnya saṁhitā, p. 28
3. 'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत' अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम्' इति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं शतक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनाऽयजत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्।' (शतपथब्राह्मण, 13.6.1)
4. श्रीप्रश्नसंहिता 2.54,55

योगतत्त्वेन मुनयः सदा मां ध्यानगोचरम्।
पश्यन्ति देवि हृन्मध्ये तस्मान्मां हार्द उच्यते।।[1]

विष्वक्सेनसंहिता में भी पाँच ही रूप माने गये हैं–

मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः।[2]

इस प्रकार भगवान् वासुदेव का यह पाञ्चरूप्य पाञ्चरात्र-शास्त्र का एक प्रतिपाद्य विषय है। किन्तु यदि इसी को पाञ्चरात्र-संज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त मान लिया जाए तो इस पाञ्चरूप्य को इतना प्रसिद्ध होना चाहिए कि इसके विषय में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति के लिए अवकाश ही न हो। किन्तु पाञ्चरात्र-संहिताओं में ही रूपों की संख्या के विषय में विविध मत प्राप्त होते हैं। सात्त्वतसंहिता में परब्रह्म के त्रैविध्य को ही स्वीकार किया गया है–

त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतम्।
आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः।।[3]

इस प्रकार त्रैविध्य का उल्लेख करने के पश्चात् पर, व्यूह, विभव रूपों का विस्तार में स्वरूप बतलाया गया है। यह त्रैरूप्य लक्ष्मीतन्त्र में भी प्रतिपादित किया गया है–

त्रैरूप्येण जगन्नाथः समुदेति जगद्धिते।
आद्येन पररूपेण व्यूहरूपेण चाऽप्यथ।
तथा विभवरूपेण नानाभावमुपेयुषा।।[4]

लक्ष्मीतन्त्र में ही इसके पूर्व 'अर्चा' रूप को सम्मिलित करके चातूरूप्य का भी प्रतिपादन किया गया है–

पराद्यर्चाऽवतारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये।[5]

अतः यदि पाञ्चरूप्य पाञ्चरात्र-सञ्ज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त होता तो प्रसिद्ध पाञ्चरात्रसंहिताओं में पाञ्चरूप्य के स्थान पर त्रैरूप्य अथवा चातूरूप्य का प्रतिपादन दृष्टिगोचर न होता।

---

1. तत्रैव, 56
2. विष्वक्सेनसंहिता, (ईश्वरप्रकरण-वरवरमुनिभाष्य में उदाहृत)
3. सात्वसंहिता, 1.23
4. लक्ष्मीतन्त्र, 10.10.11
5. तत्रैव, 2.60

7. पञ्चरा-संज्ञक मनुष्यों का परिपालन

विश्वामित्रसंहिता में पाञ्चरात्र-शब्द के तीन अर्थ बताये गये हैं। यहाँ सर्वप्रथम प्रथम अर्थ को विमर्श का विषय बनाया जा रहा है। पञ्च शब्द के अर्थ का विवेचन करते हुए कहा गया है–

पञ्चेन्द्रियाणि विषयाः पञ्चभूतानि तद्गुणः।
पञ्चशब्दाभिधेयानि विद्वांसोऽप्याचचक्षिरे।।[1]

अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ, पाँच विषय, पाँच भूत और पाँच गुण–ये 'पञ्च' शब्द से वाच्य हैं। इसके पश्चात् 'रा' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है–

रा इत्ययमपि प्रोक्तो धातुरादानवाचकः।।
विषयेन्द्रियभूतानामादातारश्च पञ्चराः।
मनुष्याः पालनात्तेषां पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।[2]

'रा' धातु धातुपाठों में आदानार्थक माना गया है। इस प्रकार 'पञ्चरा' शब्द का अर्थ होता है–'विषयेन्द्रियभूतानामादातारः' अर्थात् मनुष्य। पञ्चरा-संज्ञक मनुष्यों का परिपालन करने के कारण इस शास्त्र को पञ्चरात्र या पाञ्चरात्र कहा गया है। इस अर्थ के साधुत्व अथवा असाधुत्व के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। 'पञ्चरा' यह मनुष्यों की संज्ञा व्याकरण की दृष्टि से किसी प्रकार यदि सिद्ध हो भी जाए तो भी वह सर्वथा अप्रसिद्ध है। अतएव यह हठादाकृष्ट अर्थ सर्वथा उपेक्षणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वामित्रसंहिता को स्वयं इस अर्थ में पूर्ण विश्वास नहीं। इसी कारण वह इस अर्थ का प्रतिपादन करने के पश्चात् विकल्प से दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करती है।

8. इतर पाँच शास्त्रों का रात्रित्व

पाँचरात्र शास्त्र के समक्ष अन्य पाँच शास्त्र रात्रित्व को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मलिन हो जाते हैं, इस कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहते हैं। विश्वामित्रसंहिता में यह अर्थ इन शब्दों में व्यक्त किया गया है–

सांख्ययोगादयः पञ्च रात्रीयन्तेऽस्य सन्निधौ।
तस्माद्वा पञ्चरात्रार्थः प्रोच्यते सूरिसत्तमैः।।

---

3. विश्वामित्रसंहिता, 2.3, 4
1. तत्रैव, 2.4-5

अथवा रात्रयो यद्वत् सन्निधौ पञ्चताय वै।
नीयन्ते तद्वदन्यानि शास्त्राण्येतस्य सन्निधौ।।
इति वा पञ्चरात्रार्थो विद्वद्भिः कथ्यते द्विज।[1]

यही अर्थ अनिरुद्धसंहिता में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है।

सांख्ययोगादिशास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि।
तत्सन्निधौ समाख्याऽसौ तेन लोके प्रवर्तते।।
चन्द्रतारागणं तद्वत् शोभते नैव वासरे।
तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवाऽस्य सन्निधौ।।
पञ्चत्वमथवा यद्वत् दीप्यमाने दिवाकरे।
ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वद् इतराणि तदन्तिके।।
तस्मात् पाञ्चरात्राख्यं ब्रह्मलोके महीयते।[2]

इसी प्रकार की शब्दावली में यही अर्थ पाद्मसंहिता में भी प्रतिपादित हुआ है।[3] सांख्ययोगादि वे पाँच शास्त्र कौन से हैं जो पाञ्चरात्र-शास्त्र की सन्निधि में रात्रित्व को प्राप्त हो जाते हैं-इसको स्पष्ट शब्दों में कहीं-कहीं कहा गया है। यहाँ सांख्य तथा योग का तो स्पष्ट रूप से कथन किया गया है किन्तु तीन अन्य शास्त्र कौन से हैं यह स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः उपर्युदाहृत वचन पाञ्चरात्र-शास्त्र के उत्कर्ष का प्रतिपादक-मात्र हैं।

9. अज्ञान की विनाशकता

अज्ञान-विनाशक होने के कारण भी इस शास्त्र को पञ्चरात्र कहा गया है। श्रीप्रश्नसंहिता का कहना है कि पञ्चरात्र-शब्द में स्थित रात्रि शब्द का अर्थ अज्ञान है और पञ्च शब्द का अर्थ है विनाशक-

रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पञ्चेत्यज्ञाननाशकम्।
तच्छास्त्रं पञ्चरात्रं स्यादन्वर्थस्यानुरोधतः।।[4]

इस प्रकार श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार पञ्चरात्र शब्द का अर्थ है-'अज्ञान को नष्ट करने वाला।' यह भी एक बलपूर्वक आकृष्ट अर्थ है।

1. तत्रैव, 6-8
2. अनिरुद्धसंहिता, 1.35-38 (भार्गवतन्त्र-भूमिका, पृ. ठ पर उदाहृत)
3. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, 1.72-74
4. श्रीप्रश्नसंहिता, 2.40

10. रात्र-संज्ञक पाँच परिच्छेदों का समावेश

भारद्वाजसंहिता नाम की अनेक पाञ्चरात्र-संहिताएँ हैं। इनमें से किसी एक भारद्वाजसंहिता में यह कहा गया है कि रात्र-संज्ञक पाँच परिच्छेदों से युक्त होने के कारण इस शास्त्र को पञ्चरात्र कहते हैं–

प्रथमं ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम्।
तृतीयमिन्द्ररात्रं तु चतुर्थं नागरात्रकम्।।
एवं ज्ञातमृषिश्रेष्ठ पाञ्चरात्रं पुरा युगे।
पञ्चममृषिरात्रं तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।[1]

यहाँ पर 1. ब्रह्मरात्र, 2. शिवरात्र, 3. इन्द्ररात्र, 4. नागरात्र तथा 5. ऋषिरात्र–इन पाँच परिच्छेदों का उल्लेख किया गया है। सनत्कुमारसंहिता अपूर्ण ही उपलब्ध होती है। इस संहिता में भी रात्र नामक परिच्छेद प्राप्त होते हैं। किन्तु प्राप्त होने वाले परिच्छेदों की संख्या चार ही है। यथा–1. ब्रह्मरात्र, 2. शिवरात्र, 3. इन्द्ररात्र और 4. ऋषिरात्र। भारद्वाजसंहिता में कहा गया 'नागरात्र' यहाँ उपलब्ध नहीं होता। अतः सनत्कुमारसंहिता के अप्राप्त परिच्छेद का नाम 'नागरात्र' होना चाहिए।

यद्यपि यह मत तर्कसंगत प्रतीत होता है तथापि यह प्रश्न बना ही रहता है कि यदि रात्र नामक परिच्छेदों में विभक्त होने के कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहते हैं तो क्या कारण है कि यह विभाग अन्य संहिताओं में नहीं स्वीकार किया गया।

11. पञ्चकाल का प्रतिपादन

पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय में पञ्चकाल-विभाग का अत्यन्त महत्त्व है। अहोरात्र का प्रत्येक क्षण भगवान् के लिए समर्पित हो इस भावना से अहोरात्र को पाँच भागों में विभाजित किया गया है, किन्तु यह पञ्चकाल-विभाग पञ्चरात्र-संज्ञा के हेतु के रूप में संहिताओं में उपलब्ध नहीं होता। इस अर्थ के विषय में वेदान्तदेशिक विशेष रूप से श्रद्धालु दिखायी देते हैं। उनके पाञ्चरात्ररक्षा नामक ग्रन्थ का यह उपसंहारात्मक श्लोक द्रष्टव्य है–

विदितनिगमसीम्ना वेङ्कटेशेन तत्तद्
बहुसमयसमक्षं बद्धजैत्रध्वजेन।

---

1. भारद्वाजसंहिता, 2.12, 13 (भार्गवतन्त्र-भूमिका, पृ. ठ पर उदाहृत)

प्रतिपदमवधानं पुष्यतां सात्त्विकानां,
परिषदि विहितेयं पञ्चकालस्य रक्षा।।[1]

श्रीवेदान्तदेशिक के ग्रन्थ का नाम है पाञ्चरात्ररक्षा। ग्रन्थ के नाम के अनुरूप ही उपसंहार को भी होना चाहिए-'विहितेयं पञ्चरात्रस्य रक्षा', इस रूप में। ऐसा न कहकर श्रीदेशिक कहते हैं-'विहितेयं पञ्चकालस्य रक्षा।' ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में पञ्चरात्र और पञ्चकाल शब्द समानार्थक ही हैं। पञ्चरात्र के साथ पञ्चकाल का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। श्रीदेशिक के ही शब्दों में-

पञ्चकालव्यवस्थित्यै वेङ्कटेशविपश्चिता।
श्रीपाञ्चरात्रसिद्धान्तव्यवस्थेयं समर्थिता।।[2]

श्रीदेशिक सर्वत्र प्रामाणिक विषय का ही प्रतिपादन करते हैं। अतः ऐसा कोई शास्त्र-वचन अवश्य होना चाहिए जिसमें पाञ्चरात्र और पञ्चकाल का सम्बन्ध बताया गया हो। किन्तु ऐसा कोई शास्त्र-वचन उपलब्ध नहीं हो सका है, अथवा यह भी हो सकता है कि श्री वेदान्तदेशिक का उपर्युक्त कथन पाञ्चरात्र-शब्द के अर्थ से निरपेक्ष एक सामान्य उक्ति हो। डैनियल स्मिथ के अनुसार अनुपलब्ध पराशरसंहिता में पञ्चकाल के साथ पाञ्चरात्र का सम्बन्ध बताया गया है।[3]

12. पञ्चसंस्कार का प्रतिपादन

1. ताप, 2. पुण्ड्र, 3. नाम, 4. मन्त्र और 5. याग-ये वैष्णवों के पाँच संस्कार हैं। पराशरसंहिता के अनुसार पाञ्चरात्र-शब्द के अर्थ का पञ्चसंस्कारों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पराशरसंहिता 1998 में बैंगलूर से तेलगु लिपि में मुद्रित हुई थी जो आज अनुपलब्ध है। किन्तु इसका विवरण डैनियल स्मिथ ने अपनी पुस्तक में विस्तार से दिया है।[4] पञ्चसंस्कारों का पाञ्चरात्र-परम्परा के प्राचीन सन्दर्भों में उल्लेख न होने से पाञ्चरात्र के अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध एक कल्पना-मात्र है।

---

1. पाञ्चरात्ररक्षा, पृ. 154
2. तत्रैव, पृ. 108
3.- A discriptive Bibliography of the Printed Texts of the Pāñcarātrāgama, Vol, p. 188
4. "..... by the time this text was written the meaning of the term" Pāñcarātra" had come to be associated solely with the practice of undergoing the "Pāñcasaṅskāra" rites and observing the "Pañcakāla" periods evidently a late interpretation."
—A discriptive Bibliography of the Printed texts of the Pāñcarātrāgama. Vol., 1 page 188.

13. सांख्य-योग आदि के द्वारा प्राप्त आनन्द को प्रदान करना

शाण्डिल्यसंहिता में 1. सांख्य, 2. योग, 3. शैव, 4. वेद तथा 5. आरण्यक-इन पाँच शास्त्रों को रात्रि कहा गया है। इन पाँचों शास्त्रों का इष्ट अर्थ आनन्द जिस शास्त्र में प्राप्त होता है उसे पाञ्चरात्र कहते हैं-

सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदारण्ये च पञ्चकम्।
प्रोच्यते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात्।।
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र समवाप्यते।
. . . . .
प्रपञ्चातीतसद्धर्मं पञ्चरात्रमुदाहृतम्।।[1]

इस स्थल को देखकर महाभारत के निम्नलिखित वचन का स्मरण सहज ही है-

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च।
परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यते।।[2]

यहाँ 1. सांख्य, 2. योग, 3. वेद, 4. आरण्यक-यह चार शास्त्र पाञ्चरात्र के अंग कहे गये हैं। यदि पाँच शास्त्र कहे गये होते तो उनका सम्बन्ध पाँचरात्र के साथ अधिक उपयुक्त होता। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर जिस एक शास्त्र का उल्लेख नहीं है वह शाण्डिल्यसंहिता में कहा गया शैव-शास्त्र ही है।

14. जे. गोण्डा ने इन मतों के अतिरिक्त वान व्यूतनेन की स्थापना की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें उन्होंने बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसङ्ग्रह तथा विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा में प्रयुक्त पञ्चरात्रिक तथा रात्रि-पञ्चत्रम् प्रयोगों के आधार पर कहा है कि सम्भवतः प्राचीन पाञ्चरात्र मानने वाले ज्ञान के अन्वेषक थे और वानप्रस्थ-आश्रम में रहते थे।[3]

---

1. शाण्डिल्यसंहिता, 1.4.77
2. महाभारत, शान्ति., 348.81, 82
3- "..... Van Buitenen, who, rightly emphasizing that the old pāñcarātra adepts probably were seekers after wisdom and enlightenment setting down in semi retirement, drew attention to the use of the terms pāñcarātrika and rātripañcatram in connexion with an ascetic custom viz the wandering of five nights (one night in a village five nights in a town)" A History of Indian literature (Medieval Religious literature in Sanskrit), pp. 46-47.

इस प्रकार शास्त्रों में जिन मतों का प्रतिपादन किया गया उन सबको संग्रहीत करने का यथासम्भव यहाँ प्रयास किया गया है। इन मतों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाञ्चरात्र-शब्द का अर्थ प्राचीनता के गर्भ में इस प्रकार विलीन हो गया है कि स्वयं पाञ्चरात्र-संहिताएँ ही इस विषय में भ्रान्त हीं प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि वे एक मत से किसी एक निश्चित तथा असन्दिग्ध अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर पायी हैं। जिन अर्थों का प्रतिपादन किया ग़या है वे हठाद् आकृष्ट तथा क्लिष्ट-कल्पना से उद्भावित से प्रतीत होते हैं। हाँ, डॉक्टर श्रेडर महोदय ने शतपथ-ब्राह्मण के जिस स्थल का उल्लेख किया है वह अवश्य विचारणीय है। वहाँ पञ्चरात्र-क्रतु तथा उसके अनुष्ठाता के रूप में पुरुष-नारायण का उल्लेख किया है। यह नारायण इस पाञ्चरात्र-शास्त्र के भी आद्य उपदेशक हैं। इस स्थल से प्रसिद्ध पुरुषसूक्त की स्मृति हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि शतपथब्राह्मण में निर्दिष्ट पञ्चरात्र-क्रतु का पाञ्चरात्रशास्त्र के आरम्भिक रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसी पञ्चरात्र-क्रतु में ही पाञ्चरात्रसंज्ञा का रहस्य भी छिपा हुआ प्रतीत होता है।

चतुर्थ-अध्याय

पाञ्चरात्रागम-साहित्य

पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की उपदेश-परम्परा

पारमेश्वर-संहिता में ब्रह्मा के सात जन्मों में पृथक्-पृथक् रूप से पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के उपदेश का उल्लेख प्राप्त है। ब्रह्मा के सात जन्म इस प्रकार हैं–1. मानस, 2. चाक्षुष, 3. वाचिक, 4. श्रावण, 5. नासिक्य, 6. अण्डज तथा 7. पङ्कज।[1] यही सात जन्म महाभारत में भी गिनाए गये हैं।[2] इन सातों जन्मों में पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की उपदेश-परम्परा का महाभारत में विशद वर्णन उपलब्ध होता है। यथा–[3]

1. मानस-जन्म :

नारायण-फेनप ऋषिगण-वैखानस-सोम। तदनन्तर यह धर्म लुप्त हो गया।

2. चाक्षुष-जन्म :

सोम-ब्रह्मा-रुद्र-बालखिल्य-ऋषिगण। इसके पश्चात् यह धर्म लुप्त हो गया।

3. वाचिक-जन्म :

नारायण-सुपर्ण ऋषि-वायु-विघसाशी ऋषिगण-महोदधि। इस के पश्चात् यह धर्म लुप्त होकर पुनः नारायण में विलीन हो गया।

---

1. ब्रह्मणो मानसं जन्म प्रथमं चाक्षुषं स्मृतम्।
   द्वितीयं वाचिकं वान्यच्चतुर्थं श्रोत्रसम्भवम्।।
   नासिक्यमपरं वान्यदण्डजं पङ्कजं तथा।' (पारमेश्वरसंहिता, 1.38-39)
2. महाभारत, शान्ति, 347.40-43
3. तत्रैव, 348.13-52

4. श्रावण-जन्म :

नारायण-ब्रह्मा-स्वारोचिष मनु-शंखपद-सुवर्णाभ। तत्पश्चात् पुनः यह धर्म लुप्त हो गया।

5. नासिक्य-जन्म :

नारायण-ब्रह्मा-सनत्कुमार-वीरण प्रजापति-रैभ्य मुनि-कुक्षि। नारायण मुखोद्गत यह धर्म पुनः विलुप्त हो गया।

6. अण्डज-जन्म :

नारायण-ब्रह्मा-बर्हिषद् मुनिगण-ज्येष्ठ-अविकम्पन। इसके पश्चात् यह भागवत धर्म पुनः विलुप्त हो गया।

7. पङ्कज-जन्म :

नारायण-ब्रह्मा-दक्ष प्रजापति-आदित्य-विवस्वान्-मनु-इक्ष्वाकु। क्षयान्त में यह धर्म पुनः नारायण को प्राप्त हो जायेगा।

वर्तमान सृष्टि पङ्कज ब्रह्मा की है। अतः उपर्युक्त उपदेश-परम्परा वर्तमान युग में प्रवर्तमान भागवत-धर्म की ही है। पारमेश्वरसंहिता में इस परम्परा को सम्भवतः कुछ संक्षिप्त कर दिया गया है। यथा–

सप्तमे पङ्कजे सर्गे प्राप्तो भगवतस्तथा।।
विवस्वता ततः प्राप्तो मनुनेक्ष्वाकुणा ततः।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।।[1]

एतदनुसार यह धर्म नारायण-विवस्वान्-मनु-इक्ष्वाकु की परम्परा से उपदिष्ट होता हुआ इस लोक में व्याप्त हो गया। पारमेश्वरसंहिता में प्रतिपादित ब्रह्मा के पङ्कज-जन्म की शास्त्रोपदेश-परम्परा का ही गीता में भी उल्लेख किया गया है। यथा–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।[2]

---

1. पारमेश्वरसंहिता, 1.41, 42
2. श्रीमद्भगवद्गीता, 4.1

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि उपर्युक्त गीता-वचन में कहा गया योग शब्द किसी अन्य शास्त्र का वाचक है। पारमेश्वरसंहिता में पूर्वोक्त उपदेश-परम्परा बतलाने के पूर्व इस शास्त्र की योग-संज्ञा का भी निर्देश किया गया है-

एष कार्तयुगो धर्मः निराशीः कर्मसंज्ञितः।
योगाख्यो योगधर्माख्यः शास्त्राख्यश्च समागमः।
प्रवर्त्यते भगवता प्रथमे प्रथमे युगे।।[1]

इससे यह स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है कि भगवद्गीता पाञ्चरात्र और भागवत धर्म का ही व्याख्यान-ग्रन्थ है।

पाञ्चरात्र-साहित्य

पाञ्चरात्र-आगम साहित्य का आयाम अत्यन्त विस्तृत है। पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थों में एक सौ आठ संहिता-ग्रंथों की संख्या बतायी गयी है।[2] सम्भवतः इसका कारण है एक सौ आठ की संख्या को परम्परा में शुभ माना जाना। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पाञ्चरात्र-संहिताओं की संख्या एक सौ आठ ही है। एक सौ आठ की संख्या घोषित करके वस्तुतः गिनायी जाने वाली संहिताओं की संख्या कभी उससे अधिक हो जाती है।[3] सर्वप्रथम डॉ. ओटो श्रेडर ने अनेक संहिताओं में गिनायी गयी संहिताओं के आधार पर उनकी वास्तविक संख्या को निर्धारित करने का प्रयास किया। उन्होंने कपिञ्जल संहिता में गिनायी गयी 106, पाद्मतन्त्र में गिनायी गयी 112, विष्णुतन्त्र में गिनायी गयी 141, हयशीर्ष-संहिता में गिनायी गयी 34, तथा अग्निपुराण में गिनायी

---

1. पारमेश्वरसंहिता, 1.35, 36
2. 'शतमेकमथाष्टौ च पुराणे कण्व शुश्रुम।
नामधेयानि चैतेषां श्रूयतां कथ्यते मया।।' (पद्मसंहिता, ज्ञानपाद, 1.98)
'इत्येवमुक्तं तन्त्राणां शतमष्टोत्तरं मुने।' (विश्वामित्रसंहिता, 2.33)
3.- 'Now, in the case of the Pāñcarātra, tradition mentions one hundred and eight Saṁhitās and in a few texts about this number are actually emumerated such lists coquetting with the sacred number 108, are of course, open to suspicion. The fact, however, that none of the available list of the samhitas including those which pretend to give 108 names actually conforms to this number but all of them emumerate either more names or less....' Introduction to Pāñcarātra and Ahirbudhnya saṁhitā, pp. 3, 4.

गयी 25 संहिताओं के आधार पर एक विस्तृत सूची तैयार की है।[1] एतदनुसार पाञ्चरात्र-आगम-ग्रन्थों की संख्या 210 है। डॉ. श्रेडर के अनुसार यदि अन्य उपलब्ध संहिताओं को इनमें सम्मिलित कर लिया जाये तो यह संख्या 215 हो जाएगी।[2] यदि उदाहृत और उल्लिखित संहिताओं को भी ले लिया जाए तो 9 संख्याओं की वृद्धि होकर यह संख्या 224 तक पहुँच जाएगी।

डॉ. श्रेडर के समान ही अड्यार पुस्तकालय से प्रकाशित लक्ष्मीतन्त्र के उपोद्घात में सम्पादक पण्डित वी. कृष्णमाचार्य ने पाद्मसंहिता, मार्कण्डेय-संहिता, कपिञ्जलसंहिता सूचियों के आधार पर पाञ्चरात्र-संहिताओं के नामों की एक सूची तैयार की है। इस सूची में गिनायी गयी संहिताओं की संख्या 219 है। यह संख्या पाञ्चरात्ररक्षा इत्यादि ग्रन्थों में उल्लिखित नामों को भी सम्मिलित कर लेने पर बढ़कर 225 हो गयी है।[3]

एच. डैनियल स्मिथ ने अपने ग्रन्थ 'ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लियोग्राफी ऑफ दि प्रिण्टेड टेक्स्ट्स आफ दि पाञ्चरात्रागमाज़' में सभी प्रकाशित पाञ्चरात्र-संहिताओं का अध्यायों के क्रम से विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। जिन संहिताओं में पाञ्चरात्र-संहिताओं में पाञ्चरात्र-ग्रन्थों की नामावली प्राप्त होती है उनकी सूची विवरण के बाद पृथक् से दे दी गयी है। इन सूचियों को देखने से ज्ञात होता है कि डॉ. श्राडर तथा पण्डित वी. कृष्णमाचार्य किन्हीं कारणों से पुरुषोत्तमसंहिता तथा विश्वामित्रसंहिता में दी गयी सूचियों[4] का उपयोग अपनी वृहत् सूची में नहीं कर सके हैं। यदि उन्होंने उपयोग किया होता तो उनके द्वारा गिनायी गयी संहिताओं की संख्या में कुछ वृद्धि अवश्य हो गयी होती। कम से कम दस संहिताएं उनकी सूची में और जुड़ जातीं। यदि किसी अन्य नाम से ये संहिताएं उनकी सूची में सम्मिलित नहीं हुई हैं तो निम्नलिखित दस नाम भी उस सूची में जुड़ जायेंगे-

1. अमृत (विश्वामित्रसंहिता-सूची)
2. कल्कि (विश्वामित्रसंहिता-सूची)

---

1. 'The kapiñjala list (first column) comprises 106 names, the list of Pādma Tantra (second column) 112, that of Viṣṇu Tantra (third column) 141, that of Hayaśirṣa saṁhitā (forty column) 34, and that found in the 39th adhyaya of Agni (Agneya) Purāṇa only 25.'
2. तत्रैव, पृ० 6.22
3. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ० 10-13
4- A Descriptive Bibliography of the Pāñcarātrāgamas, pp. 275, 276, 383, 384.

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि उपर्युक्त गीता-वचन में कहा गया योग शब्द किसी अन्य शास्त्र का वाचक है। पारमेश्वरसंहिता में पूर्वोक्त उपदेश-परम्परा बतलाने के पूर्व इस शास्त्र की योग-संज्ञा का भी निर्देश किया गया है-

एष कार्तयुगो धर्मः निराशीः कर्मसंज्ञितः।
योगाख्यो योगधर्माख्यः शास्त्राख्यश्च समागमः।
प्रवर्त्यते भगवता प्रथमे प्रथमे युगे।।[1]

इससे यह स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है कि भगवद्गीता पाञ्चरात्र और भागवत धर्म का ही व्याख्यान-ग्रन्थ है।

पाञ्चरात्र-साहित्य

पाञ्चरात्र-आगम साहित्य का आयाम अत्यन्त विस्तृत है। पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थों में एक सौ आठ संहिता-ग्रंथों की संख्या बतायी गयी है।[2] सम्भवतः इसका कारण है एक सौ आठ की संख्या को परम्परा में शुभ माना जाना। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पाञ्चरात्र-संहिताओं की संख्या एक सौ आठ ही है। एक सौ आठ की संख्या घोषित करके वस्तुतः गिनायी जाने वाली संहिताओं की संख्या कभी उससे अधिक हो जाती है।[3] सर्वप्रथम डॉ. ओटो श्रेडर ने अनेक संहिताओं में गिनायी गयी संहिताओं के आधार पर उनकी वास्तविक संख्या को निर्धारित करने का प्रयास किया। उन्होंने कपिञ्जल संहिता में गिनायी गयी 106, पाद्मतन्त्र में गिनायी गयी 112, विष्णुतन्त्र में गिनायी गयी 141, हयशीर्ष-संहिता में गिनायी गयी 34, तथा अग्निपुराण में गिनायी

---

1. पारमेश्वरसंहिता, 1.35, 36
2. 'शतमेकमथाष्टौ च पुराणे कण्व शुश्रुम।
नामधेयानि चैतेषां श्रूयतां कथ्यते मया।।' (पद्मसंहिता, ज्ञानपाद, 1.98)
'इत्येवमुक्तं तन्त्राणां शतमष्टोत्तरं मुने।' (विश्वामित्रसंहिता, 2.33)
3.- 'Now, in the case of the Pāñcarātra, tradition mentions one hundred and eight Saṁhitās and in a few texts about this number are actually emumerated such lists coquetting with the sacred number 108, are of course, open to suspicion. The fact, however, that none of the available list of the samhitas including those which pretend to give 108 names actually conforms to this number but all of them emumerate either more names or less....' Introduction to Pāñcarātra and Ahirbudhnya saṁhitā, pp. 3, 4.

गयी 25 संहिताओं के आधार पर एक विस्तृत सूची तैयार की है।[1] एतदनुसार पाञ्चरात्र–आगम–ग्रन्थों की संख्या 210 है। डॉ. श्रेडर के अनुसार यदि अन्य उपलब्ध संहिताओं को इनमें सम्मिलित कर लिया जाये तो यह संख्या 215 हो जाएगी।[2] यदि उदाहृत और उल्लिखित संहिताओं को भी ले लिया जाए तो 9 संख्याओं की वृद्धि होकर यह संख्या 224 तक पहुँच जाएगी।

डॉ. श्रेडर के समान ही अड्यार पुस्तकालय से प्रकाशित लक्ष्मीतन्त्र के उपोद्घात में सम्पादक पण्डित वी. कृष्णमाचार्य ने पाद्मसंहिता, मार्कण्डेय–संहिता, कपिञ्जलसंहिता सूचियों के आधार पर पाञ्चरात्र–संहिताओं के नामों की एक सूची तैयार की है। इस सूची में गिनायी गयी संहिताओं की संख्या 219 है। यह संख्या पाञ्चरात्ररक्षा इत्यादि ग्रन्थों में उल्लिखित नामों को भी सम्मिलित कर लेने पर बढ़कर 225 हो गयी है।[3]

एच. डैनियल स्मिथ ने अपने ग्रन्थ 'ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लियोग्राफी ऑफ दि प्रिण्टेड टेक्स्ट्स आफ [illegible]ञरात्रागमाज़' में सभी प्रकाशित पाञ्चरात्र–संहिताओं का अध्यायों के क्रम से विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। जिन संहिताओं में पाञ्चरात्र–संहिताओं में पाञ्चरात्र–ग्रन्थों की नामावली प्राप्त होती है उनकी सूची विवरण के बाद पृथक् से दे दी गयी है। इन सूचियों को देखने से ज्ञात होता है कि डॉ. श्राडर तथा पण्डित वी. कृष्णमाचार्य किन्हीं कारणों से पुरुषोत्तमसंहिता तथा विश्वामित्रसंहिता में दी गयी सूचियों[4] का उपयोग अपनी वृहत् सूची में नहीं कर सके हैं। यदि उन्होंने उपयोग किया होता तो उनके द्वारा गिनायी गयी संहिताओं की संख्या में कुछ वृद्धि अवश्य हो गयी होती। कम से कम दस संहिताएं उनकी सूची में और जुड़ जातीं। यदि किसी अन्य नाम से ये संहिताएं उनकी सूची में सम्मिलित नहीं हुई हैं तो निम्नलिखित दस नाम भी उस सूची में जुड़ जायेंगे–

1. अमृत (विश्वामित्रसंहिता–सूची)
2. कल्कि (विश्वामित्रसंहिता–सूची)

---

1. 'The kapiñjala list (first column) comprises 106 names, the list of Pādma Tantra (second column) 112, that of Viṣṇu Tantra (third column) 141, that of Hayaśirṣa saṁhitā (forty column) 34, and that found in the 39th adhyaya of Agni (Agneya) Purāṇa only 25.'
2. तत्रैव, पृ० 6.22
3. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ० 10–13
4- A Descriptive Bibliography of the Pāñcarātrāgamas, pp. 275, 276, 383, 384.

3. कुशल (पुरुषोत्तमसंहिता-सूची)
4. चान्द्रमस (विश्वामित्रसंहिता-सूची)
5. दशोत्तर (पुरुषोत्तमसंहिता-सूची)
6. पावन (पुरुषोत्तमसंहिता-सूची)
7. रुद्र/रौद्राख्य (विश्वामित्रसंहिता-सूची)
8. विष्णुपूर्व (विश्वामित्रसंहिता-सूची)
9. सत्त्व/सत्त्वाख्य (पुरुषोत्तमसंहिता-विश्वामित्रसंहिता-सूचियाँ)
10. साम्बर (विश्वामित्रसंहिता-सूची)

इस प्रकार पाञ्चरात्र-आगम-ग्रन्थों की जिस संख्या तक हम पहुँचते हैं उसे अन्तिम नहीं समझना चाहिए। जैसे-जैसे अप्रकाशित पाञ्चरात्र/संहिताएँ प्रकाश में आएंगी वैसे-वैसे इस संख्या में वृद्धि होने की पर्याप्त सम्भावना है।

पाञ्चरात्र-शास्त्र के भेद

पाञ्चरात्र-संहिताओं में समग्र पाञ्चरात्र-शास्त्र का अनेक प्रकार से विभाजन किया गया है। बाद में पाञ्चरात्ररक्षा आदि ग्रन्थों में उन पर समुचित विचार भी किया गया है। यहाँ पर उन विभाजनों पर स्वल्प प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

(क) वक्तृ-भेद से पाञ्चरात्र-शास्त्र का विभाजन

वक्ता अथवा उपदेशक के आधार पर विभाजन करते हुए पाञ्चरात्र-शास्त्र के तीन प्रकार बताये गये हैं–1. दिव्य, 2. मुनिभाषित तथा 3. पौरुष।[1] ईश्वरसंहिता तथा पारमेश्वरसंहिता में यह विषय विशेष-रूप से प्रतिपादित हुआ है।

1. दिव्य

मूलवेद के अनुसार भगवान् वासुदेव ने अनुष्टुप् छन्दों में जिस शास्त्र का उपदेश किया उसे दिव्य शास्त्र कहते हैं। अथवा जिस रूप में भगवान् वासुदेव ने उपदेश किया है उसी रूप में ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवताओं द्वारा उपदिष्ट अथवा प्रवर्तित शास्त्र को दिव्य शास्त्र कहते हैं। यथा–

---

1. 'तत्र वै त्रिविधं वाक्यं दिव्यं च मुनिभाषितम्।
पौरुषं चारविन्दाक्ष तद्भेदमवधारय।।' (सात्त्वतसंहिता, 22.52, 53)

वासुदेवेन यत्प्रोक्तं शास्त्रं भगवता स्वयम्।
अनुष्टप्छन्दोबन्धेन समासव्यासभेदतः।।
तथैव ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रमुखैश्च प्रवर्तितम्।
लोकेष्वपि च दिव्येषु तद्दिव्यं मुनिसत्तमाः।।[1]

इस दिव्य-कोटि के अन्तर्गत तीन पाञ्चरात्र-संहिताएं गिनायी गयी हैं-1. सात्वत-संहिता, 2. पौष्कर-संहिता तथा 3. जयाख्यसंहिता। यथा-

मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम्।।
दिव्यं सच्छास्त्रजालं तद्...............।[2]

अथवा-

सात्त्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च।।
एवमादीनि शास्त्राणि दिव्यानीत्यवधारय।[3]

यद्यपि उपर्युदाहृत ईश्वरसंहिता के उद्धरण में 'जयाख्येत्येवमादिकम्' पद तथा पारमेश्वरसंहिता के उद्धरण में आये हुए 'तथैव च' पद से ऐसा प्रतीत होता है कि इस कोटि में और संहिताएँ भी आ सकती हैं तथापि सत्य यही है कि दिव्य-कोटि में सात्वत, पौष्कर और जयाख्य इन तीन संहिताओं के अतिरिक्त और कोई संहिता नहीं आ सकी है। अतः पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय में यह तीन संहिताएँ ही सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। यही तीन संहिताएँ प्रामाणिक हैं। यही तीन संहिताएँ रत्नत्रय नाम से प्रसिद्ध हैं।

2. मुनिभाषित

ब्रह्मा, रुद्र आदि देवताओं के द्वारा तथा अन्य ऋषियों के द्वारा जिस शास्त्र की स्वयं रचना की जाती है उस शास्त्र को मुनिभाषित कहा जाता है। पारमेश्वरसंहिता के शब्दों में-

ब्रह्मरुद्रमुखैर्देवैः ऋषिभिश्च तपोधनैः।
स्वयं प्रणीतं यच्छास्त्रं तद्विद्धि मुनिभाषितम्।।[4]

---

1. ईश्वरसंहिता, 1.54, 55, द्रष्टव्य-पारमेश्वरसंहिता, 10.336, 337
2. ईश्वरसंहिता, 1.50, 51
3. पारमेश्वरसंहिता, 10; 376, 377
4. तत्रैव, 338, द्रष्टव्य-ईश्वरसंहिता, 1.56

पुनः इस मुनिभाषित-संज्ञक पाञ्चरात्रशास्त्र के गुणों के भेद से तीन अवान्तर भेद होते हैं–1. सात्त्विक, 2. राजस और 3. तामस–

एतत्तु त्रिविधं विद्धि सात्त्विकादिविभेदतः।[1]

सात्त्विक-मुनिभाषित

पुण्डरीकाक्ष भगवान् वासुदेव से यथास्थित अर्थ को जानकर उस अर्थ के बोधक जिस शास्त्र की रचना की जाती है उसे सात्त्विक मुनिभाषित शास्त्र कहते हैं–

विज्ञाय पुण्डरीकाक्षादर्थजालं यथाऽस्थितम्।
तद्बोधकं प्रणीतं यच्छास्त्रं तत् सात्त्विकं स्मृतम्।।[2]

वेदान्तदेशिक ने पाञ्चरात्ररक्षा-संज्ञक अपने ग्रन्थ में ईश्वरसंहिता, भारद्वाजसंहिता सौमन्तसंहिता, पारमेश्वरसंहिता, वैहायससंहिता, चित्रशिखण्डिसंहिता तथा जयोत्तरसंहिता को सात्त्विकमुनिभाषित-शास्त्र की कोटि में परिगणित किया है।

राजस-मुनिषाषित

भगवान् वासुदेव से एकदेश को सुनकर अन्य भाग का अपने योग की महिमा से सङ्कलन करके ब्रह्मा आदि अथवा ऋषियों के द्वारा अपनी बुद्धि से उन्मीलित अर्थ के बोधक जिस शास्त्र की रचना की जाती है उसे राजस-मुनिभाषित की कोटि में रखा जाता है। यथा–

तस्माज्ज्ञातेऽर्थजाते तु किञ्चित् समवलम्ब्य च।।
स्वबुद्ध्युन्मीलितस्यैव ह्यर्थजातस्य बोधकम्।
यत् प्रणीतं द्विजश्रेष्ठ! तथा विज्ञाय तत्त्वतः।।[3]
ग्रन्थविस्तरसंयुक्तं शास्त्रं सर्वेश्वरेश्वरात्।
तत्संक्षेपप्रसादेन स्वविकल्पविजृम्भणैः।।
ब्रह्मादिभिः प्रणीतं यत् तथा तदृषिभिर्द्विज।।

---

1. तत्रैव, 339, द्रष्टव्य-ईश्वरसंहिता, 1.57
2. तत्रैव, 339, 340, द्रष्टव्य-ईश्वरसंहिता, 57, 58
   तथा, '..........मुनिभापितस्य त्रैविध्यं प्रस्तुत्य, साक्षाद् भगवतः श्रुतार्थमात्र निबन्धनरूपं शास्त्रं सात्त्विकम्।' (पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथम, पृ० 107)
3. तत्रैव।

ब्रह्मादिभ्यः परिश्रुत्य तत्संक्षेपात्मना पुनः।
स्वविकल्पात् प्रणीतं यत् तत्सर्वं विद्धि राजसम्।।[1]

इसके आधार पर वेदान्तदेशिक ने राजस–मुनिभाषित का लक्षण इन शब्दो में प्रतिपादित किया है–

'...भगवतः श्रुतमेकदेशं स्वयोगमहिमसिद्धं चाऽशेषं सङ्कलय्य ब्रह्मादिभिस्तच्छिष्यैश्च प्रणीतं शास्त्रं राजसम् ...।'[2]

वेदान्तदेशिक ने इस कोटि में सनत्कुमारसंहिता, पद्मोद्भवसंहिता, शातातपसंहिता, तेजोद्रवीणसंहिता और मायावैभवसंहिता की परिगणना की है। राजस–मुनिभाषित शास्त्र के पुनः 1. पाञ्चरात्र और 2. वैखानस ये दो भेद बताये गये है।[3]

तामस–मुनिभाषित

ईश्वर के उपदिष्ट अर्थ से निरपेक्ष केवल सत्त्वयोग के द्वारा ब्रह्मा आदि अथवा ऋषिगण जिस शास्त्र की रचना करते हैं उसे तामस–मुनिभाषित शास्त्र कहते हैं। यथा–

'केवलात् स्वविकल्पोक्तैः कृतं यत् तामसं तु तम्।[4]

वेदान्तदेशिक ने तामस मुनिभाषित शास्त्र का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है–

केवलसत्त्वयोगविकल्पोत्थैरर्थैः कृतं शास्त्रं तामसम् ...।[5]

इस कोटि के अन्तर्गत वेदान्तदेशिक ने पञ्चप्रश्न–संहिता, शुकप्रश्न–संहिता तथा तत्त्वसागर–संहिता का स्थान निर्धारित किया है।

इन तीनों मुनिभाषित–शास्त्रों की क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम तथा अधम संज्ञा भी होती है।[6]

---

1. पारमेश्वरसंहिता, 10.340–344; द्रष्टव्य ईश्वरसंहिता, 1.58–62
2. पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथमाः, पृ. 107
3. पारमेश्वरसंहिता, 10.344; ईश्वरसंहिता, 1.62
4. पारमेश्वरसंहिता, 10.345, द्रष्टव्य–केवलं स्वविकल्पोक्तैः कृतं यत्तामसं स्मृतम्।' (ईश्वरसंहिता, 1.63)
5. पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथमा, पृ. 107
6. 'मुनिभाषितेषु त्रिषु शास्त्रेषूत्कृष्टमध्यमाधमसंज्ञानिर्दिष्टेषु' (तत्रैव)

3. पौरुष

केवल मनुष्यों के द्वारा अपनी बुद्धि से जिस शास्त्र की रचना की जाती है उसे पौरुष-शास्त्र कहते हैं। यथा-

'केवलं मनुजैर्यत्तु कृतं तत् पौरुषं भवेत्।[1]

इस प्रकार के शास्त्र में ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र के विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन की बहुत सम्भावना रहती है। अतः पौरुष-शास्त्र का वही अंश ग्राह्य होता है जो ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट दिव्य-शास्त्र का विरोधी न हो-

केवलं पौरुषे वाक्ये तद् ग्राह्यमविरोधि यत्।
केवलं तद्विधानेन न कुर्यात्स्थापनादिकम्।।[2]

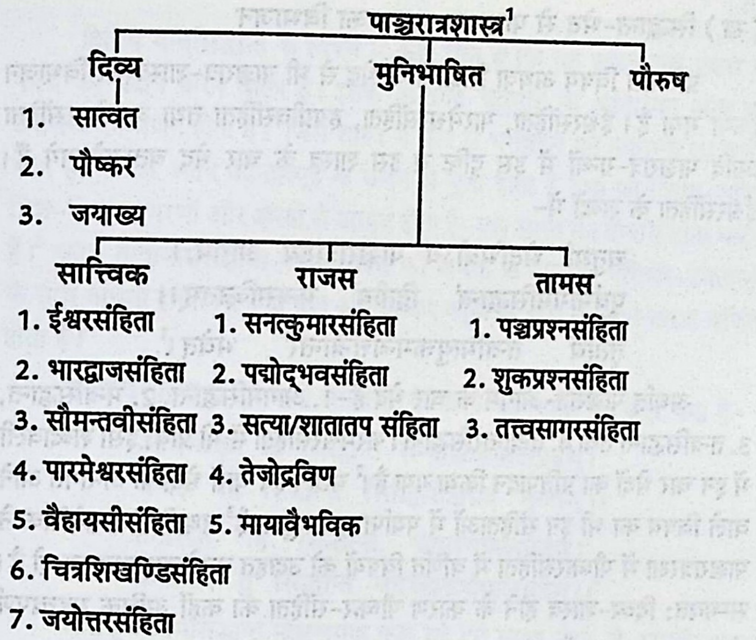
इस वक्तृ-भेद से किये गये विभाजन का अभिप्राय यह है कि पाञ्चशास्त्र का मौलिक अंश तो वही है, जिसका उपदेश स्वयं भगवान् ने किया है। अतः सर्वाधिक प्रामाणिक वही भाग है। शेष शास्त्र में जो मूल-शास्त्र के जिस मात्रा में सन्निकट है उतनी ही मात्रा में वह प्रामाणिक और मान्य है। जिस मात्रा और अंश में वह मूल-शास्त्र से दूर है उतनी ही मात्रा उतने ही अंश में वह अप्रामाणिक और अमान्य होगा। ईश्वर के द्वारा मूलरूप से उपदिष्ट शास्त्र को ही दिव्यशास्त्र कहा गया है। अतः पञ्चरात्र-सम्प्रदाय में सर्वाधिक प्रामाणिक और सम्मान्य दिव्य-शास्त्र ही हैं-

अतो दिव्यात् परतरं नास्ति शास्त्रं मुनीश्वराः।
सात्त्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च।।
एवमादीनि दिव्यानि शास्त्राणि हरिणा स्वयम्।
मूलवेदानुसारेण प्रोक्तानि हितकाम्यया।।[3]

पाञ्चरात्रशास्त्र के इस विभाजन को एक ही दृष्टि में इस रूप में देखा जा सकता है-

---

1. पारमेश्वरसंहिता, 10.345, द्रष्टव्य, ईश्वरसंहिता, 1.63
2. पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथमा, 108
3. ईश्वरसंहिता, 1.64.651



---

1. 'सातवतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च।।
एवमादीनि शास्त्राणि दिव्यानीत्यवधारय।
संहिता चेश्वरस्यापि भरद्वाजस्य संहिता।।
सौमन्तवी तथा ह्येतत् पारमेश्वरसंज्ञितम्।
वैहायसी संहिता च शास्त्रं चित्रशिखण्डिजम्।।
तथा जयोत्तरं तत्र एवमादीनि तत्त्वतः।
सात्त्विकानि विजानीहि मुनिवाक्यानि सत्तम्।
तन्त्रं सनत्कुमाराख्यं तथा पद्मोद्भवाभिधम्।।
सत्यापि तेजोद्रविणं मायावैभविकं तथा।
इत्यादीन्यवगच्छ त्वं राजसान्येव तत्त्वतः।।
पञ्चप्रश्नं शुकप्रश्नं तत्त्वसागरसंहिता।....
इत्यादीन्यवबुद्ध्यस्व तामसानि विशेषतः।' (पारमेश्वरसंहिता, 10.376-382)
द्रष्टव्य-'सातवतपौष्करजयाख्यादीनि शास्त्राणि दिव्यानि, ईश्वरभारद्वाजसौमन्तव-पारमेश्वरचित्रशिखण्डिसंहिताजयोत्तरादीनि सात्त्विकानि,सनत्कुमारपद्मोद्भवशातातपतेजोद्रविणमायावैभविकादीनि राजसानि, पञ्चप्रश्नशुकप्रश्नतत्त्वसागरादीनि तामसानि इति...।'
(पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथमा., पृ. 107)

(ख) सिद्धान्त-भेद से पाञ्चरात्र-शास्त्र का विभाजन

प्रतिपाद्य विषय अथवा सिद्धान्त के भेद से भी पाञ्चरात्र-शास्त्र का विभाजन किया गया है। ईश्वरसंहिता, पारमेश्वरसंहिता, हयग्रीवसंहिता तथा कालोत्तरसंहिता आदि पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में इस दृष्टि से इस शास्त्र के चार भेद बतलाये गये हैं। ईश्वरसंहिता के शब्दों में–

चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः।
पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसञ्ज्ञितम्।।
तृतीयं तन्त्रमित्युक्तमन्यत्तन्त्रान्तरं भवेत्।[1]

अर्थात् पाञ्चरात्र-आगम के चार भेद हैं–1. आगमसिद्धान्त, 2. मन्त्रसिद्धान्त, 3. तन्त्रसिद्धान्त तथा 4. तन्त्रान्तरसिद्धान्त। पारमेश्वरसंहिता में भी प्रायः इसी शब्दावली में इन चार भेदों का प्रतिपादन किया गया है।[2] यद्यपि इन चारों भेदों के अन्तर्गत आने वाले विषय का भी इन संहिताओं में पर्याप्त वर्णन हुआ है[3] तथापि वेदान्तदेशिक ने पाञ्चरात्ररक्षा में पौष्करसंहिता में वर्णित विषयों को उदाहृत करते हुए प्रधानता दी है। सम्भवतः दिव्य-शास्त्र होने के कारण पौष्कर-संहिता का कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होना इसका कारण है।

पौष्करसंहिता के अनुसार जिसमें वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार व्यूहों की कर्तव्य मानकर उपासना की जाती है, जो क्रमागत ब्राह्मणों के द्वारा प्राप्त हो, जिसमें नाना व्यूहों समेत द्वादश मूर्तियों, अन्य मूर्तियों, प्रादुर्भावगण, प्रादुर्भावान्तरगण, लक्ष्मी आदि, दिक्पालों सहित शंख, चक्र, गरुड और अस्त्रों का वर्णन हो उसे आगमसिद्धान्त कहते हैं।[4]

---

1. ईश्वरसंहिता, 21.560, 561
2. पारमेश्वरसंहिता, 19.522, 523
   द्रष्टव्य–'अनेकभेदभिन्नं च पञ्चरात्राख्यमागमम्।
   पूर्वमागमसिद्धान्तं मन्त्राख्यं तदनन्तरम्।।
   तन्त्रं तन्त्रान्तरं चेति चतुर्धा परिकीर्तितम्।' (पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथमा, पृ. 10)
3. ईश्वरसंहिता, 21.561–581; पारमेश्वरसंहिता, 19.524–543
4. कर्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते।
   क्रमागतैः स्वसंज्ञाभिः ब्राह्मणैरागमं तु तत्।।
   विद्धि सिद्धान्तसंज्ञं च तत्पूर्वमथ पौष्कर।
   नानाव्यूहसमेतं च मूर्तिद्वादशकं हि तत्।।

द्वितीय मन्त्रसिद्धान्त के विषय में कहा गया है कि यह शास्त्र सब प्रकार के फलों को प्रदान करने वाला है। इसके अन्तर्गत चतुर्मूर्ति के अतिरिक्त अन्य की उपासना का वर्णन होता है।[1] जिस शास्त्र में मन्त्र से भगवद्रूप की उपासना का वर्णन होता है, जो श्री आदि कान्ताव्यूह के वर्णन से युक्त होता है तथा जो विग्रह–सहित भिन्न–भिन्न आभरणों और अस्त्रों से आवृत होता है–उस शास्त्र को तन्त्रसिद्धान्त कहते हैं।[2] चतुर्थ तन्त्रान्तरसिद्धान्त में अधिकारी की क्षमता के अनुसार परिवार–देवताओं के साथ अथवा इनके बिना दो तीन अथवा चार व्यूहों के योग से ध्यान करना वर्णित होता है।[3]

हयग्रीवसंहिता में इन चारों सिद्धान्तों के फलों को बताते हुए कहा गया है–

आगमाख्यं हि सिद्धान्तं सन्मोक्षैकफलप्रदम्।
मन्त्रज्ञं हि सिद्धान्तं सिद्धिमोक्षप्रदं नृणाम्।।
तन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
तन्त्रान्तरं तु सिद्धान्तं वाञ्छितार्थफलप्रदम्।।[4]

अर्थात् आगमसिद्धान्त मोक्षनामक फल को देने वाला होता है, मन्त्रसिद्धान्त सिद्धि और मोक्ष का प्रदाता होता है, तन्त्रसिद्धान्त से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी

तथा मूर्त्यन्तरयुतं प्रादुर्भावगणं हि यत्।
प्रादुर्भावान्तरयुतं धृतं हृत्पद्मपूर्वके।।
लक्ष्म्यादिशंखचक्राक्ष्यगारुत्म्यसदिगीश्वरैः।
सगणैरस्त्रनिष्ठैश्च तद्विद्धि कमलोद्भव।।
(पौष्करसंहिता से पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथमा, पृ. 96 पर उदाहृत)

1. 'मन्त्रसिद्धान्तसंज्ञं च शास्त्रं सर्वफलप्रदम्।
विना मूर्तिचतुष्केण यत्रान्यदुपचर्यते।। (तत्रैव)
2. 'मन्त्रेण भगवद्रूपं केवलं वाङ्गसंवृतम्।
युक्तं श्रियादिकेनैव कान्ताव्यूहेन पौष्कर।।
भिन्नैराभरणैरस्त्रैरावृतं च सविग्रहैः।
तन्त्रसंज्ञं हि तच्छास्त्रं परिज्ञेयं हि चाब्जज।।' (तत्रैव)
3. 'मुख्यानुवृत्तिभेदेन यत्र सिंहादयस्तु वै।
चतुस्त्रिद्व्यादिकेनैव योगेनाभ्यर्थितेन तु।।
संवृताः परिवारेण स्वेन स्वेनोत्थितास्तु वा।
यच्छक्त्याराधितं सर्वं सिद्धि तन्त्रान्तरं तु तत्।।' (तत्रैव)
4. तत्रैव।

फलों की प्राप्ति होती है तथा तन्त्रान्तरसिद्धान्त से वाञ्छितार्थ रूपी फल की प्राप्ति होती है।

श्रीकरसंहिता के आधार पर वेदान्तदेशिक इन चारों भेदों की दूसरी संज्ञाओं की सूचना देते हैं। एतदनुसार आगमसिद्धान्त की वेदसिद्धान्त, मन्त्रसिद्धान्त की दिव्यसिद्धान्त, तन्त्रसिद्धान्त की तन्त्रसिद्धान्त तथा तन्त्रान्तरसिद्धान्त की पुराणसिद्धान्त संज्ञाएँ होती हैं।[1]

इसी प्रकार कालोत्तरसंहिता में इन चारों भेदों की अन्य संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है। एतदनुसार आगमसिद्धान्त की स्वयंव्यक्त, मन्त्रसिद्धान्त की दिव्य, तन्त्रसिद्धान्त की सैद्ध तथा तन्त्रान्तरसिद्धान्त की आर्ष संज्ञाएँ होती हैं। यथा,

चतुर्धा भेदभिन्नं च स्वयंव्यक्तादिभेदतः।
स्वयंव्यक्तं हि सिद्धान्तमागमाख्यं पुरोदितम्।।
मन्त्रसिद्धान्तसंज्ञं यत्तद्दिव्यं परिकीर्तितम्।
तन्त्रसंज्ञं हि यच्छास्त्रं तत्सैद्धं समुदाहृतम्।।
तन्त्रान्तरं यत्प्रोक्तमार्षं तु तदुदाहृतम्।[2]

इस प्रकार सिद्धान्त-भेद से पाञ्चरात्रशास्त्र के चातुर्विध्य की विभिन्न संज्ञाओं को इस रूप में समझा जा सकता है–

1. आगम सिद्धान्त	वेदसिद्धान्त	स्वयंव्यक्तसिद्धान्त
2. मन्त्र-सिद्धान्त	दिव्यसिद्धान्त	दिव्य-सिद्धान्त
3. तन्त्र-सिद्धान्त	तन्त्रसिद्धान्त	सैद्ध-सिद्धान्त
4. तन्त्रान्तर-सिद्धान्त	पुराणसिद्धान्त	आर्ष-सिद्धान्त

(ग) गुण-वेद से पाञ्चरात्र-शास्त्र का विभाजन

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति में नारायणसंहिता की एक हस्तलिखित प्रति (संख्या 579) संरक्षित है। डॉ. राघव प्रसाद चौधरी ने अपने ग्रन्थ 'पाञ्चरात्रागम' में उक्त नारायणसंहिता में सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के आधार पर किये

---

1. 'श्रीकरसंहितायां प्रागुक्तस्यैव सिद्धान्तचतुष्टयस्य वेदसिद्धान्तो दिव्यसिद्धान्तस्तन्त्रसिद्धान्तः पुराणसिद्धान्त इति प्रागुक्तादूरविप्रकृष्टैर्नामभेदैर्विभागमुक्त्वा...' (तत्रैव, पृ. 104)
2. तत्रैव।

गये पाञ्चरात्र संहिताओं के एक नये वर्गीकरण का वर्णन किया है।[1] पूर्वोक्त वक्तृभेद से पाञ्चरात्र-शास्त्र के विभाजन में मुनिभाषित कोटि में गुणों के आधार पर संहिताओं को विभक्त किया गया है, किन्तु नारायणसंहिता में समग्र पाञ्चरात्रशास्त्र को गुणों को आधार पर विभक्त किया गया है। डॉ. चौधरी द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार नारायणसंहिता में सात्त्विक आदि विभाग के केवल नाम निर्देश किये गये हैं। इन तीनों के कहीं लक्षण नहीं बताये गये हैं। पाञ्चरात्रशास्त्र की 108 संहिताओं की संख्या को सात्त्विक, राजस और तामस शीर्षकों के अन्तर्गत छत्तीस-छत्तीस संहिताएँ विभक्त कर दी गयी हैं। यद्यपि यह संख्या केवल शब्दतः कही गयी है। तीनों में किसी भी विभाग में गिनायी संहिताओं की संख्या छत्तीस नहीं है। तीनों शीर्षकों में विभक्त की गयी संहिताओं की सूची इस प्रकार है–

सात्त्विक	राजस	तामस
1. पौष्कर	1. पाद्म	1. शातातपसंहिता
2. श्रीकर	2. पाद्मोद्भव	2. त्रैलोक्यविजयसंहिता
3. विष्णुसिद्धान्त	3. मायावैभव	3. विष्णुसंहिता
4. हारित	4. नलकूबर	4. पुष्टितन्त्र
5. वैहिगेन्द्र	5. त्रैलोक्यमोहन	5. शौनकीय
6. प्रश्नाख्य (पाँचसंहिताएँ)	6. विष्वक्सेन	6. संवादसंहिता
7. सत्यसंहिता	7. ईश्वरसंहिता	7. शुकसंहिता
8. विश्वसंहिता	8. नारायणसंहिता	8. इन्द्रसंहिता
9. महाप्रश्नसंहिता	9. आत्रेयसंहिता	9. याज्ञवल्क्यसंहिता
10. श्रीसंहिता	10. वाशिष्ठसंहिता	10. गौतमसंहिता
11. सनन्दसंहिता	11. द्राविडसंहिता	11. पुलस्त्यसंहिता
12. परमसंहिता	12. वैहायसंहिता	12. दक्षसंहिता
13. पुरुषसंहिता	13. भार्गवसंहिता	13. अर्चकप्राप्ति
14. पुरुषोत्तमसंहिता	14. हारितसंहिता	14. सांख्यसंहिता

---

1. पाञ्चरात्रागम, 23, 24 (प्रस्तुत 'गुणभेद के पाञ्चरात्र-शास्त्र का विभाजन' इसी ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

15. महासनत्कुमारसंहिता	15. ताण्डवसंहिता	15. दत्तात्रेयसंहिता
16. वृहन्नारदीयसंहिता	16. सङ्कर्षणसंहिता	16. काश्यपसंहिता
17. अनन्तसंहिता	17. प्रद्युम्नसंहिता	17. पैङ्गलसंहिता
18. भागवतसंहिता	18. वामनसंहिता	18. मार्कण्डेयसंहिता
19. जयाख्यसंहिता	19. शार्वसंहिता	19. कात्यायनसंहिता
20. तत्त्वसारसंहिता	20. पाराशर्यसंहिता	20. वाल्मीकिसंहिता
21. विष्णुवैभविकसंहिता	21. जाबालिसंहिता	21. बोधायनसंहिता
	22. अहिर्बुध्न्यसंहिता	22. याम्यसंहिता
	23. उपेन्द्रसंहिता	23. नारायणसंहिता
	24. योगिहृदयसंहिता	24. बार्हस्पत्यसंहिता
	25. आदिरममिहिरसंहिता	25. कापिलसंहिता
	26. वाराहमिहिरसंहिता	26. जैमिनिसंहिता
	27. योगसंहिता	27. जयोत्तरसंहिता
	28. नारदीयसंहिता	28. कौमरमयसंहिता
	29. वारिणसंहिता	29. मारीचसंहिता
	30. भारद्वाजसंहिता	30. तैजससंहिता
	31. नारसिंहसंहिता	31. उशनससंहिता
	32. कार्ष्णम्बरसंहिता	32. हिरण्यगर्भसंहिता
	33. राघवसंहिता	

पाञ्चरात्र-शास्त्र की रत्नसंहिताएँ

पाञ्चरात्र-परम्परा में कुछ संहिताओं को रत्न-संहिता कहकर सम्मान प्रदान किया गया है। संहिताओं की प्रामाणिकता, गुणवत्ता और महत्ता की दृष्टि से उन्हें रत्न कहकर विशिष्ट अथवा अतिविशिष्ट श्रेणी में रखा गया है। इस दृष्टि से संहिता ग्रन्थों में कहीं रत्नत्रय, कहीं पञ्च या षड्रत्न और कहीं नवरत्नों की चर्चा प्राप्त होती है।

रत्नत्रय-संहिताएँ

विपुल पाञ्चरात्र-संहिता-साहित्य में तीन संहिताएँ ऐसी बतायी गयी हैं जिनकी

सर्वाधिक महत्ता और प्रामाणिकता है। वस्तुतः पाञ्चरात्रशास्त्र के आदि प्रवर्तक भगवान् नारायण माने गये हैं।[1] अतः पाञ्चरात्र-साहित्य के विपुल होने पर भी जो संहिताएँ साक्षाद् भगवान् के मुख से उपदिष्ट हुई हैं वही मूल पाञ्चरात्र-शास्त्र हैं। साक्षाद् भगवान् के मुख से उपदिष्ट होने वाली तीन ही संहिताएँ हैं। 1. सात्वतसंहिता, 2. पौष्करसंहिता और 3. जयाख्यसंहिता। जयाख्यसंहिता में रत्नत्रय के तीनों रत्नों का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है-

सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं तन्त्रमुत्तमम्।
रत्नत्रयमिदं साक्षाद् भगवद्वक्त्रनिःसृतम्।।[2]

यही बात जयाख्यसंहिता का उदाहरण देते हुए वेदान्तदेशिक ने पाञ्चरात्ररक्षा में इन शब्दों में कही है :-

'यथोक्तं साक्षाद् भगवन्मुखोद्गततया रत्नत्रयमिति प्रसिद्धेषु जयाख्यसात्वतपौष्करेषु जयाख्यायाम्।'[3]

यही कारण है कि तीन संहिताएँ दिव्य कोटि में रखी गयी हैं तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक हैं। यथा-

मूलवेदानुसारेणं छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम्।।
दिव्यं सच्छास्त्रजालं तदुक्त्वा.........।[4]

अथवा-

अतो दिव्यात्परतरं नास्ति शास्त्रं मुनीश्वराः।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च।।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि दिव्य-कोटि स्थान प्राप्त करने वाली पाञ्चरात्र-संहिताएँ ही रत्नत्रय-संज्ञा से अभिहित हुई हैं। इन रत्नत्रय संहिताओं का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य निम्नवत् द्रष्टव्य है-

---

1. पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।' (महाभारत, शान्ति., 349.67)
2. जयाख्यसंहिता, 1, अधिकः पाठः, 3
3. पाञ्चरात्ररक्षा, प्रथमा., पृ. 109
4. ईश्वरसंहिता, 1.50, 51; द्रष्टव्य-पारमेश्वरसंहिता, 10.376, 377
5. तत्रैव, 1.64

सात्वत-संहिता

पाञ्चरात्र शास्त्र में रत्न-त्रय के रूप में सुप्रसिद्ध सात्वत-पौष्कर एवं जयाख्य संहिताओं में सात्वत-संहिता को अन्यतम एवं प्राचीनतम संहिता के रूप में स्वीकार किया जाता है। ऋषियों के निवेदन पर नारद द्वारा प्रोक्त प्रस्तुत संहिता भगवान् वासुदेव एवं संकर्षण के संवाद रूप में स्वर्णिम कलेवर से मण्डित है।

परिच्छेद रूप पच्चीस विभागों में विभाजित प्रस्तुत संहिता में लगभग 3500 श्लोकों के माध्यम से संकर्षण-कृत जिज्ञासाओं को शान्त करते हुए श्री भगवान् द्वारा सात्वत विधियों का सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। सात्वत संहिता में विभव देवों के विविध रूपों का उनके ध्यानार्चन सहित प्रतिरूपण किया गया है। प्रस्तुत संहिता में प्रदर्शित विधान से यादवाचल क्षेत्र में भगवान् विष्णु की उपासना के सङ्केत प्राप्त होते हैं। सात्वत-संहिता के भाष्य में अलिशङ्गभट्ट ने ईश्वरसंहिता को सात्वत-संहिता की उपबृंहिका स्वीकार करते हुए लक्ष्मीतन्त्र को भी सात्वतसंहिता का पूरक माना है।

जैसा कि पूर्व निर्दिष्ट है कि सात्वत संहिता का ऋषियों को उपदेश करने वाले नारद ही हैं। श्रीमद् भागवत महापुराण (2/3/8) में ईश्वर के 24 अवतारों का वर्णन करते समय देवर्षि नारद को भी अवतार माना गया है और बताया गया है कि उन्होंने सात्वततन्त्र का उपदेश किया। सात्वत-संहिता सात्वत तन्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। ऋषियों को प्रस्तुत संहिता का उपदेश नारद ने ही किया है।

सात्वत-संहिता के प्रश्न-प्रतिवचन नामक प्रथम परिच्छेद में सर्वप्रथम मलयाचल पर नारद के आगमन के फलस्वरूप परशुराम दर्शन एवं परशुराम-प्रेरित नारद का विष्णु की उपासना में लीन ऋषियों के समीप गमन की सामान्य चर्चा है। ऋषियों द्वारा नारायण पद की प्राप्ति में श्रेयस्कर तत्त्वों के प्रकाशन का निवेदन किये जाने पर त्रेता युग के आदि में संकर्षण-प्रेरित वासुदेव द्वारा प्रोक्त सात्वत धर्म को गुरुपूर्व-क्रमागत बताते हुए नारद सात्वत धर्म के उपदेश की पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं-

यच्चोदितेन हलिना प्रागुक्क्तं चक्रपाणिना।
परम्पर्यागतं तन्मे गदतः शृणुत द्विजाः।।

इस प्रकार सात्वत संहिता के प्रवचन की पृष्ठभूमि तैयार करके संकर्षण के त्रेतायुग स्वभाव-जन्य रागमुक्ति के उपायरूप प्रश्नों का उत्तर देते हुए वासुदेव द्वारा

1. सात्वत सं. 1/17-18

सर्वप्रथम त्रिविध ब्रह्म की उपासना का सङ्केत करके त्रिविध ब्रह्म के लक्षण को सारगर्भित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कुल मिलाकर सात्वतोपदेश की आधार-शिलारूप में प्रस्तुत परिच्छेद को शास्त्रावतरण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

तुरीय व्यूह समाराधन नामक द्वितीय परिच्छेद में उपासनाविधि एवं भक्तोपासकों के सन्दर्भ में किये गये संकर्षण के प्रश्नों के उत्तर रूप में वासुदेव द्वारा सात्वतशास्त्रोपदेश की प्रतिज्ञा करके चार व्यूहों के रूप में भगवदुपासना का मार्ग प्रशस्त किया गया है। इस प्रकार चतुर्विद्याधिकार-विवेचन के पश्चात् ध्यानोचित नियमों का एकैकशः प्रतिपादन करके तुरीयव्यूह-समाराधन से सम्बन्धित परार्चन-विधान, वर्ण-चक्ररचनाप्रकार, आराधना-विधि, मन्त्रोद्धार विधि, चतुश्चक्रभावन, मध्यनाडी सुषुम्ना में शब्दब्रह्मणस्थान, परावाक् नादावसान गमन में संवित् स्वरूप परब्रह्म का अवस्थान इत्यादि का निरूपण किया गया है। प्रसंगोपेत प्रीतिसंकल्प भोग-दान मन्त्रों का विनियोग करके तुरीय व्यूह समाराधन के साङ्गोपाङ्ग विधान से मण्डित इस परिच्छेद को इतिश्री प्रदान की गयी है।

सुषुप्तिव्यूहमन्त्रोद्धार नामक तृतीयपरिच्छेद में सुषुप्तिव्यूह-समाराधन के साङ्गोपाङ्ग विधान के उद्देश्य से सुषुप्ति व्यूह के अर्चनक्रम में सर्वप्रथम हवर्णकर्णिका में समाराधन-विधि का संकेत करके व्यूह के स्वरूप का निरूपण किया गया है। षाड्गुण्यानुवृत्ति, व्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्धार-मन्त्र-चातुष्टयस्वरूप तथा पदों का वर्णसंख्यापूरण-प्रकार इत्यादि इस परिच्छेद के मुख्य प्रतिपाद्य हैं।

स्वप्नव्यूहसमाराधन नामक चतुर्थ परिच्छेद में स्वप्नव्यूहविधान, विशाखयूप तथा वासुदेव मूर्तिचतुष्टय के लक्षण, विशाखयूपमन्त्रोद्धार तथा स्वप्नव्यूह-मन्त्र-चतुष्टयोद्धार के निरूपण पूर्वक मन्त्रचतुष्टय के स्वरूप का निरूपण किया गया है। दूसरे शब्दों में वासुदेवमूर्ति-चतुष्टय के मूलभूत विशाखयूप संज्ञक भगवान् के लक्षण को बताकर वासुदेवादि के लक्षणों का निरूपण किया गया है। इन वासुदेवादि के प्रभवाप्ययक्रमेण मानसार्चन का संकेत करते हुए विशाखयूप मन्त्र का प्रवचन करके विशाखयूप को ही परवासुदेव बताकर चतुर्व्यूहान्तर्गत परवासुदेव की ही वासुदेवरूपेण अवस्थिति बतायी गयी है। इस प्रकार वासुदेव के अग्रगण्यत्व अथवा प्राधान्य का बोध कराके एक ही परवासुदेव के नानारूपत्व का प्रतिपादन किया गया है। परवासुदेव के एतद्विध निरूपण के पश्चात् स्वप्नव्यूह-मन्त्रचतुष्टयोद्धार का निरूपण प्रस्तुत परिच्छेद का उपसंहारात्मक अलङ्करण है।

जाग्रद्व्यूहसमाराधन नामक पञ्चम परिच्छेद में आराधनविधिपूर्वक जाग्रद्व्यूह

के लक्षण को बताकर वासुदेवादि के विशेष एवं सामान्य लक्षण को बताया गया है। इसके बाद जाग्रद्व्यूहमन्त्र-चतुष्टयोद्धार का संकेत करके उसके स्वरूप-निरूपण-सहित पुरुष-सत्य-अच्युत-वासुदेवमन्त्रोद्धार को सस्वरूप प्रतिपादित किया गया है। अप्ययक्रम से व्यूहार्चन में मन्त्रचतुष्टय को बताते हुए तुर्य सुषुप्ति स्वप्न व्यूह लक्षण को निष्कर्ष प्रदान करके जाग्रद्व्यूह का लक्षण किया गया है। वर्णकाल स्थान-भेद से वासुदेवादि की ध्यानप्रक्रिया के साथ चातुरात्म्य समाराधन को उपसंहार प्रदान करके भगवदवतार-क्रम, अन्तर्याग समाहार तथा बहिर्याग के उपक्रम को प्रपञ्चित किया गया है। अतः इस परिच्छेद को सूक्ष्मव्यूहदेवतान्तर्याग विधि के अशेष पक्षों को प्रपञ्चित करने के लिए समर्पित माना जा सकता है। विश्वास तथा समर्पण अर्थात् श्रद्धा एवं भक्ति के साथ इस परिच्छेद को इतिश्री से अलंकृत किया गया है।

चातुरात्म्यबाह्याराधन नामक षष्ठ परिच्छेद में मुख्य रूप से सूक्ष्म व्यूहदेवताबहिर्यागविधि तथा चातुरात्म्याराधन-विधि का प्रतिपादन किया गया है। सर्वप्रथम द्रव्य-अर्घ्यादि के द्वारा क्रियमाण याग अर्थात् द्रव्ययाग किंवा बाह्याराधन का संकेत करके सर्वप्रथम भद्रपीठशोधन-प्रकार का निरूपण किया गया है। द्रव्ययाग के द्वारा चातुरात्म्याराधन-विधि के निरूपण-हेतु इसमें भद्रपीठशोधन-चक्रराजार्चन, पात्रपरिकल्पन, कलशाष्टक-स्थापन, बिम्बशोधन, आवाहन, आसनाद्युपचारसमर्पणादि सर्वविध अर्चनक्रम का वर्णन करके अनुयाग-विधि का निरूपण करते हुए अष्टांग-प्रणाम-विधि, स्वाध्याय-विधि, जप-न्यास तथा योग-विधि-निरूपणपूर्वक बहिर्याग का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।

अमन्त्रक-व्रत-विधि नामक सप्तम परिच्छेद में पुण्य एवं पुण्यावह अपुण्यचयदाहक तथा पापविध्वंसक कर्म के रूप में वासुदेव के द्वारा संकर्षण के प्रति व्रताख्य कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुतोपक्रम में सर्वप्रथम कार्तिक मास की दशमी तिथि को सम्पद्यमान व्रतानुष्ठान का निरूपण करके वासुदेव के लाञ्छन ध्यान प्रकार तथा वासुदेवादि के जितन्तादिस्तोत्र मन्त्र चतुष्टय का प्रतिपादन किया गया है। इसके पश्चात् चातुरात्म्याराधन के वर्णों के क्रम का संकेत करके संकर्षणादि के लाञ्छनभेद ध्यान को उपदिष्ट किया गया है। श्रावण मास की दशमी से प्रारम्भ होकर वर्षपर्यन्त मुमुक्षों के द्वारा अनुष्ठेय व्रतों की विशेष व्यवस्था को बताकर द्वादशाख्य-षोडषाख्य व्रतों का सविधि निरूपण करते हुए व्रतनिष्ठों के भोज्य द्रव्य, वैष्णव क्षेत्र प्रमाण-सालोक्यादि मोक्षविचार तथा व्रतभङ्ग हो जाने पर असवादराहित्य के सङ्केत-पूर्वक व्रतसप्तक के सामान्य निर्देश के साथ व्रतानुष्ठान के दृढसंकल्प-पूर्वक परिच्छेद को इति प्रदान की गयी है।

समन्त्रक व्रतविधि नामक अष्टमपरिच्छेद में केवल ब्राह्मणों द्वारा अनुष्ठेय संवत्सर–व्रत का सविधि निरूपण किया गया है। प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि से अगले मास के शुक्ला दशमी तक विष्णु के पृथक्–पृथक् स्वरूपों की अर्चना से सम्बद्ध वर्षपर्यन्त चलने वाले इस व्रत का प्रारम्भ मार्गशीर्ष में द्वादशमूर्त्यात्मक भगवान् के प्रथम रूप केशव से प्रारम्भ होकर नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर्म, हृषीकेश, पद्मनाभ एवं दामोदर की क्रमशः एक–एक माह आराधना करने का विधिवत् विधान प्राप्त होता है। अपवर्गप्रदायक चातुर्मास्य व्रत के साथ विविध अन्य व्रतों का उल्लेख भी प्रस्तुत परिच्छेद में प्राप्त होता है। उपर्युक्त व्रतों के सविधि निरूपण के क्रम में वासुदेवादि भूतिध्यान, पद्म शङ्ख गदा चक्र मन्त्र–चतुष्टय, मुद्राञ्जलि–मुद्रागोपनोपदेश–व्रताराधनार्थ स्वयं व्यक्ताद्यन्तमबिम्ब समाश्रयण, पीठार्चन, केशवार्चन, परवासुदेव का मानसार्चन, केशवादि के वर्णविचार, केशवादि के लाञ्छनायुध, देवीद्वादशक–ध्यान, केशवादि के अर्चनस्थान, अर्चनक्रम प्राप्त गुर्वर्चन, भोज्यद्रव्य, व्रतानुष्ठानविधि, मात्रासमर्पण इत्यादि प्रसंगों की यथावश्यक प्रस्तुति के साथ स्त्रियों के अधिकार एवं चातुर्मास्यव्रत के निरूपण से प्रस्तुत परिच्छेद महिमा–मण्डित है।

विभवदेवतान्तर्यागविधिनामक नवम परिच्छेद में विभवदेवस्वरूप के ध्यानमययाजन अर्थात् मानसपूजन के नियमों का निर्देश है। प्रस्तुत परिच्छेद में सर्वप्रथम स्थूल–सूक्ष्म परभेद के द्वारा विभवावतार के त्रैविध्य एवं मन्त्रों के चातुर्विध्य का लक्षणपूर्वक निरूपण है। चतुर्विधमन्त्रों का प्रणवपरिणामत्व, नित्योदितत्व तथा भोग–मोक्ष प्रदायकत्व का निरूपण करके विभवदेवतार्चन का सम्यग् निरूपण किया गया है। पद्मनाभादि तीस विभव देवों के नामों एवं तत्तद्विषयक विचारों का निरूपण करके भवोपकरण नामों, पद्मनाभादि विविध ध्यानप्रकारों का संकेत करके चतुःस्थानार्चन–विधि तथा त्रिविध सर्गनिरूपण के पश्चात् परिवार बीज एवं पिण्डमन्त्र–निर्माण के विविध प्रकारों का प्रवचन किया गया है। इस प्रकार विभवदेवों के मानसार्चन अर्थ्रात् ध्यानात्मक पूजन के सर्वविध निरूपण से यह परिच्छेद मण्डित है।

विभवदेवता–बहिर्याग–विधि–निरूपक दशम परिच्छेद में विभव देव के बाह्यार्चन के अशेष पक्षोद्घाटन के उपक्रम में अग्नि एवं जलमध्य में विभवदेवों के सम्यगर्चन की विधि पर प्रकाश डालते हुए सर्वप्रथम मण्डल लेखन को उद्घाटित किया गया है। यागमण्डलालङ्करण प्रकारों के पश्चात् वैभवमुद्राप्रदर्शन, मण्डल में ध्रुवादि का विन्यास–प्रकार, सिद्धदशकाद्यङ्ग–देवताविन्यास–विधि, वैभवमुद्रालक्षण,

चतुःस्थानार्चन विधि, प्रयोजन एवं लक्षण निर्देशपूर्वक मुद्रा बन्ध को निरूपित करके मण्डलस्थ देवताओं के उपसंहार-क्रम को बताते हुए विष्वक्सेनार्चन से पूर्व स्वप्राशनार्थ भागोद्धरण को प्रकाशित किया गया है।

मण्डलध्यानलक्षण नामक ग्यारहवें परिच्छेद में भवभीतों के उपकारार्थ मण्डलध्यान लक्षण को यथावत् निरूपित किया गया है। संकर्षण द्वारा मण्डल-लेखन एवं मण्डल-ध्यान के प्रति जिज्ञासा व्यक्त किये जाने पर भगवान् सर्वप्रथम मण्डल-लक्षण को बताकर मण्डल-निर्माण का विधिपूर्वक निर्देश करते हैं। मण्डल में भगवदवस्थान तथा अब्जनाभ भुवनाख्य मण्डल की यथावत् चर्चा करके मेखलात्रय निर्माण की प्रक्रिया को बताते हुए शंख-चक्र, पद्म-वृत्त, चतुरस्र कुण्डपंचक लक्षणों को निरूपित करके परिच्छेद का उपसंहार किया गया है।

विभवदेवता-ध्यान नामक बारहवें परिच्छेद में मन्त्र-जप के समय विभव देव में ध्यान लगाने की विधि एवं प्रक्रिया बतायी गयी है। भक्तानुग्रहाकांक्षी एक ही ईश्वर के विधि स्वरूपों एवं शक्तियों से सम्पन्न होने पर भी ईश्वरैकत्व, नानात्वेनाप्यानन्त्य प्रतिपादित करके उस सर्वेश्वर के आभिभाषिक रूप को बताते हुए सर्वप्रथम ईश्वर के विविध रूपों का संकीर्तन किया गया है। तत्पश्चात् भक्तों की उपासना पद्धति के अनुरूप समय-समय पर ईश्वर विविध रूपों को धारण करता है इसका यथार्थ निरूपण करके ईश्वर के अनन्त एवं शाश्वत रूप का ध्यान निर्देशपूर्वक मधुसूदन, विद्याधिदेव, विश्वरूप, हंस, वराह, बडवानल, धर्मध्यान, हयग्रीव, एकार्णवशायी, कूर्म, नृवराह, नृसिंह, अमृताहरण श्रीपति, कान्तात्म, राहुजित्, कालनेमिघ्न, पारिजातहर, लोकनाथ, दत्तात्रेय, न्यग्रोधशयन, मत्स्यावतार, वामन, त्रिविक्रम, नर-नारायण, हरि-कृष्ण, परशुराम, श्रीराम, वेदव्यास, कल्कि, पातालशयनादि रूपों की ध्यान-विधि को बताया गया है। इसके बाद विभवदेवता-अभिज्ञान-पद्धति, सभी का कामरूप धारणत्व, वाहन-भेद उनके लक्षण लाञ्छन अर्थात् भुज वक्त्रास्त्र भेद से शक्तीश के भेदों का निरूपण है।

भूषणास्त्रदेवता-ध्यान संज्ञक तेरहवें परिच्छेद में विभवदेव के अस्त्र एवं आभूषणों का संकीर्तन करते हुए अस्त्राभूषणों की ध्यान-प्रक्रिया को प्रपञ्चित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम किरीटादि भूषणों के लक्षण से ईश्वर का चतुर्भुजत्व निरूपित किया गया है। किरीट, कौस्तुभ, श्रीवत्स एवं वनमाला की शोभा का वर्णन करते हुए ध्यान करने के पश्चात् विष्णु के अन्य समस्त आभूषणों अर्थात् सप्तदशायुधों का परिगणन करके उनके ध्यान, सामान्यलक्षण एवं अधिष्ठातृदेव का निर्देश किया गया है। विष्णु के

अस्त्राभूषणों के ध्यान–विधान के पश्चात् सुन्दरीगणों का ध्यान–प्रकार एवं सामान्य लक्षण बताया गया है। इसके पश्चात् साधार–अनाधार रूप शक्तिद्वय का निरूपण करके वर्णलाञ्छनभेद से सुन्दरीगणों के नानात्व का निरूपण एवं भावोपकरणध्यान का निर्देश किया गया है।

पवित्रारोपणविधि नामक चौदहवें परिच्छेद में पवित्रारोपण कर्ता का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। आषाढ शुक्ल एकादशी से कार्तिक शुक्ल दशमी के मध्य किसी भी दिन अनुष्ठेय गृह–अनुष्ठान नित्यनैमित्तिक कर्मों के अखण्डनार्थ किया जाता है। पवित्रारोपणविधि के निर्देश–प्रसंग में पवित्रारोपण का सर्वप्रायश्चित्तत्व, उत्तमादि काल– विचार, पवित्रारोपणकाल, अधिवास एवं चतु:स्थानार्चन, पवित्र–समर्पण–विसर्जन में कारिप्रदान–पूर्वक फलश्रुति के साथ प्रस्तुत परिच्छेद समाप्त हो जाता है।

पवित्रस्नपन–विधि नामक प्रस्तुत परिच्छेद में पवित्रारोपणोत्सव के चार या सात दिनों के पश्चात् दर्भनिर्मित ईश्वर की प्रतिमा मन्त्रमूर्ति को स्नान कराने की विधि का सम्यग् विवेचन करने–हेतु कुशकूर्च–निर्माण, जीवमन्त्र, तत्त्वचतुष्टय, दर्भपवित्र–कल्पना, मन्त्रमूर्ति का तीर्थानयन, कूर्च द्वारा पूजक सहित बन्धुबान्धवों का पवित्रीकरण, पवित्रस्नपन तथा स्नानान्तर यात्रोत्सव का विधान विधिवत् वर्णित है।

त्रिविध दीक्षा–विधान नामक सोलहवें परिच्छेद में दीक्षा–विधान के सम्यग् निरूपण के लिए सर्वप्रथम दीक्षणीय पात्र का अवधारण करते हुए त्रिविध दीक्षणोपाय–निरूपण–पूर्वक दीक्षणीय के गुरुकुल–वास का विधान है। तत्पश्चात् गुरु द्वारा शिष्य के दोषों का ज्ञान प्राप्त करके प्रायश्चित्त के द्वारा उस दोषप्रशमन का निर्देश किया गया है। वर्णभेद से प्रायश्चित्तभेदों का निरूपण करके योग्य तथा निर्दुष्ट शिष्यों को ही दीक्षा देने का विधान है। योग्य गुरु के पास जाकर अथवा स्वयं शिष्य की योग्यता जानकर गुरु द्वारा दीक्षा देने की विधि का संकेत है। अन्त में विभव, व्यूह तथा सूक्ष्म रूप दीक्षात्रय के सङ्केतपूर्वक परिच्छेद को उपसंहार प्रदान किया गया है।

वैभवीय नृसिंह–कल्प नामक सत्रहवें परिच्छेद में नृसिंह विभव के लिए मन्त्र–विन्यास एवं इसकी पूजा–विधि का विनियोग है। अत: इसमें सर्वप्रथम वैभवीय वर्णचक्र की सहायता से नृसिंह–बीज एवं नृसिंहाङ्गमन्त्रनिरूपण–पूर्वक द्वादशाक्षरमन्त्रोद्धार का प्रतिरूपण है। द्वादशाक्षरमन्त्र द्वारा भगवदाराधान, प्राणायाम–पूर्विका भूतशुद्धि, न्यास, मुद्राबन्ध, आसनकल्पनादि अन्तर्याग–विधान के साथ ही बहिर्याग बिम्बमण्डल, पीठादिकल्पना, कुम्भस्थापन, भगवदावाहन, लयभोगयाग,

परिवारदेवता, मूलमन्त्रादि का ध्यान, विविधमुद्राप्रदर्शन, जप, नृसिंहमन्त्र–दीक्षाक्रम, कारिप्रदान, विश्वक्सेनार्चन, बलिदान, विसर्जन, विष्वक्सेनार्चन, मन्त्र पत्र–पुष्पजलादि का जलमध्य में प्रक्षेपण, मन्त्र जप ध्यान, शान्ति–पौष्टिक आप्यायन, आतुर–रक्षा–विधि, त्रिविध–ताप, संधारणी रक्षाविधि तथा पुरुषार्थ–चतुष्टयसाधन विधि का सम्यग् विवेचन प्रस्तुत परिच्छेद में किया गया है।

अधिवासदीक्षाविधि नामक उन्नीसवें परिच्छेद में सर्वथा योग्य निर्दुष्ट ब्राह्मणों के त्रिविधदीक्षाविधान के लिए सर्वप्रथम क्षमापरिग्रह–पूर्वक दीक्षामण्डप के निर्माण की विधि एवं संभारार्जन को बताया गया है। इसके बाद दीक्षामन्त्र के द्वारा ही सर्वकर्माचरण का निर्देश करके दहनाप्यायन नामक धारणात्मक भूतशुद्धि–अनुष्ठान, व्यापक–न्यास, मण्डलपूरणरूपेण गन्धाद्यलङ्करण की व्यवस्था सुनिश्चित करते हुए यागगेहशोधनपूर्वक अर्घ्यादि की परिकल्पना की गयी है। इसके बाद कुम्भोपकुम्भादिस्थापन एवं पाद्याचमनादि का प्रतिपादन करके कुम्भ–मण्डलाग्नि में भगवदर्चनक्रम, बलिदान, हविपाकविधान, सम्पात होम तथा अरुणसूत्र के द्वारा शिष्य का सूत्रात्मक शरीरीकरण करके 25 तत्त्वों एवं चतुर्व्यूहों में ध्यान करने से व्यवस्था विभव–शिक्षा प्रसंग में निरूपित की गयी है।

पूर्वपरिच्छेदों में दीक्षाविधि के लिए अपेक्षित अनुष्ठानों का वर्णन करने के पश्चात् दीक्षा–विधि के वास्तविक स्वरूप–विवेचन की पृष्ठभूमि तैयार हो जाने पर प्रस्तुत परिच्छेद में दीक्षा–विधि को विवेचित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम कैवल्य, भोगकैवल्य तथा भोग प्रदान करने वाली विभव–व्यूह एवं परारूप दीक्षात्रय को फल–भेद–सहित स्पष्ट किया गया है। मण्डल–निर्माण के बाद दीक्षार्थी के सो जाने पर अर्द्धरात्रि के समय गुरु द्वारा शिष्य के स्वप्न की परीक्षा करके शुभाशुभ स्वप्न–विचार के बाद अशुभ स्वप्न–हेतु शान्त्यनुष्ठान करके निरीक्षणादि संस्कार, शिष्य का वैष्णवनामकरण, शंख चक्रादि के द्वारा तापसंस्कार, पंचसंस्कार–विवेचन, भूत–शोधन, नक्तभोजन एवं सूत्र प्रसारण व्यवस्था के बाद आचार्य का शिष्य के ब्रह्मरन्ध्र द्वारा उसके अन्दर प्रवेश करने से लेकर वर्णाध्वविज्ञापनोपदेश वर्णाध्वचातुर्विध्य, द्वादशधारणोपदेशपूर्वक वैभवदीक्षा का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् भोग अथवा भोग कैवल्य को प्रदान करके वैभवदीक्षा से वास्तविक स्वरूप में यथावश्यक अनुष्ठानों के साथ इस परिच्छेद को सम्पूर्णता प्रदान की गयी है।

आचार्यभिषेक नामक प्रस्तुत परिच्छेद में आचार्य द्वारा शिष्याभिषेक के विधान का निरूपण है। प्रस्तुतोद्देश्य से इसमें सर्वप्रथम प्रत्येक प्रकार के शिष्यों का अभिषेक

आचार्य द्वारा ही किये जाने का निर्देश करके अभिषेक विधान का प्रवचन करते हुए बलिदानादि, विष्वक्सेनार्चन एवं सुधापान प्रकार का निरूपण किया गया है। इसके बाद गुरुपूजन, तीर्थपरिग्रह, भागवतों को दक्षिणा दान, भ्रातृबन्धुओं के साथ भोजन तथा गुप्त के अनुष्ठान एवं पाद प्रणव का निर्देश है।

समयविधि नामक इक्कीसवें परिच्छेद में कालोचित आचारविधानों का सम्यग् विवेचन करते हुए दीक्षित व्यक्ति के लिए नियमदान, नियमोपदेश के समय शिष्य की स्वीकृति एवं शिष्यों द्वारा पालनीय नियमों का निर्देश है। शिष्य की निर्वाहकता को देखकर उसके अनुकूल समयोपदेश का विधान, निर्मल मन से समय का पालन करने पर सर्वसाफल्य, कालुष्य-मुक्त व्यक्तियों को समय-पालन से सर्वथा शुभ फलप्राप्ति का संकेत करते हुए प्रस्तुत परिच्छेद में शिष्य के नियमाचरणों का सम्यग् निर्देश किया गया है।

अधिकारिमुद्रा-भेद विधि अथवा समयि-पुत्रकादिलक्षण नामक बाइसवें परिच्छेद में सर्वप्रथम समयि-पुत्रकादि लक्षण को बताकर साधक आचार्य आदि के लक्षण बताने के बाद दिव्य, मुनि-भाषित तथा पौरुष भेद के शास्त्र के त्रैविध्यनिरूपण-पूर्वक पौरुष वाक्य को भी मुनिभाषितवत् माननीय बताया गया है। इसके बाद अप्रत्यक्ष रूप से अधिकारी का निर्देश करते हुए साधकादि की मुद्रा-चतुष्टय का स्पष्ट संकेत किया गया है।

अधिवासदीक्षाविधि अथवा विभवदेवता-पिण्डपद्ममन्त्रोद्धार नामक तेइसवें परिच्छेद में ईश्वर के विभव स्वरूप को सम्बोधित करने वाले मन्त्रों के पिण्डांश के निर्माण अर्थात् पिण्ड-निर्माण के विशेष विधान-हेतु विभवभेदों के पिण्डनिचय के उपक्रम में वर्णचक्र से विभिन्न वर्णों के चयन की प्रक्रिया का निर्देश किया गया है। प्रणव से प्रारम्भ होकर मध्य में बीज तथा अन्त में नमः के योग से पिण्ड-निर्माण का संकेत करने के पश्चात् विभव देवों के तीन चार-पांच वर्णों से लेकर 20 और 24 वर्णों तक के पद्म मन्त्रों का विधान करके किरीटादि लाञ्छानचक्रायुधमन्त्रों का उपदेश तथा आयुधमन्त्रों में फट् पद के संयोजन की व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

प्रतिमा-पीठ-प्रासाद-लक्षण नामक चौबीसवें परिच्छेद में मुख्य रूप से मन्दिरों एवं प्रतिमाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें सर्वप्रथम चित्रमृत्काष्ठशिलालौह-निर्मित पञ्चविध बिम्बों का ब्राह्मणादि वर्ण भेद से चतुर्विधत्व तथा उनका सकाम-निष्कामविषयत्व निरूपित किया गया है। विविध-बिम्ब निर्माण-प्रक्रिया, शैलदारुग्रहण-बिम्बमानादि निर्देश, बिम्ब में मान एवं सौन्दर्य का

समादर-हयग्रीव बिम्ब मुख लक्षण, नृसिंह एवं वराह के वक्त्रलक्षण, हयग्रीवादि के अवयव-लक्षण, सत्यसुपर्णादिगरुणव्यूहलक्षण-वामनबिम्बलक्षण तथा पीठकल्पना के निरूपण के पश्चात् प्रासाद-निर्माण-विधि, वास्तुपुरुषार्चन, अनन्तभुवन-पञ्चायतनादि प्रासाद, द्वारप्रतिष्ठा तथा चतुरस्र, वर्तुल तथा आयातादि प्रासादों का फल वर्णन करके परिच्छेद को इति प्रदान की गयी है।

प्रतिष्ठाविधिनामक पच्चीसवें एवं अन्तिम परिच्छेद में मन्दिर एवं इसकी मूर्तियों की प्रतिष्ठा-विधि का सम्यग् विवेचन करने-हेतु सर्वप्रथम प्रतिष्ठा-हेतु यथावश्यक तैयारी यथा मण्डप, यागशाला एवं अग्निकुण्ड-निर्माण तथा आवश्यक कुम्भस्थापन एवं उनके सौन्दर्यीकरण को निरूपित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यागशाला एवं वेदिका-लक्षण, वेदिका के मण्डलादिस्थल विभाग-क्रम, आठ दिशाओं में कुण्डाष्टकस्थापन, स्नानगेह-स्नानपीठ-द्वारतोरण लक्षण, तोरणध्वजस्थापन एवं अर्चन, ध्वजाष्टकस्थापन तथा सत्यसुपर्णाद्यर्चन का विवेचन किया गया है। इस प्रकार प्रतिष्ठा संस्कार हेतु यथावश्यक निरूपण करने के पश्चात् यथाविहित देवी देवताओं का आवाहन करके मूर्ति के यागगेह में प्रवेश, स्नान-नयनोन्मीलनादि के साथ कलश द्वारा अभिषेचन करके बिम्बसम्भारार्जन आदि का विधान निरूपित किया गया है। मूर्ति को पायसभोजनादि के पश्चात् प्रासाद में प्रवेश करने में सम्भावित विघ्नों के उत्सारण-पूर्वक रत्नादिन्यास-प्रकार का निरूपण करके पीठचक्रादि स्थापन प्रतिष्ठा, लिंगमन्त्रपाठ एवं देवतान्यास क्रम की व्यवस्था का विवेचन है। इसके पश्चात् गरुण अर्थात् विहगेशप्रतिष्ठा, अभिषेक प्रकार, प्रासाद संशोधन, कारिप्रदानबलिदानादि-प्रासाद प्रतिष्ठा, चक्रस्थापन आदि अनुष्ठानों के बाद चक्र का चातुर्विध्य निरूपित किया गया है। इसके बाद समस्त प्रकार के बिम्बों के पृथक् निवेशन की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए मूर्तियों की आराधना का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् बिम्बों की प्रणव आदि से समाराधना, चलबिम्बवैशिष्ट्य एवं जीर्णोद्धार-विधि का निरूपण करके प्रतिष्ठा एवं जीर्णोद्धारादि का फल, मणिमय भूषणरत्नकवचादि-समर्पण का फल, भद्रपीठादि समर्पण तथा भगवत् सन्निधि दान-फल का निरूपण प्रस्तुत करने के साथ ही संहिता का उपसंहार प्रस्तुत कर दिया गया है।

पौष्कर-संहिता

पाञ्चरात्रशास्त्र के रत्नत्रय की मणिमध्यभूत संहिता के रूप में सुप्रसिद्ध पौष्कर संहिता एक ऐसी वृहत्कलेवरमण्डित संहिता है जिसे लगभग 5900 श्लोकों के

माध्यम से 43 अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। पौष्कर की जिज्ञासाओं को शान्त करते हुए श्री भगवान् द्वारा प्रोक्त पौष्कर-भगवत्संवादरूप प्रस्तुत संहिता को प्रतिपाद्यविषय की दृष्टि से मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पंचविंश अध्याय-पर्यन्त इसके प्रथम भाग में परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति में अत्युपादेय मण्डलाराधन-हेतु मण्डल-निर्माण की विस्तृत तकनीक का निर्देश श्री भगवान् द्वारा किया गया है। वस्तुतः मण्डल-निरूपण की जितनी व्यापक एवं विस्तृत व्यवस्था पौष्कर संहिता में प्रस्तुत की गयी है वैसी व्यवस्था किसी अन्य संहिता में नहीं है। इतर संहिताओं में प्रसंग-प्राप्त एक-आध मण्डलों का विवेचन है जबकि पौष्कर-संहिता में सर्वाधिक 25 मण्डलों का विस्तृत तथा व्यापक निरूपण है। प्रस्तुत प्रसंग में सम्भवतः यह कहना भी अनुचित न होगा कि पौष्कर संहिता, विशेषकर इस प्रथम भाग का मुख्य वैशिष्टय एवं प्रतिपाद्य मण्डल-विवेचन ही है।

संहिता के अपर भाग अर्थात् 26वें से 43वें अध्यायों में सामान्य एवं विशेष पूजा-विधानों तथा प्रतिमाओं एवं मन्दिर-प्रासादों के निर्माण एवं साज-सज्जा की व्यवस्था का प्रवचन किया गया है।

श्रीरङ्गम् एवं काञ्चीवरम् के अर्चकों की परम्पराओं की पोषक प्रस्तुत संहिता सर्वप्रथम सन् 1934 में एच.एच. श्री यतिराज सम्पत् कुमार द्वारा सम्पादित होकर देवनागरी लिपि में बंगलौर से प्रकाशित हुई। इसके बाद डॉ. पी.पी. आप्टे ने अंग्रेजी अनुवाद सहित इसके 26 अध्यायों को संशोधित एवं सम्पादित करके इसका आंग्लानुवाद किया जो सन् 1991 में राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति से प्रकाशित हुई। सम्प्रति उपलब्ध इसी संस्करण के आधार पर इसके 26 अध्यायों का प्रतिपाद्य प्रस्तुत किया जा रहा है-

अध्याय क्रम में पौष्कर संहिता का प्रतिपाद्य इस प्रकार है-

पौष्कर संहिता का शिष्यपरीक्षालक्षण नामक प्रथम अध्याय शिष्य चयन की मूलभूत व्यवस्था पर आधारित है। गुरुशिष्य संवाद के रूप में मण्डलाराधनार्थ धनसंचय का परामर्श देकर गुरु मण्डलपूजन के प्रवर्तन की पृष्ठभूमि निर्मित करता हुआ सर्वप्रथम पद्मोदर, अनेककणगर्भ, चक्राब्ज एवं मिश्र चक्र नामक मण्डल-चतुष्टय का उल्लेख करता है। इसके पश्चात् चतुर्मण्डलपूजन में क्रमशः प्राप्त दक्षता के अनुसार भक्तों का समयि, पुत्रक, साधक एवं आचार्य रूप चातुर्विध्य निरूपित करके मण्डलयाग पूजा के फल-भेदों, गुरुमहिमा, याग पूजा की तीर्थ क्षेत्रादि तुल्यता एवं फल-व्यवस्था का प्रवचन किया गया है। यागदीक्षा एवं शिष्यसाधना के निरूपण

से पूर्व शिष्य के लक्षण को प्रकाशित किया गया है। इस प्रकार शिष्य-लक्षण, यागदीक्षा एवं शिष्यसाधना की चर्चा करने के पश्चात् ज्ञानसंतति की रक्षा के रहस्य को उद्घाटित करके जिन्होंने अपने अनुष्ठान को सम्पन्न नहीं किया है उन भक्तों के यागफल विषयक पौष्कर-कृत प्रश्नों एवं उन प्रश्नों के ईश्वरकृत समाधान प्रथम अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

यागानुष्ठानार्थ उपयुक्त भूमि के चयन के उद्देश्य से प्रोक्त भूपरीक्षालक्षण नामक द्वितीय अध्याय में पौष्कर के मण्डल विषयक प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम श्री भगवान् द्वारा प्रत्येक प्रकार के मण्डल निर्माण के लिए प्रशस्त स्थानों का प्रवचन करके भूमि के गुण एवं दोषों का प्रवचन किया गया है। इसके बाद भूमि के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों का उल्लेख करते हुए भूमि के भेदानुसार फल-सिद्धि को प्रकाशित किया गया है। यथा-निर्दिष्ट प्रशस्त भूमि की अनुपलब्धि की स्थिति में विकल्प की चर्चा करके भूमि-परिग्रह, बलिक्षेप एवं क्रूरसत्त्व-प्रार्थना को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार उपयुक्त भूमि का चयन करके खननगोचारणादि द्वारा दिनत्रयात्मक भूमि शुद्धि तथा दिनत्रयानन्तर पञ्चगव्यादिकवयन, समतलीकरण संमार्जनादि पूर्वक दिग्विदिक् सिद्ध्यर्थ शुभवार-आदि के चयन का निर्देशन है।

दिक्सिद्धिलक्षण नामक तृतीय अध्याय में पौष्कर की दिक्सद्धिजिज्ञासा को प्रशान्त करते हुए श्री भगवान् द्वारा दिशानिश्चितीकरण के उद्देश्य से शङ्कुशलाका-सूत्र-साधन के विवरण का प्रवचन करके शङ्कुछायाङ्कन मेषादि राशियों में छायादैर्घ्य-छायाङ्कन के लिए अङ्गुलद्वयङ्गुलादि-विवरण-पूर्वक छायाङ्कन द्वारा पूर्वपरादि दिशाओं के साधन की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इसके पश्चात् वास्तुपुरुष की पूजा के लिए प्रचोदन करके वास्तुमण्डल के आरेखन तथा वास्तुमण्डल के प्रत्येक कोष्ठ में देवता-न्यास एवं वास्तु-क्षेत्र की सिद्धि के लिए वास्तु-देवता के पूजन का निर्देश करके यह स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है कि मण्डल का निर्माण चुनी गयी भूमि के केन्द्र परिवेश में किया जाता है। अस्तु दिशाओं के अनुसार मण्डल की स्थिति का विस्तृत एवं स्पष्ट निर्देश करने हेतु दिशा-ज्ञानादि सम्बन्धी समस्त तथ्यों को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

मण्डल-निर्माण के लिए सम्पूर्ण यागमण्डप अर्थात् यागमन्दिर के सन्दर्भ में अभिव्यक्त पौष्कर की जिज्ञासा को विस्तारपूर्वक प्रशान्त करते हुए श्री भगवान् एक निश्चित परिमाण में मण्डल-निर्माण का संकेत करके सर्वप्रथम मण्डल के संरक्षणार्थ एक उपयुक्त मण्डप की व्यवस्था का संकेत करते हैं। परमाणु से हस्तपर्यन्त ईश्वर द्वारा विशदीकृत मानकल्पना-योगों का वीथिमानत्व तथा यागमण्डप की भित्तियों का मान

निरूपित करके यागमण्डप-निर्माण के लिए आवश्यक द्रव्यों का निर्देश किया गया है। इसके बाद यागमण्डप के द्वार-निर्माण, प्रत्येक द्वार पर द्वारपाल-नियोजन एवं द्वारपालों के आयुधादि की व्यवस्था का निर्देश करके द्वारालङ्करण अर्थात् द्वार पर गवाक्षकपोतादि की रचना का निर्देश किया गया है। भित्तिबन्ध एवं स्तम्भविन्यास की व्यवस्था का निरूपण करके स्तम्भकन्या, शिरोबन्ध एवं तुलादि निर्माण की व्यवस्था का संकेत किया गया है। यागमण्डप की वितानादि-कल्पना के पश्चात् याग के अनुसार चतुरस्र, सुवृत्त एवं त्रिकोणादि मण्डप के निर्माण, यागभूमि-साधन, वेदितोरण आदि की रचना तथा प्रतितोरण गरुडादि की स्थापना का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त यागवेश्मरञ्जन, ध्वजपत्रकादि रचना, चण्डादि पार्षदों एवं कुमुदादिगणों की स्थापना, चन्दनादि के द्वारा स्थल-लेपन तथा यागहोमादि विधि का प्रवचन करके मण्डल-निर्माण से पूर्व आवश्यक मण्डपनिर्माण का विस्तार से निरूपण किया गया है।

सर्वतोभद्रादिलक्षण नामक पञ्चम अध्याय में भद्रादिमण्डल-विषयक पौष्कर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री भगवान् ने सर्वप्रथम भद्रादिमण्डल की पूजा के फल का निर्देश किया है। इसके बाद पच्चीस प्रकार के मण्डलों का निर्देश करके सर्वतोभद्र, अघनिर्मोचन, सदध्व, धर्माख्य, वसुगर्भ, सर्वकामप्रद, अमित्रघ्न, आयुष्य, बलभद्र, पौष्टिक, आरोग्य, विवेक, वागीश, मानस, जयाख्य, स्वस्तिक, अनन्त, नित्याख्य, भूतावास, अमोघ, सुप्रतिष्ठ, बुद्ध्याधार, गुणाकर, ध्रुव तथा परमानन्द नामक पच्चीसों मण्डलों का पृथक् पृथक् संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

पौष्कर संहिता के 'पद्मलक्षण नामक छठे अध्याय में सर्वप्रथम मण्डप के यथाविहित केन्द्र-प्रदेश में विकसित आकार के पद्म की रचना का निर्देश करके मुकुलिताकार पद्मों की दलरचना का विधान प्रस्तुत किया गया है। नवपत्रादि सत्ताइस दलों वाले पद्मों की पत्ररचना तथा कर्णिका केसर रचना की विधि बताकर वृत्तायतपद्मों की विधि निरूपित की गयी है। पद्म के अवयवों की रचना के लिए वृत्तचतुष्करचना का विधान करके पत्र-रचना के लिए सामान्य नियमों के निर्देश-पूर्वक द्विमत्स्यचिह्नात्मक पत्ररचना का सूत्रपात प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार पद्माकाराकृति के सम्यगारेखन-विधि के निरूपण के पश्चात् पद्मों को रंगने की विधि एवं विशेष नियम प्रकाशित किये गये हैं। पद्ममण्डल के सविधि निरूपण के साथ ही मन्त्रों के अध्यात्म आधिदेव एवं आधिभूत क्रम तथा स्थूल-सूक्ष्म पर विभाग निरूपण करके मण्डल-पूजा के रहस्य को उद्घाटित करने का निषेध प्रस्तुत किया गया है।

व्यूहलक्षण नामक सातवें अध्याय में पद्ममण्डल-निर्माण के तरीकों के विविध प्रकारों का निरूपण किया गया है। मण्डलों के व्यूहभेद-विषयक पौष्कर के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री भगवान् ने सर्वप्रथम पद्म एवं वृत संख्याभेद के दिग्विभाग-पीठ एवं वीथिरचना, द्वाररचना, वृत्तमण्डल एवं अब्जरचना का निरूपण करके त्र्यश्रादि मण्डलों की रचना की विधि प्रस्तुत की गयी है। इस प्रकार बड़ी से बड़ी आकृति के पद्ममण्डल के निर्माण का विधिवत् निरूपण करते हुए द्वारादि प्रमाण तथा मन्त्रमूर्ति साधन की विधि का निरूपण करके पद्ममण्डलारेखन हेतु भिन्न-भिन्न निर्माण विधियों का संग निरूपण प्रस्तुत अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

पद्ममण्डलान्तर्गत चक्राब्जमण्डल का अपना पृथक् एवं विशेष महत्त्व है। चक्राब्जलक्षण नामक आठवें अध्याय में पौष्कर के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री भगवान् ने सर्वप्रथम चक्राब्जमण्डलों के शत सहस्र भेदों का संकेत करके चक्राब्जमण्डल की पूजा के फल को विवक्षित किया है। इसके बाद चक्राब्जमण्डल के नव विध भेदों का निर्देश करके भद्रादि मण्डलों के लेखनीय पद्मों की रचनाविधि, चक्रसहित पद्मों के लक्षण एवं पद्मों की रञ्जनविधि को प्रपञ्चित किया गया है। इसके पश्चात् चक्राब्जमण्डल में पद्मलेखन चक्राब्जमण्डल की रञ्जनविधि एवं चक्राब्जमण्डल में वासुदेव-पूजन की व्यापक व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार चक्राब्जमण्डल निरूपण प्रसङ्ग में विष्णुचक्र-नाम सुदर्शन पद का निर्वचन तथा सुदर्शन का माहात्म्य प्रकाशित करके उत्तम, मध्यम, कनीय तथा नाभिनेमि संख्या के भेद से चक्रनवक की व्यवस्था का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। नवचक्रनिरूपण के साथ की चक्र के असंख्य भेदों का संकेत करते हुए चक्राब्ज-मण्डलों की पीठ-द्वारादि व्यवस्था आदि सुसाधन एवं चक्रवृत्तपद्मों की रजःपूरण विधि को प्रस्तुत किया गया है। चक्राब्ज में देवतापूजन एवं चक्राब्ज मण्डल में नादभेद का निरूपण प्रस्तुत करने के पश्चात् चक्राब्ज के तेजोरूप भेदों का प्रवचन प्रस्तुत किया गया है। चक्राब्ज में मन्त्र देवतान्यास तथा चक्राब्ज-मण्डल की पूजा के फल को विवक्षित करके पौष्करसंहिता के अष्टम अध्याय को इति प्रदान की गयी है।

मिश्रचक्रलक्षण नामक नवें अध्याय में मिश्रचक्र मण्डल के तीन वर्गों में से आराधनार्थ स्वीकृत दो मिश्रचक्र मण्डलों की आकृतिपरिमाण-विशेष लक्षण रञ्जन विधि आदि का निरूपण करने के उद्देश्य से मिश्रचक्र के नवधा भेदों में अरकल्पना, चक्राब्ज में पद्मसम्पादन, अरविभाग का निरूपण करके चक्रों के विशेष साधन एवं रागभेदों का विवेचन किया गया है। इसके बाद मिश्रचक्राब्ज में द्वारकल्पना की

व्यवस्था के साथ चक्रपूजा विधि में मन्त्र-न्यास की विवक्षा प्रस्तुत की गयी है। द्वारवीथी आदि के अभाव में चक्रलंघन स्वरूप मर्दन प्रसंग में दोषाभाव विवक्षित करके चक्र में तत्त्व-न्यास तथा मन्त्रों के आवाहन-विसर्जन पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में शरीर का चक्र तुल्यत्व प्रतिपादित करके स्वदेह में ही चक्रपूजन का विधान प्रस्तुत करके चक्रावयवों में देवता-पूजन तथा चक्राकृति के भगवद्विम्वतुल्यत्व को उद्घाटित करते हुए अध्याय को सम्पूर्णता प्रदान कर दी गयी है।

नवनाभविधान अथवा नवपद्म विधान लक्षण-संज्ञक दशम अध्याय में नवपद्ममण्डित विशिष्ट पद्ममण्डल की संरचना के उद्देश्य से सर्वप्रथम पौष्करकृत सामान्य प्रश्न के पश्चात् श्री विष्णु की शक्ति के रूप में व्यवस्थित नवप्रकृतियों का उनके माहात्म्य एवं पूज्यत्व के साथ निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं नवप्रकृतियों की पूजा-हेतु उनके आधारों की कल्पना करके उन शक्तियों के पूजन, ध्यानादि की यथोचित विधि के साथ विष्णु की इन शक्तियों के पूजन के फल को प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् मण्डलों के सहस्रविध विभाजन का संकेत करते हुए नवात्ममण्डल की द्वारशोभादिरचना एवं मण्डलावयवों के वर्णपूरण अर्थात् रञ्जन रूप अलङ्करण को अभिव्यञ्जित करके चक्राब्जमण्डल के नवविधों में से अत्युत्कृष्ट नवम मण्डल नवपद्ममण्डल-विवेचन से दशम अध्याय को अलंकृत किया गया है।

नवपद्ममण्डल के वृत्तबिम्बलक्षण को निरूपित करने के मुख्य उद्देश्य से पल्लवित अतिलघुकाय प्रस्तुत अध्याय में वृत्तबिम्ब विषयक पौष्कर के प्रश्नों एवं भगवदुत्तरों के साथ वृत्तबिम्ब को रंगने की विधि का निरूपण किया गया है। इसके अनुसार नवपद्ममण्डल में आलेखित नव कमलों में से केन्द्रस्थ केवल एक कमल वासुदेव का प्रतिनिधित्व करता है तथा आसपास के अन्य आठ कमल उसकी अपेक्षा कम शक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं।

पञ्चपद्मचक्रबिम्बलक्षण नामक बारहवें अध्याय में पञ्चम पद्मालंकृत मण्डल की रचना एवं अर्चनविधि का सम्यक् निरूपण प्रस्तुत किया गया है। पञ्चपद्ममण्डल में केन्द्र में प्रद्युम्न के प्रतिनिधि के रूप में एक पद्म को आलेखित करके आसपास अन्य सहयोगी शक्तियों के रूप में चार पद्मों का यथाविधि आलेखन किया जाता है। पञ्चपद्मचक्रविवेचन प्रसंग में सर्वप्रथम नवबिम्बों का दिग्विदिक्षुन्यास एवं बिम्बार्चनविधि को बताकर पञ्चपद्म बिम्ब के संसाधन, रागपूरण एवं पूजन-विधि के यथावश्यक निरूपण पूर्वक चक्रपूजन के साथ अध्याय को इति प्रदान की गयी है।

सूर्यबिम्बलक्षण नामक तेरहवें अध्याय में सूर्याकृति के ब्रह्मरूप एक पद्ममण्डित

मण्डल के रचनार्चन-विधान के निरूपण हेतु सूर्यबिम्ब-साधन एवं सूर्य-बिम्ब की रजःपूरण व्यवस्था को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद सूर्य-बिम्ब में कमल-लेखन की विधि प्रस्तुत करके सूर्य-बिम्ब के पूजन द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति के निर्देश के साथ प्रस्तुत अध्याय पूर्ण हो जाता है।

चन्द्रबिम्बलक्षण नामक चौदहवें अध्याय में सूर्यबिम्ब के पूर्णार्द्धाकार में चित्रित चन्द्राकार रूप चन्द्रबिम्ब के लक्षणादि को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम चन्द्रबिम्ब--साधन का निरूपण किया गया है। नारायण की शक्ति से अधिष्ठित प्रस्तुत चन्द्रबिम्ब-मण्डल के निर्माणार्थ चन्द्रबिम्ब के रजःपूरण, चन्द्रबिम्ब के मध्य में पद्मलेखन एवं चन्द्रबिम्बोदरस्थ नारायण के पूजन का निर्देश प्रस्तुत अध्याय को निष्कर्ष प्रदान करता है।

त्रिकोणबिम्बलक्षण नामक पन्द्रहवें अध्याय में त्रिकोणपद्ममण्डल के अशेष पक्षों का निरूपण किया गया है। चन्द्राकृति को ऋजुरेखाओं से चिह्नित कर देने पर त्रिकोण रूप विविध आकृतियाँ प्राप्त हो जाती हैं जिन्हें विविध शक्तियों से समन्वित मानकर मुख्याधिष्ठातृरूपेण ब्रह्मा की उपस्थिति स्वीकार की जाती है। त्रिस्कंधलक्षणयाग अथवा त्रिकोणबिम्ब-संसाधन का निरूपण करके त्रिकोण-बिम्ब में श्रुतिन्यास एवं त्रिकोणबिम्बोपासक की मोक्षप्राप्ति का स्पष्ट निर्देश प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

कूर्माकृत्याधृत पद्ममण्डल के सर्वाङ्गीण विवरण-हेतु समर्पित सोलहवें अध्याय में नवनाभ के सप्तमयाग, कूर्मबिम्ब के संसाधन एवं रञ्जनविधि को प्रस्तुत करके कूर्मबिम्ब के मध्य में गरुडासन की पूजा का विधान प्रस्तुत किया गया है।

शङ्खाकृत्याधृत पद्ममण्डल के निरूपण-हेतु प्रोक्त सत्रहवें अध्याय में विशेष रूप से विष्णु के नृसिंह के रूप को प्रसन्न करने के लिए पद्ममण्डल की शङ्खाकृति के निर्माणार्थ दिशा-परिमाणादि को प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम शङ्खबिम्ब-संसाधन का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। रचना-प्रक्रिया के पश्चात् रंगने की विधि बताकर सर्वकाम-सिद्धि एवं कैवल्यप्राप्ति-हेतु शङ्खोदरमध्य में नृसिंह के पूजन की सनिर्देश व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है।

नवनाभलक्षण नामक अट्ठारहवें अध्याय में नवपद्ममण्डल की रचनाविधि की पृष्ठभूमि तैयार करके कलशोदरबिम्ब संसाधन एवं उसके रंगने की विधि को बताकर उसके मध्य में वराहपूजन का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इसके बाद के मध्य में पद्मकल्पाङ्कन करके नवात्मयागों के पूजन विधि की सामान्य विवेचना एवं प्रस्तुत यागार्चन के फल को निरूपित किया गया है।

नवनाभादिमण्डलों की रचना एवं अधिष्ठातृ-अर्चन की सामान्य विवक्षा के

पश्चात् नवनाभार्चन अर्थात् नवपद्ममण्डल की अर्चना करते हुए मन्त्रात्म-भाव के द्वारा शक्तियों का विविक्तत्व विवेचित किया गया है।

आसन-देवता-न्यास नामक तेईसवें अध्याय में पद्ममण्डलगत यथाविहित स्थानों पर दैवीय शक्तियों के न्यास की व्यवस्था को निरूपित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम मण्डल के आधेयाधारक अधिष्ठातृ देवताओं के न्यास को ही निरूपित किया गया है। इसके बाद देवतायतनादि में लोकेशान पूजन-स्थूल सूक्ष्मादि शक्तियों का न्यास तथा पद्मक्षेत्रा द्वारावनीपर्यन्त मण्डल विभागों में विविध देवताओं के न्यास का निरूपण करके आसनदेवतान्यास रूप अध्याय को उपसंहार प्रदान किया गया है।

आधारासनदेवतालक्षण नामक चौबीसवें अध्याय में आधार शक्तियों का विवेचन करने के उद्देश्य से द्वारोपद्वारों एवं चतुरस्रयागों के प्रति दिशाओं में देवता-न्यास, मन्त्रपूजन में मन्त्र-विनियोग एवं देवता-ध्यान का स्पष्ट निर्देश एवं विधान प्रस्तुत किया गया है। दूसरे शब्दों में चन्द्र, कूर्म, अनन्त, धरा, पद्म, चतुर्वेद, चतुर्युग आदि की मानवीकृत शक्तियों के भौतिक वर्णन एवं शक्ति-विवेचन के साथ आधारासन-देवता-लक्षण नामक चौबीसवें अध्याय को समलंकृत किया गया है।

भगवच्छासनरतों में वृत्तिस्थानों के निरूपण से मण्डित वृत्तिविचार नामक पचीसवें अध्याय में पौष्कर के प्रश्नों के उत्तर के रूप में श्री भगवान् द्वारा यथार्चन वृत्तिस्थानों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

भोगभेद नामक छब्बीसवें अध्याय में मण्डल के अधिष्ठातृ-प्रधानदेव विष्णु एवं अन्य पूज्य देववृन्दों की तुष्ट्यर्थ भोगभेदों का निरूपण करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम भगवद्भोगों के लेह्य-पेय आदि षड्रस विभाग को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद नित्यनैमित्तिक आराधनाओं में प्रयोज्य भोगों के भेदों का निरूपण करके अग्नि में मन्त्रार्चन तथा वापी-नदी आदि में भोग के विनियोग को निरूपित किया गया है। इसके बाद वस्त्रालंकारादिसमर्पण की विधिवत् व्याख्या एवं मानसयाग-अर्चनविधि में भोगद्रव्यों को प्रस्तुत किया गया है। प्रसंगोपेत हार्दान्तर्याग के त्रैविध्य भोगसमर्पणपूर्वक पूजा के फल एवं आपत्काल में अपेक्षित विशेष नियमों को प्रस्तुत करके भोगभेद नामक प्रस्तुत अध्याय सम्पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

जयाख्य-संहिता

जयाख्यसंहिता पाञ्चरात्र-शास्त्र की दिव्य अथवा मूल संहिताओं में एक ऐसी अति प्राचीन संहिता है जिसे पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के एक अद्वितीय रत्न के रूप में स्वीकार कया जाता है। अपने सम्प्रदाय के रत्न-त्रय में एक रत्न के रूप में प्रतिष्ठित

प्रस्तुत संहिता विषय की समग्रता एवं व्यापकता से युक्त है। ऐसा विदित होता है कि दशम शती के उत्तरार्द्ध में लोकविश्रुत उत्पलाचार्य के समय तक पौष्कर एवं सात्वतसंहिता के साथ जयाख्यसंहिता को त्रयी अर्थात् ऋग्, यजुः, साम के समकक्ष स्वीकार किया जाने लगा था। उत्पल ने अपनी स्पन्दप्रदीपिका में अनेक स्थलों पर जयाख्यसंहिता के उद्धरणों को यथावत् प्रस्तुत किया है। इससे जयाख्य- संहिता की प्राचीनता का भी संकेत प्राप्त होता है। स्पन्दप्रदीपिका में अहिर्बुध्न्य- संहिता के भी एकाधिक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता में अनेक स्थलों पर जयाख्यसंहिता के विविध उद्धरणों का अक्षरशः अनुवर्तन तथा जयाख्य-संहिता का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अहिर्बुध्न्यसंहिता उत्पलकृत स्पन्दप्रदीपिका से प्राचीनतर है और जयाख्य-संहिता अहिर्बुध्न्य-संहिता से भी प्राक्तन है। डॉ० श्रेडर अहिर्बुध्न्य-संहिता का समय तृतीय शतक से पञ्चम शतक के मध्य स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में यदि जयाख्य-संहिता को तृतीय-शती से भी प्राप्तन स्वीकार किया जाए तो भी अत्युक्ति न होगी।

विविध महनीय विषयों की व्यापकता एवं हृदयग्राह्य प्राञ्जल शैली के कारण इसे एक उच्चस्तरीय शास्त्रीय संहिता माना जा सकता है क्योंकि इसकी सम्पूर्ण विषय-वस्तु को ज्ञान, योग, क्रिया एवं चर्या सञ्ज्ञक चार पारम्परिक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। सुविधा की दृष्टि से इसके त्रयस्त्रिंशत् पटलों को अधोऽङ्कितरूपेण वर्गीकृत किया जा रहा है–

1. ज्ञान-वर्ग 1-5 = 5 पटल
2. योग-वर्ग 6 से 12, 19 तथा 26 से 33=17 पटल
3. क्रिया-वर्ग 13, 14, 15, 20 तथा 21 के कुछ अंश= लगभग 4 1/2 पटल
4. चर्या-वर्ग 16, 17, 18, 22 से 25 तथा 21 के कतिपयांश=लगभग 6 1/2 पटल

इम्बार कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित 'जयाख्य-संहिता' बड़ौदा ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट से देवनागरी लिपि में वर्ष 1931 में प्रकाशित हुई। गायकवाड ओरियण्टल सिरीज़ के 54 वें पुष्प के रूप में प्रकाशित जयाख्य-संहिता में तैंतीस पटलों के अन्तर्गत लगभग 4500 श्लोकों (अनुष्टुब्बन्धों) को अत्यन्त रोचक तथा प्राञ्जल

1. प्रिन्टेड टेक्स्ट्स् ऑफ पाञ्चरात्रागमाज़, पृ. 11
2. सेयं जयाऽनूद्यते 'सर्वं जयाश्रुतं कार्यं' तत्तद्वैशेषिकं विना इति (अहि.प. 183)

शैली में प्रस्तुत किया गया है। संहिता के प्रस्तुत संस्करण में प्रथम पटल का एक अधिक पाठ भी प्रकाशित है, जिसमें 163 श्लोक हैं।

सम्पूर्ण संहिता वैष्णवानुग्रहकांक्षी नारद द्वारा भगवान् से किये गये प्रश्नों एवं श्रीभगवान् के उत्तररूप वक्तव्यों से मण्डित है। आनन्दमय परब्रह्म वासुदेव की मन्त्रमूर्त्यात्मना उपासना ही निःश्रेयसाप्ति एवं अभ्युदयाप्ति के लिए उपादेय है, अतः इसी निःश्रेयसाभ्युदयाप्ति-हेतु परब्रह्म वासुदेव की उपासना का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत संहिता का मुख्य प्रतिपाद्य है।

मन्त्रमूर्त्यात्मा श्रीभगवान् की मानस एवं बाह्ययाग-रूप आराधना के द्वारा अर्चनोपासना करते हुए भव-भय से मुक्त होकर अभ्युदय की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है, इस तथ्य के सम्यग् विवेचन-हेतु वासुदेव की मन्त्रमूर्त्यात्मनोपसना के सम्पूर्ण पक्ष प्रस्तुत संहिता में एकैकशः प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रस्तुत संहिता को चार पारम्परिक वर्गों में विभक्त करके उनके विभागों को वर्ण्यविषय की दृष्टि से ज्ञान, योग, क्रिया एवं चर्या सञ्ज्ञक चार पादों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

ज्ञान-पाद

जयाख्यसंहिता के प्रथम से पञ्चम पटल-पर्यन्त विषय-वस्तु को ज्ञान-पाद के रूप में अभिहित किया जा सकता है। प्रस्तुत पाद में सर्वप्रथम शास्त्रारम्भ प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए निःश्रेयस् परतत्त्व, भगवत्तत्व एवं भगवतत्त्वाराधन-प्रकार तथा शास्त्रोपदेशपात्रता पर संक्षिप्त वक्तव्य प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् सृष्टि इत्यादि के मौलिक ज्ञान की आदि जिज्ञासा-प्रशान्ति-हेतु सृष्टि-प्रलय, नाभिकमल से चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति से लेकर ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न रजोगुणमय विविध सृष्टि-प्रसङ्गों को विस्तृत रूपेण विवेचित करते हुए मधुकैटभ द्वारा वेदापहरण, भगवान् द्वारा वेदोद्धार तथा ब्रह्मा द्वारा वेदावधारण इत्यादि प्रसंग उद्घाटित किये गये हैं। इसके पश्चात् महदादि तत्त्वों की उत्पत्ति के रूप में अनादि त्रिगुणान्वित प्रधान-तत्त्व से चिदचित् प्राधानिक सृष्टि का निरूपण करके अविद्या आदि का निरूपण करते हुए विशुद्ध सृष्टि एवं ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को निरूपित किया गया है।

जयाख्यसंहिता के पञ्चम पटल में ब्रह्म के ज्ञान की योगाभ्यासैकलभ्यता, भगवत्छक्तिसे आत्मस्वरूप का जिज्ञासोदय, ब्रह्म का दुरवबोधत्व एवं मन्त्रोपासना का महत्त्व इत्यादि ज्ञानात्मक विषयों का निरूपण है। अतः इसे भी ज्ञान-पाद में ही परिगणित किया जाना चाहिए जबकि स्मिथ द्वारा प्रस्तुत पटल को क्रिया पाद में वर्गीकृत किया गया है।

दूसरे शब्दों में स्मिथ द्वारा जयाख्यसंहिता-गत पञ्चम पटल को क्रिया पाद में स्वीकार किया गया है जबकि ब्रह्मज्ञानोत्पत्त्याख्यान-विषयक प्रस्तुत पटल की ज्ञान-पाद में ही ग्राह्यता अधिक उपयुक्त है।

योग-पाद

जयाख्य-संहिता के षष्ठ पटल से द्वादश पटल-पर्यन्त वासुदेवार्चना के योगसम्मत विविध-पक्षों को प्रकाशित करने के उपक्रम में मातृका-पीठपरिकल्पना अर्थात् मन्त्रप्रयोगार्थ उपयुक्त भूमि चयन से लेकर विविध मन्त्रों तथा मूलमन्त्र, लक्ष्मी-मन्त्र, त्र्यक्षर परमन्त्र तथा विविध आधारासन-मन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए मन्त्रों की गोपनीयता आदि विषयों को विवेचित किया गया है। उपासना की प्रमुख अंगरूपा विविध 49 मुद्राओं, मुद्राबन्धकाल एवं उसका प्रयोजन, स्नान-विधि, समाधिव्यवस्था अर्थात् ध्यान-प्रक्रिया, मन्त्र-न्यास-प्रक्रिया, तथा विविध मानसयाग विधियों का निरूपण जयाख्य-संहिता के द्वादशपटल पर्यन्त का अलङ्करण है। इसी प्रकार संहिता के उन्नीसवें पटल तथा छब्बीसवें पटल में मन्त्रसिद्धि चिह्नाख्यान विविध मूलमन्त्रों शक्तिमन्त्रों, अङ्गमन्त्रों, नृसिंहादि वक्त्रमन्त्रों, कौस्तुभादिपरिकर मन्त्रों, सत्य-सङ्कर्षण इत्यादि उपाङ्गमन्त्र-साधन, विविध अन्य साधन-विधियों यथा विघ्नेशमन्त्र- साधन, वाणीश्वर-मन्त्र-साधन एवं वागीश्वरी यन्त्र-साधन तथा योग-विधान-पूर्वक देहपातकालाभिज्ञानलिङ्गानुकीर्तन एवं संहितामहात्म्य इत्यादि विविध-विध योगात्मक अंशों का निरूपण किया गया है। अतः जयाख्य-संहिता के उपर्युक्त योगात्मक प्रतिपाद्यों से समन्वित सप्तदश पटलों को जयाख्य-संहिता के योगपाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

क्रिया-पाद

प्रस्तुत संहता के 13वें से 15 वें तथा बीसवें पटल सहित इक्कीसवें पटल के कतिपयांशों को क्रिया-पाद के रूप में परिभाषित किया जा सकता है क्योंकि इन चार-पाँच पटलों में क्रियारूप बाह्ययाग-विधानों यथा मण्डल विन्यास अर्घ्य, द्वारपूजन, यागमन्दिर प्रवेश विधि से लेकर गणेशादि-पूजन विधि, हुन्मन्त्रादि ध्यान से लेकर स्तुति, मधुपर्कादि-समर्पण पूर्वक बाह्ययागपरिसमापन-प्रकार का निरूपण करते हुए पूजा-पद्धति सम्बन्धित आद्यन्त विवेचन करके जयविधान से सम्बन्धित अशेष पक्षों को प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् उपासनार्थ अपरिहार्य अग्निकार्य-विधि को कुण्डपरिकल्पनविधान से प्रारम्भ करके वह्नितर्पण एवं अग्निपरिषेचन-पर्यन्त पटल में पट में बिम्बविधान से लेकर प्रतिष्ठामहोत्सव के कर्तव्यता-विधानपर्यन्त प्रतिष्ठा-विषयक आद्यन्त क्रियाओं का सम्यग् विनियोग है। अतः इक्कीसवें पटल

के पवित्रारोपण विधानों सहित उपर्युक्त प्रतिपाद्यों को जयाख्य-संहिता के क्रियापाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

चर्या-पाद

जयाख्य-संहिता के सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें तथा बाइसवें से पच्चीसवें पटलों सहित इक्कीसवें पटल के उत्तरांश में चर्याविषयक निरूपण स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहा है। संहिता के इन अंशों में भिन्न-भिन्न लोगों के लिए विविध दीक्षा-विधानों का विवेचन है। नारद द्वारा दीक्षालक्षण की जिज्ञासा व्यक्त किये जाने पर श्री भगवान् मे आढ्यानाढ्य भेद से सामान्य दीक्षा के तीन प्रकारों तथा विशेष दीक्षा के पञ्चविध रूपों पर प्रकाश डालकर दीक्षा-विधि को साङ्गोपाङ्ग निरूपित किया है। सत्रहवें पटल में साधक, आचार्य एवं समयि तथा पुत्रक आदि के लक्षणों को बताते हुए शिष्य-भेदों पर सम्यग् विवेचना प्रस्तुत की गयी है। संहिता के अठारहवें-अध्याय में साधक, पुत्रक, आचार्यादि के अभिषेक विधियों का सम्यग् विवेचन है। इक्कीसवें पटल में पवित्र कर्मों के पश्चात् जप करने योग्य एक महामन्त्र-स्तोत्र प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त बाइसवें पटल में यति प्रभृति वैष्णवों के लक्षण तथा वैष्णवाचारों का निरूपण है। तेइसवें, चौबीसवें तथा पच्चीसवें पटल में श्राद्ध-अनुष्ठान-विषयक समस्त विषयों यथा पितरों का विष्णुरूप में ध्यान, पितरों का पिण्डदान, पितृश्राद्ध, प्रेतत्वनिवर्तक-वार्षिक श्राद्ध तथा पितृ-विसर्जन आदि विषयों के बाद विविध-विध संस्कारों, प्रायश्चित कर्मों एवं व्रतोपवासों का निरूपण है।

इस प्रकार जयाख्य-संहिता में ज्ञान-योग, क्रिया एवं चर्या रूप चतुर्विध विषयों को यथावश्यक रूपेण प्रस्तुत करके आनन्दस्वरूप परब्रह्म श्री वासुदेव की मन्त्रमूर्त्यात्मकोपसना का निर्बाध स्वरूप प्रशस्त करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से अभ्युदयाप्ति का मार्ग प्रदर्शित किया गया है।

रत्नत्रय-व्याख्यान संहिताएँ और सम्बद्ध दिव्यदेश

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण पाञ्चरात्र-साहित्य में रत्नत्रय के रूप में प्रसिद्ध सात्वत, पौष्कर और जयाख्य संहिताएँ सर्वाधिक प्रामाणिक, प्रतिष्ठित और पूज्य हैं। अन्य पाञ्चरात्र संहिताएँ इन्हीं की व्याख्या और उपबृंहण रूप मानी गयी हैं।[1]

---

1. अन्यान्यानि तु मन्त्राणि भगवन्मुखनिर्गतम्।
सारं समुपजीव्वैव समासव्यासधारणैः।
व्याख्योपवृंहणन्यायाद् व्यापितानि तथा तथा।। (जयाख्यसंहिता, 1, अधिकः पाठः, श्लो. 4-5, पृ. 8)।

जयाख्यसंहिता के अनुसार एक सौ आठ पाञ्चरात्रसंहिताओं में पारमेश्वर-संहिता-पौष्कर संहिता के अर्थ की विवृति के लिए उसकी व्याख्या के रूप में अवतरित हुई है, ईश्वरसंहिता सात्वतसंहिता की विवृति के लिए है तथा पाद्मसंहिता जयाख्यसंहिता की व्याख्यानरूप है। यथा-

तन्त्रेऽप्यष्टोत्तरशते पारमेश्वरसंहिता।
पौष्करार्थविवृत्यर्था व्याख्यारूपाऽवतारिता।।
सात्वतस्य विवृत्यर्थमीश्वरं तन्त्रमुत्तमम्।
जयाख्यस्याऽस्य तन्त्रस्य व्याख्यानं पाद्ममुच्यते।।[1]

जिस प्रकार पाञ्चरात्र-संहिताओं की एक सौ आठ की संख्या बतायी गयी है उसी प्रकार भगवद्व्यक्ति-क्षेत्रों की संख्या भी 108 ही प्रसिद्ध है। जिस प्रकार समस्त 108 संहिताओं में तीन संहिताएँ 'रत्न' संज्ञा से महिमान्वित हैं उसी प्रकार समस्त 108 भगवद्-व्यक्ति-क्षेत्रों अथवा दिव्यदेशों में चार दिव्यस्थान प्रसिद्ध हैं-

1. श्रीरङ्ग, 2. वेङ्कटाद्रि (तिरुपति), 3. हस्तिशैल (काञ्चीपुरम्) तथा 4. नारायणाद्रि (मेलकोटे)-

भगवदव्यक्तिदेशेषु स्वयंव्यक्तेषु भूतले।।
अष्टोत्तरशते मुख्यं रत्नभूतं चतुष्टयम्।
श्रीरङ्गं वेङ्कटाद्रिश्च हस्तिशैलस्ततः परम्।।
ततो नारायणाद्रिश्च दिव्यस्थानचतुष्टयम्।।[2]

इन चार दिव्यस्थानों में वेङ्कटाद्रि अर्थात् तिरुपति में वैखानस आगम के अनुसार आराधना होती है। उसको छोड़कर शेष तीन स्थान श्रीरङ्ग, हस्तिशैल तथा यादवाद्रि को दिव्यदेशों में रत्नत्रय माना गया है। दिव्यदेशों में रत्नत्रय (श्रीरङ्गम्, काञ्चीपुरम्, तथा मेलकोटे) में संहिताओं में रत्नत्रय (पौष्कर, जयाख्य और सात्वत संहिता) के अनुसार आराधना होती है :-

वेङ्कटाद्रिं विनाऽन्येषु देवदेवस्य धामसु।
रत्नेषु त्रिषु रत्नानि त्रीणि तन्त्राण्युपासते।।[3]

---

1. तत्रैव, 6-8
2. तत्रैव, 8.10 द्रष्टव्य-'क्षेत्रेष्वेतेषु योगीन्द्राः सारभूतं चतुष्टयम्।।
श्रीरङ्गं वेङ्कयद्रिश्च हस्तिशैलस्त्वनन्तरम्।
ततो नारायणाद्रिश्च मम धामचतुष्टयम्।। (ईश्वरसंहिता, 20-111, 112)
3. तत्रैव, 10-11

यादवाद्रि (मेलकोटे) में सात्वसंहिता के अनुसार, श्रीरंगम् में पौष्करसंहिता के अनुसार, तथा हस्तशैल में जयाख्यसंहिता के अनुसार आराधन-क्रम प्रचलित है। ईश्वर-संहिता के शब्दों में-

सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च।
एतत्तन्त्रत्रयोक्तेन विधिना यादवाचले।
श्रीरङ्गे हस्तिशैले च क्रमात् सम्पूज्यते हरिः।।[1]

जयाख्यसंहिता यही बात अधिक स्पष्ट शब्दों में कहती है-

सात्वतं यदुशैलेन्द्रे श्रीरङ्गे पौष्करं तथा।
हस्तिशैले जयाख्यं च साम्राज्यमधितिष्ठति।।[2]

रत्नत्रय के समान इनकी व्याख्यान-संहिताओं का भी इन तीन स्वयंव्यक्त क्षेत्रों से सम्बंध है। इस प्रकार हस्तिशैल में पाद्मसंहिता, श्रीरंगम् में पारमेश्वरसंहिता, तथा यादवाद्रि (मेलकोटे) में ईश्वरसंहिता के अनुसार आराधना होती है। जयाख्यसंहिता का कथन है-

पाद्यतन्त्रं हस्तिशैले श्रीरङ्गे पारमेश्वरम्।
ईश्वरं यादवाद्रौ च कार्यकारि प्रचार्यते।।[3]

ऊपर प्रपंचित अर्थ का प्रथम दृष्ट्या अवबोध निम्न प्रकार से सुकर होगा-

	रत्नत्रय	व्याख्यान-संहिताएँ	दिव्यदेश
1.	सात्वतसंहिता	ईश्वरसंहिता	याद्रवादि (मेलकोटे)
2.	पौष्करसंहिता	पारमेश्वरसंहिता	श्रीरङ्गम्
3.	.जयाख्यसंहिता	पाद्मसंहिता	हस्तिशैल

सम्प्रति क्रमशः इन रत्नत्रय व्याख्यान संहिताओं के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय को संक्षेप में पृथक्-पृथक् निरूपित किया जा रहा है-

ईश्वर-संहिता

सद्विद्या प्रेस मैसूर द्वारा सन् 1890 में मूलतः तेलगू लिपि में सर्वप्रथम प्रकाशित

1. ईश्वरसंहिता, 1.64, 67
2. जयाख्यसंहिता, 1, (अधिकः पाठः) श्लो. 12-13, पृ. 8
3. वहीं, श्लो. 13-14

ईश्वर--संहिता का एक देवनागरी संस्करण काञ्जीवरम् सुदर्शन प्रेस द्वारा वर्ष 1923 में प्रकाशित होकर पाञ्चरात्रागम साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहा है।[1] लगभग 8200 श्लोकों में प्रोक्त प्रस्तुत संहिता 25 अध्यायों में विभक्त है। प्रतिपाद्य-विषय की दृष्टि से प्रस्तुत संहिता को चार भागों में विभक्त करके इसके प्रतिपाद्य-वस्तु का निरूपण किया जा सकता है।

ईश्वर-संहिता के अवतरणक्रम में ऋषियों को अवगत कराते हुए नारद द्वारा प्रोक्त शास्त्रावतार रूप प्रथम अध्याय के साथ द्वितीय से नवम अध्याय पर्यन्त आठ अध्यायों में देवालयगत नित्य पूजनार्चन आदि को विस्तृतरूपेण निरूपित किया गया है।

संहिता के प्रथम अध्याय में बदरिकाश्रम से आये हुए मुक्त्यन्वेषी मुनिवृन्दों को नारायणप्रेरित नारद सात्वतसंहिता के मूलतत्त्वों को ऋषिपरम्परया प्रोक्त बताते हुए स्वयं ईश्वर-प्रोक्त ईश्वरसंहिता के शुद्धस्वरूपत्व का प्रतिपादन करते हैं। द्वितीय अध्याय में आदर्श देवार्चनरूप मानसयाग अर्थात् मानसिकार्चन विधि का निरूपण करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम शौचादि नित्यक्रियाओं का सङ्केत करके देवप्रासादगत देवीदेवोत्थापन विधि का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् न्यासादि-पूर्वक विहित मन्त्रों द्वारा ईश्वर-ध्यान के साथ सर्वविध मानसोपचार का सविधि निरूपण किया गया है। विमान-देवतार्चनविधि नामक तृतीय अध्याय में मन्दिर-विमानस्थ देवीदेवताओं की पूजार्चना का सश्रद्ध निरूपण करके विविध ध्यान-क्रियाओं के साथ देवालयस्थ अलौकिक विभूतियों के बाह्ययाग रूप सम्यगर्चन को समष्टि प्रदान की गयी है। अर्चन-विधान-क्रम की शृंखला में ही प्रोक्त चतुर्थ अध्याय में धूप-दीपादि विधान के साथ चक्र, अग्नि, यम, ईशान, वायु, सूर्य, चन्द्र, गरुड एवं विष्वक्सेनादि सह-देवताओं के अर्चनानुष्ठान का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद पुष्पाभिषेक, नैवेद्य एवं ध्यानादि सहित विष्णूपासना का विशिष्ट स्वरूप बताते हुए स्नानदानादि विधान को समष्टि प्रदान करते हुए सात्त्विक नीराजन-पर्यन्त अर्चनावयवों का एकैकशः निरूपण किया गया है। प्रस्तुत क्रम में ही पञ्चम अध्याय में फल एवं विविध व्यञ्जनादि की उपयुक्त व्यवस्था का संकेत करते हुए अग्निकार्य का व्यापक विधान प्रस्तुत किया गया है। अग्निकार्यानुष्ठान के ही उपक्रम को प्रस्तुत करते हुए षष्ठ अध्याय में पितृसंविभागानन्तर मन्दिर के गोपुरस्थ

1. केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा सन् 1960 में इसके एक देवनागरी संस्काण के प्रकाशन की योजना थी।

एवं प्रवेशमार्गस्थ देवियों की यथोक्त पूजा के निर्देश के साथ बलिसंप्रदानपूर्वक अग्निकार्य को समष्टि प्रदान की गयी है। अग्निकार्यानन्तर नित्यार्पणीयार्चन को नित्योत्सव के रूप में प्रस्तुत करके क्रमशः अनुयाग, अष्टाङ्ग-पूजा एवं द्वादशकलाप पूजा का सम्यग् विवेचन किया गया है। यथावश्यक रूपेण आवाहन एवं विसर्जन के साथ अवशिष्ट पुष्पादि-पूजा-संभार को विष्वक्सेन को समर्पित करके देवशयनार्थ मन्दिर कपाटों को बन्द करने का निर्देश करके शयनोत्सव के साथ ही षष्ठ अध्याय समाप्त हो जाता है। लक्ष्मीसुदर्शनार्चनविधि-निरूपणात्मक सप्तम अध्याय में लक्ष्मी एवं भू को विष्णुशक्ति के भोक्तृशक्ति एवं कर्तृशक्ति रूप दो रूपों का संकेत करके लक्ष्मी के योगलक्ष्मी, भोगलक्ष्मी एवं वीरलक्ष्मी संज्ञक तीन रूपों का वर्णन किया गया है। लक्ष्मी के प्रथम दो स्वरूपों की उपासना विष्णु के साथ तथा वीर शक्ति रूप तृतीय स्वरूप की अर्चना पृथक् किये जाने का निर्देश करके लक्ष्मी के परतन्त्र एवं स्वतन्त्र उपासना का विस्तृत विधान पृथक्-पृथक् स्तोत्रों सहित पृथक्-पृथक् निरूपित किया गया है। लक्ष्मी-अर्चन-विधान का सम्यक् निरूपण करके मन्त्र निर्देशादि-पूर्वक सुदर्शन की पूजा का सविधि विवेचन किया गया है। लक्ष्मी-सुदर्शन-विधि के पश्चात् अष्टम अध्याय में गरुड, विष्वक्सेनादि परिवारदेवों के अर्चन-विधान का विवेचन करके गजानन, जयत्सेन, हरिवक्त्र एवं कालप्रकृति संज्ञक विष्वक्सेनानुचरों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। विष्वक्सेन के साथ इन अनुचरों की पूजनव्यवस्था का निरूपण करके वैष्णवों अर्थात् विष्णुभक्तों के प्रति श्रद्धा-भाव व्यक्त किये गये हैं। संहिता के नवम अध्याय में मन्दिर के द्वारावरणदेवताओं के एकैकशः नामनिर्देश-पूर्वक उनके लक्षण, स्थिति एवं पूजनादि का विस्तृत विवेचन करके नित्य कर्मों का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त नव अध्यायों में नित्य कर्मों की क्रमिक प्रस्तुति के पश्चात् ईश्वरसंहिता के दस अध्याय से पन्द्रह अध्यायों में विविध नैमित्तिक कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। संहिता के दशम अध्याय में महोत्सवाङ्ग ध्वजारोहण-पर्यन्त महोत्सव के नियमों एवं व्यवस्थाओं का निरूपण करते हुए एकादश अध्याय में महोत्सव-वर्णन को समष्टि प्रदान की गयी है। उपर्युक्त दोनों अध्यायों में नव दिवसीय मुख्योत्सवों का वर्णन करके मण्डप-ध्वजादि की निर्माण व्यवस्था के साथ रक्षाबन्धन, ध्वजारोहण, अवभृतोत्सव एवं पुष्पयाग सहित विविध महोत्सवाङ्गों-अनुष्ठानों का एकैकशः वर्णन करते हुए महोत्सव-विधान का फलादेशपूर्वक आद्योपान्त सम्यग् निरूपण किया गया है। इसी प्रकार द्वादश अध्याय में द्वादशी-उत्सव, विशाखोत्सव, प्लवोत्सव आग्रायणोत्सव, डोलोत्सव एवं स्वापोत्सव संज्ञक विविध पक्षोत्सवों को एकैकशः

विधिवत् निरूपित किया गया है। सकलोत्सव-विधि-निरूपक तेरहवें अध्याय में विविध वार्षिकोत्सवों यथा कृष्णजन्मदिवसोत्सव अथवा जयन्ती उत्सव, राम जन्मदिवसोत्सव, नृसिंहजन्मदिनोत्सव, वराहजन्मोत्सव, वीरलक्ष्मी-उत्सव, विजयदशमी-उत्सव, दीपोत्सव, शुक्लोत्सव, मार्गशीर्षोत्सव, मृगयोत्सव एवं ईश्वर के निमित्त यजमान द्वारा उपहार वितरणोत्सव का एकैकशः विशद विवेचन किया गया है। उपर्युक्त क्रम से ही चतुर्दश अध्याय में चातुर्मास्यान्तर्गत योगनिद्रानिमग्न विष्णु के शुद्धि-संस्कार रूप पवित्रारोहण अनुष्टान का प्रतिविम्बन किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अपेक्षित मण्डप एवं अन्य अपेक्षित संभारों का वर्णन करके अधिवास, अंकुरार्पण एवं रक्षाबन्धन रूप कर्मों के काल-विधि आदि के निरूपणपूर्वक 'पवित्रोत्सव' को समष्टि प्रदान की गयी है। पवित्रोत्सव के पश्चात् तीर्थबिम्ब को पवित्र नदी आदि में ले जाकर सपरिवार आचार्य सहित तीर्थबिम्ब के स्नान की प्रक्रिया का निरूपण करके अध्याय उपसंहार को प्राप्त हो जाता है। पूर्व निर्दिष्ट बिम्बस्नान की विधि को व्यापकता प्रदान करते हुए नैमित्तिक कर्मों के उपसंहार के रूप में संहिता के पन्द्रहवें अध्याय में विकल्प एवं भेदोपभेदों सहित स्नपन विधि का प्रवर्तन किया गया है।

ईश्वर संहिता के 16 से 19 अध्याय-पर्यन्त तृतीय संवर्ग में काम्यक्रियाओं, मन्दिर-निर्माण एवं विविध प्रायश्चित्तों का विस्तृत निरूपण किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रासादादिप्रतिष्ठाविधि-विवेचक सोलहवें अध्याय में योग्य-आचार्य एवं शिल्पी-चयनपूर्वक भूपरीक्षा, पर्णकुटी-निर्माण, शङ्कुस्थापन बालालयस्थापन एवं मण्डप-गोपुरादि सहित प्रासाद-प्रतिष्ठापन प्रक्रिया को आद्योपान्त प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत अनुक्रम में ही प्रोक्त सत्रहवें अध्याय में देवप्रतिष्ठानुष्ठान की पूर्वपीठिका के रूप में विविध प्रतिमाओं के लक्षण एवं परिमाण आदि को बताते हुए प्रतिमाओं के षड्विधत्व सहित उत्कृष्ट पाँच मूर्ति-भेदों के आनुपातिक परिमाण एवं स्वरूपादि का प्रपञ्चन किया गया है। उपर्युक्त विषयों का प्रतिपादन करने के साथ वाहनादि का प्रतिरूपण करते हुए एकबेर एवं बहुबेर मन्दिरों की प्रतिमाओं के लिए अपेक्षित सोलह आसनों अर्थात् पीठिका-प्रकारों का एकैकशः निरूपण किया गया है। उत्सवबेर प्रतिमा के लिए भिन्न आकृति वाले आसन-प्रभेद का निरूपण करके प्रतिमा को आसनासन्न करने हेतु प्रणाली भेदों का प्रयोग विधिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। प्रासाद-निर्माण एवं प्रतिमाओं को आसनासन्न करने की विधि के पश्चात् प्रोक्त अष्टादश अध्याय में मण्डपनिर्माणादि पूर्वक जलाधिवास, धान्याधिवास-संप्रेक्षण मन्त्रन्यासादि-प्रतिष्ठाङ्गों सहित प्रतिष्ठाऽनुष्ठान का विशद एवं व्यापक विधान प्रस्तुत किया गया

है। प्रतिष्ठाविधानान्तर अध्याय के अन्त में प्रतिष्ठित देव-प्रतिमाओं के आभूषणादि सहित पूजन सामग्री का वर्णन करके प्रतिष्ठाऽनुष्ठानों को समष्टि प्रदान की गयी है। संहिता के एकोनविंश अध्याय में ज्ञाताऽज्ञात त्रुटिस्खलनों के प्रशमनार्थ शान्ति-होमपूर्वक विविधप्रायश्चित्तों की व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है।

स्वयंव्यक्त भगवत् प्रतिमा के वैभवक्षेत्र मेलकोटे किंवा यादवाचल के माहात्म्यप्रतिपादन के उद्देश्य से प्रोक्त बीसवें अध्याय में श्रीरङ्गम्, तिरुपति, काञ्चीवरम् एवं मेलकोटे का प्रसंगोपेत निर्देश करके नारायणाद्रि अर्थात् यादवाचल का आख्यानात्मक विशद निरूपण किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में पुष्ट प्रमाणों द्वारा महत्त्वपूर्ण तिथियों, स्थानों एवं मेलकोटे में मनाये जाने वाले मुख्य उत्सवों-सहित श्रीरङ्गम् की स्थापना का रोचक दृष्टान्त भी संक्षेपतः प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में मेलकोटे में विलसित कल्याणीतीर्थ सहित मुख्य अधिष्ठातृ-आराध्यदेव नृसिंह भगवान् की विशुद्ध एवं सात्त्विक प्रशंसा एवं स्तुति का मधुर विन्यास प्रस्तुत किया गया है।

ईश्वरसंहिता के इक्कीसवें अध्याय में मात्र दीक्षित व्यक्ति की ही भगवदुपासनार्हता के पूर्वनिर्दिष्ट सङ्केतानुसार मुनिवृन्द दीक्षा-संस्कार के विषय में अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हैं जिसके प्रत्युत्तर के रूप में नारद संस्कार पूर्वक शुद्ध्यादिक क्रियाओं का निर्देश करके पाञ्चरात्र दीक्षा-संस्कार का सांगोपांग विवेचन करते हैं। यथावश्यक मण्डप, यागशाला-होमादि दीक्षाङ्गों का एकैकशः प्रणयन करते हुए इसी अध्याय में वैभव, अपर एवं एकानेक दीक्षा के साथ नित्य, व्यूह, ब्रह्म एवं परमन्त्र दीक्षा-प्रकारों का वर्णन किया गया है। इसके बाद स्वार्थ एवं पदार्थ दीक्षा के विविध पक्षों के साथ तद्तद्दीक्षा--दीक्षित व्यक्तियों के अधिकार-क्षेत्रों का निरूपण किया गया है। इसी अध्याय के उत्तरांश में आगम, मन्त्र, तन्त्र एवं तन्त्रान्तर संज्ञक पाञ्चरात्रागमांगों का सङ्केत करके तत्तन्मार्गी उपासनक्रम को पृथक्-पृथक् प्रयुक्त करने को निर्दिष्ट किया गया है। प्रस्तुत क्रम में ही प्रोक्त नियमविधान नामक बाइसवें अध्याय में दीक्षित शिष्य के लिए विविध निषिद्ध आचरणों एवं कर्मों का निर्देश करके नियमाचरणपूर्वक पालन करने योग्य विविध कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत अध्याय में निषिद्ध कर्मों एवं क्रियाकलापों की उपेक्षापूर्वक निर्दिष्ट कर्मों का यथावत् आचरण करके दीक्षित व्यक्ति भगवदुपासना का आदर्श पात्र होकर परम पद की प्राप्ति के योग्य हो जाता है ऐसा उल्लेख है।[1]

1. कल्याण-तीर्थ।

प्रतिपाद्यविषयानुसार ईश्वरसंहिता के अन्तिम संवर्ग में उपदिष्ट दिव्यशास्त्र, मन्त्र, मुद्रा, ध्यान एवं अन्य अर्पणीय अवशिष्ट घटकों सहित कुण्डादि के लक्षणों को प्रस्तुत करके संहिता का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में संहिता के तेइसवें अध्याय में प्रस्तुत संहितारूप दिव्यशास्त्रादिकों के स्वरूप एवं विशेष नियमादि का विवेचन करके अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर एवं षडक्षर मन्त्रों के स्वरूप एवं जयादि विधान के साथ दिव्यशास्त्रादि एवं मन्त्र-स्वरूप को समष्टि प्रदान की गयी है। शास्त्र-स्वरूप एवं मन्त्रविधानानन्तर प्रोक्त चौबीसवें अध्याय में ईश्वर-ध्यान-प्रक्रिया के साथ भगवदुपासना में संप्रयोज्य विविध मुद्राओं के स्वरूप, लक्षण एवं विनियोग का निर्दशन किया गया है। वैभवी, अविद्यादलनी, हार्द्रधी, शीर्ष, शिखा, तनुत्र, अस्त्र, नेत्र, किरीटा, श्रीवत्सा, पद्मा, कौस्तुभ, माला, पाद्मी, शङ्ख चक्र, कौमोदकी, शक्ति, पक्षिराज, अञ्जली, दहन, आप्यायन एवं कामधेनु संज्ञक मुद्राओं सहित पुरुषार्थचतुष्टयाप्त्यर्थ अनन्तासन मुद्रा, धामत्रयमुद्रा, विष्वक्सेन, सिद्धसन्तति, अग्नि, सन्निधि, सांमुख्य एवं विसर्जनमुद्राओं के लक्षण एवं प्रयोग एक-एक करके इस अध्याय में निरूपित किये गये हैं। उपर्युक्त मुद्राओं के पश्चात् ईश्वर के विविध स्वरूपों में ध्यान केन्द्रित करने हेतु तत्तत् स्वरूपों के मन्त्रों सहित ईश्वर ध्यान-प्रक्रिया के समस्त अपेक्षित पक्षों को एक-एक करके समुद्घाटित किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में ईश्वर के व्यूह स्वरूपों के साथ जिन मूर्तियों के ध्यान-मन्त्रों का विशेषतया निरूपण किया गया है वे आदिशेष, शक्तीश, मधुसूदन, विद्याधिदेव, कपिल, विश्वरूप, हंसमूर्ति, वासुदेव, वाजिवक्त्र, कूर्म एवं नरसिंह है। अध्याय के उत्तरांश में श्रीपति के रूप में विशेष उल्लेख के साथ ध्यान-प्रशंसा भी की गयी है। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में गरुड के 51 स्वरूपों का भी विवरण देकर तत्-सम्बद्ध विष्णु के विविध स्वरूपों का भी ध्यान किया गया है।

संहिता के अन्तिम अर्थात् पच्चीसवें अध्याय में पूजन में प्रयुक्त होने वाले कुण्ड, स्रुक्, स्रुवा आदि पूजन संभारों के स्वरूप एवं लक्षणादि को बताते हुए सर्वप्रथम हविस् पाक विधान का सम्यक् निरूपण किया गया है। एतदनन्तर प्रस्तुत शास्त्र के उपसंहार के रूप में शास्त्रोपदिष्ट आचरण के फलस्वरूप दीक्षित भक्त के लिए समस्त ऐहिक एवं आमुष्मिक जीवन लक्ष्यों अर्थात् पुरुषार्थों की निश्चित-प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख करके संहिता को इतिश्री से समलंकृत किया गया हे।

श्रीपारमेश्वर-संहिता

मूलतः पौष्कर संहिता के सारांश रूप में प्रोक्त पारमेश्वरसंहिता पाञ्चरात्रागम का

एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसकी उपासना का प्रमुख केन्द्र श्रीरङ्गम् है। छब्बीस अध्यायों एवं लगभग 7800 श्लोकों से मण्डित प्रस्तुत संहिता देवनागरी लिपि में श्री उ.वे. गोविन्दाचार्य द्वारा सम्पादित एवं श्रीरङ्गम् से 1953 ई. में श्री विलास प्रेस द्वारा प्रकाशित है। पाञ्चरात्र संहिताओं के चतुर्विध पारम्परिक विभागों अर्थात् पाद-वर्गीकरण का आंशिक संकेत प्रस्तुत संहिता में विद्यमान है। प्रस्तुत संहिता में ज्ञान एवं क्रिया काण्डों का अलंकरण है जिसमें ज्ञानकाण्डान्तर्गत शास्त्रावतार नामक मात्र एक ही अध्याय है तथा शेष 25 अध्याय क्रिया-काण्ड के रूप में प्रोक्त हैं। प्रस्तुत संहिता के आंग्ल-भाषात्मक प्रवेक्षक से ज्ञात होता है कि इसमें 16000 श्लोक थे किन्तु ज्ञान-काण्ड-प्रवर्तक केवल एक काण्ड है, शेष लुप्त हैं।

सनक और शाण्डिल्य के संवादरूप में प्रोक्त प्रस्तुत संहिता की विषय वस्तु अध्याय क्रम में इस प्रकार है–

ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत प्रोक्त मात्र एक शास्त्रावतार नामक प्रथम अध्याय में मंगलाचरण-पूर्वक तोताद्रि शिखर पर तपस्यारत सनक को ईश्वर द्वारा शाण्डिल्य के पास जाने को प्रेरित किये जाने का निर्देश किया गया है। एतदनन्तर शाण्डिल्य द्वारा सनक को एकायन वेद का अध्यापन एवं युगक्रमों से उसके संचारक्रम का वर्णन किये जाने का उल्लेख है। इसके बाद एकायन वेद के शब्दार्थ एवं नारदादि द्वारा इसके अध्ययन के क्रम के साथ ही मूल वेद माहात्म्यपूर्वक एकायनवेद के मूलवेदत्व एवं ऋगादि के तच्छाखात्व का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। अतः इस अध्याय में एकायन वेद के माहात्म्यादि सहित इसके युगयुगान्तर-गम्य अवतरण क्रम को प्रस्तुत करके ज्ञान एवं क्रियाकाण्ड रूप द्विविध निरूपण के साथ संहिता के प्रवचन की पृष्ठभूमि निर्मित की गयी है। अध्याय के अन्त में ज्ञान-काण्ड का आदि एवं अन्त प्रस्तुत करते हुए जीवात्मा एवं मन्त्र-ध्यान-मुद्रा-योग आदि तत्त्वों का संकेत मात्र प्रस्तुत किया गया है।

पारमेश्वर संहिता के क्रिया-काण्ड के अन्तर्गत ही इसके शेष 25 अध्याय रचित हैं। इसके क्रिया काण्डगत अध्यायों में नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों, प्रायश्चित विधान, तुलाभार एवं कर्षणादि कर्मों के साथ ही प्रासाद प्रतिमा भद्रपीठादि लक्षण सहित स्थापनान्त अशेष देवयजनानुष्ठानों के विधान का निर्देश प्रथम अध्याय के उपसंहार में ही कर दिया गया है।

पारमेश्वरसंहिता के साधक स्नानविधि नामक द्वितीय अध्याय में याग एवं होमादि की अर्हता के प्रथम निमित रूप स्नान-विधान को सांगोपांग निरूपित किया

गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसमें प्रबोध काल में उत्थानक्रम से लेकर स्नान-पर्यन्त क्रियमाण विविध शौचादि क्रियाओं एवं स्नान के विविध-विध विधि-निषेधों का वर्णन करते हुए स्नानकाल प्रयोज्य मुद्राओं, आचमन एवं तर्पण विधान के साथ मन्त्र, ध्यान, दिव्य, आग्नेय, वायव्य एवं पार्थिवादि स्नानों एवं उनके प्रभावों का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत संहिता के क्रियाकाण्डगत तृतीय अध्याय में समाधि-व्याख्यान के उद्देश्य से उर्ध्वपुण्ड्रधारण विधि, स्थान-पात्र-हस्तादिशुद्धि, दिग्बन्ध एवं प्राणायम के साथ द्विविधा भूतशुद्धि का निरूपण है।

मन्त्र-न्यास विधि नामक चतुर्थ अध्याय में न्यास की महिमा, आवश्यकता एवं लक्षण-पूर्वक न्यास-त्रैविध्य का निरूपण करके अंगुलिविशेष एवं आयुध-भूषण, गरुड आदि मन्त्रों की न्यास-प्रक्रिया के साथ मन्त्रों की मुद्रा-विधि एवं देवताभावन-पूर्वक विघ्ननिवारणार्थ शिखा में कुसुमधारण का विधान प्रस्तुत किया गया है।

मानसयाग नामक पञ्चम अध्याय में विविध देव-शक्ति आदि की ध्यान-प्रक्रिया के साथ शब्दब्रह्म एवं सुषुम्नानाडी के स्वरूप का वर्णन करके विविध मानस यागों अर्थात् मानसिकार्चन एवं होमादिकों का स्वरूप एवं विधि-निरूपण पूर्वक वर्णन किया गया है।

बहिर्याग नामक षष्ठ अध्याय में बेरपूजा के सम्पूर्ण विधान को प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सामग्रियों के एकत्रीकरण, शुद्धीकरण एवं यथास्थान विनिवेशन के विधान-पूर्वक अर्घ्य-पाद्य-पुष्पादि द्वारा पवित्र साधक की अर्चन-पद्धति को उपयुक्त मन्त्र निर्देशों के साथ प्रस्तुत किया गया है।

अग्नि कार्य-पितृसंविभाग एवं नित्योत्सव आदि के वर्णन के उद्देश्य से प्रोक्त दीर्घकाय सप्तम अध्याय में नित्य होम, पितृक्रिया आश्रयार्चन, नित्योत्सव, प्राण-यात्रा, स्वाध्याय एवं योग आदि विविध विषयों को सांगोपांग निरूपित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इस अध्याय में कुण्ड-निर्माण से लेकर पूर्णाहुतिपर्यन्त अग्नि-कार्य, श्राद्ध-पिण्डादि के रूप में पितृसंविभाग, बलिदानादि एवं बलिपीठादि के रूप में नित्योत्सव, आगमादि के स्वाध्याय एवं अष्टांग योग का विस्तृत निरूपण किया गया है।

गरुड विष्वक्सेनादि-परिवारार्चन-विधान नामक अष्टम अध्याय में गरुड एवं विष्वक्सेनार्चन के विधान को सांगोपांग निरूपित करके भक्त के लक्षण-निर्देश पूर्वक द्वारावरणादि परिवारदेवों के अर्चन का विधान प्रस्तुत किया गया है।

द्वादशकालार्चनकाल-विभाग-निर्णय नामक नवम अध्याय में कालत्रय-पूजा का संकेत करके द्वादशकालार्चन के सन्दर्भ में तत्तत्कालगत करणीय अनुष्ठानों के निर्देश-पूर्वक द्वादश कालों में नाडिका विभाग का प्रवचन किया गया है। इसके बाद तिथि नक्षत्रनिमित्तक कर्मों के काल एवं विवरण को प्रस्तुत करके तीर्थयात्रा, पवित्रादोह, काम्यकर्म, प्रायश्चित्त आदि के कालों का प्रवचन करते हुए पञ्चकाल-विवरण को प्रपञ्चित किया गया है। अध्याय के अन्त में पञ्चकाल-कृत्य कर्मों में से अन्तिम याग संज्ञक कृत्य के अभिगमन आदि अष्टांगों का वर्णन करके यागादि के फलकथनपूर्वक अध्याय का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।

स्वयंव्यक्तादि प्रासाद-देवतानिर्णय नामक दशम अध्याय में प्रासादगत लोकसप्तकव्याप्ति स्थानों, अध्वषट्कव्याप्ति स्थानों एवं पच्चीस तत्त्वों के स्थानों का निश्चितीकरण करके सर्वप्रथम गवाक्ष द्वारा शुकनाशा की योजना के माध्यम से प्रासाद के विविध स्थानों पर समस्त विमानावयवदेवों एवं पच्चीस तत्त्वों की पृथक्-पृथक् स्थिति का व्यापक निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद स्वयंव्यक्तादि के स्वरूप, रूप एवं माहात्म्यादि की चर्चा करते हुए श्रीरङ्गनाथ मन्दिर के दिव्य मौलिक रहस्य को उद्घाटित करके श्री रङ्गनाथ के वैभव का व्यापक निदर्शन है। अध्याय के अन्त में भगवादाराधन के मार्गत्रय का वर्णन करके भागवत, दिव्य एवं ऋषिशास्त्र सहित शास्त्र के सात्त्विक, राजस एवं मानस भेदों के स्वरूपादि का वर्णन किया गया है। अपरिहार्य परिस्थितियों में विकल्प रूप पौरुष शास्त्र की ग्राह्यता का संकेत करके उपर्युक्त शास्त्रों के ग्रहणक्रम-निर्देश पूर्वक शास्त्र-चर्चा के साथ ही प्रस्तुत अध्याय सम्पन्न हो जाता है।

द्वारावरणादिदेवता-ध्यान-निर्णय नामक ग्यारहवें अध्याय में द्वारावरणादि आवरणाष्टक देवताओं के लक्षण-स्थापन, स्थान एवं उनके अर्चन-विधान के साथ बलिबेरादि के भंग हो जाने पर अंगवैकल्य के सन्धान एवं प्रायश्चित्त तथा दारुणादि बिम्बसमाधान-व्यवस्था का सर्वांगीण वर्णन किया गया है।

पवित्रारोपण विधान नामक बारहवें अध्याय में पवित्रोत्सवकाल, यागशाला-वेदिका तथा उर्ध्वतोरण-ध्वजादि के विस्तृत वर्णन के साथ ही सूक्ष्म एवं स्थूल पवित्र-संभेदों का लक्षण प्रस्तुत करके उत्सवप्रकार का व्यापक एवं सांगोपांग प्रपञ्चन किया गया है। यह अध्याय अति विस्तृत भी है।

स्वापशयनोत्थापनोत्सवविधि नामक त्रयोदश अध्याय में भगवान् के शयन एवं उत्थापनोत्सव के क्रमिक-वर्णनोद्देश्य से शयनोत्सवकाल एवं शयनागार का

वर्णन करके आचरणीय विधानों के साथ सर्वप्रथम शयनोत्सव का प्राञ्जल निरूपण किया गया है। इसके बाद भगवत् शयनकालगत चातुर्मास्य व्रतोत्सव सहित भगवदुत्थापनोत्सव का व्यापक वर्णन करते हुए उत्सवद्वय एवं सेवाश्रवणादि के फल को निर्दिष्ट किया गया है।

स्नपन-विधान नामक चौदहवें अध्याय में भगवत्-स्नपनसंस्कार के पर एवं अपर भेदों को लक्षण एवं वैशिष्ट्यादि पूर्वक एकैकशः निरूपित करके सहस्त्रकलशाभिषेक का सांगोपांग व्यापक निरूपण किया गया है। इस अध्याय में दसकलशात्मक पर तथा 36 कलशात्मक अपर स्नपनों अर्थात् छियालिस स्नपनों-सहित सहस्त्रकलशाभिषेक प्रक्रिया को आद्योपान्त विधानपूर्वक निरूपित किया गया है।

प्रतिष्ठाविधान नामक महाकाय पन्द्रहवें अध्याय में प्रतिष्ठा के सप्तविधत्वादि का वर्णन करके एकबेर-बहुबेर लक्षण-पूर्वक सर्वप्रथम यागशाल के निर्माण एवं परिमार्जनादि का व्यापक विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद जलान्नाधिवासादि-सहित प्रतिष्ठा-विधि का सम्पूर्ण व्यापक विवेचन करते हुए जीर्णोद्धार-विधि का प्रकाशन किया गया है। इस प्रकार प्रतिष्ठा एवं जीर्णोद्धार के सर्वविध वर्णन के अनन्तर नीराजन-विधि का कालादिसहित भेदोपभेद-वर्णन पूर्वक निरूपण किया गया है।

महोत्सवविध्यंगरूप देवतावाहनान्त-विधान नामक सोलहवें अध्याय में ध्वजाङ्कुरार्पण, ध्वजस्तम्भ-प्रतिष्ठा, वैनतेय-प्रतिष्ठा एवं ध्वजारोहण आदि विधानों का एकैकशः सर्वाङ्गीण विवेचन करते हुए विविध देवताओं के आह्वाहन एवं उत्सवागत देवताओं की पूजा-व्यवस्था को बृहद्रूप से विश्लेषित किया गया है। अध्याय के अन्त में कतिपय प्रायश्चित्तों का भी स्पष्ट निर्देश है।

उपर्युक्तोपक्रम में ही महोत्सव-विधि नामक सत्रहवें अध्याय में अङ्कुरार्पण, कौतुकबन्ध, रथारोहण, पुष्पयाग आदि सहित तीर्थयात्रापूर्वक अवभृथोत्सव का वर्णन करके मूल बेर प्रतिमा में भगवदुपस्थिति के आयाम को प्रपञ्चित किया गया है। इसके बाद देवतान्तरोत्सव को उत्सवफलादिपूर्वक विवेचित करके नैमित्तिकोत्सव- सहित दमनोत्सव, अध्ययनोत्सव, वैशाखोत्सव एवं कृत्तिकोत्सव का वर्णन किया गया है। अध्याय के अन्त में उत्थानैकादशी उत्सव के गायक एवं श्रोता को प्राप्त होने वाले फल का प्रवचन करके आचार्य-शिष्य सम्बन्धी कुछ वैशिष्ट्यों के साथ महोत्सव विधान का उपसंहार किया गया है।

प्रायणादिमानसाधन-निवेदनादि-प्रकार के प्रवचन के उद्देश्य से प्रोक्त अट्ठारहवें

अध्याय में भगवदर्चन में प्रयोज्य विविध वस्तुओं के परिमाण, मात्रा एवं अनुपात यथा अपूप, ताम्बूलादि की संख्या चन्दनादि द्रव्यपरिमाण, आचार्यादि की संख्या एवं प्रापणादि के लक्षण को विवेचित किया गया है। इसके बाद तत्तत् सामग्रियों के साधन मन्त्रों, समर्प्य वस्तु-निवेदन एवं कारिप्रदानादि का वर्णन करके मानोन्मानादि के लक्षणों, शाकादि के भेदों एवं हविरादि के साधन तथा आनयनादि के क्रम को निरूपित किया गया है।

प्रायश्चित्तविधान नामक उन्नीसवें अध्याय में विविधार्चन प्रसङ्गों में ज्ञाताज्ञात त्रुटिस्खलनों से मुक्ति के उद्देश्य से निमित्तविशेषानुरूप विविध प्रायश्चित्तविधियों का एकैकशः पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। प्रस्तुत संहिता के अगले अध्यायों में तीन प्रायश्चित्त-विशेषों का व्यापक वर्णन किया गया है।

तुलाभार-विधि नामक बीसवें अध्याय में राजा द्वारा क्रियमाण प्रायश्चित्त-विशेष 'तुलाभार' का विधिपूर्वक निरूपण किया गया है। इस प्रायश्चित्त में राजा अपने समस्त ज्ञाताज्ञात पापों से मुक्त होने हेतु स्वयं के बराबर स्वर्ण तौलकर दान करता है। प्रस्तुत अध्याय में सामग्री संघटन से लेकर फल-पर्यन्त तुलाभार नामक महान् प्रायश्चित्त-कर्म का समस्त अपेक्षित पक्षों सहित साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है।

इसी प्रकार प्रायश्चित्त हिरण्यगर्भ-विधान नामक इक्कीसवें अध्याय में हिरण्य अर्थात् स्वर्ण के गर्भ से उत्पन्न होने के प्रतीक रूप में प्रचुर स्वर्ण-दान करके किये जाने वाले एक हिरण्यगर्भ नामक महादान का विधान वर्णित है। इसमें जातकर्मादि के प्रतीकादि के रूप में अन्त में तिलादि के होम का विधान प्रस्तुत करके गुरु-दक्षिणा विधान प्रस्तुत किया गया है।

प्रायश्चित्त-संप्रोक्षणपञ्चगव्यस्थापन-विधान नामक बाइसवें अध्याय में सम्प्रोक्षण-विधि का वर्णन करके स्नपनादि के योग्य पञ्चगव्य-काल का निर्देश करते हुए ब्रह्मकूर्चादि-निरूपण पूर्वक सम्प्रोक्षण रूप प्रायश्चित्त को समग्रता प्रदान की गयी है।

सुदर्शननृसिंहमहायन्त्रस्वरूप-कथन नामक तेइसवें अध्याय में सुदर्शन एवं नृसिंह महायन्त्र के मूल-रहस्य, प्रयोग-विधि-विषयक ज्ञान के प्रवर्तनक्रम एवं इनकी मन्दिरस्थ-निर्माण योजना का वर्णन करते हुए अङ्गप्रत्यङ्गादि सहित इनकी आलेखन-विधि को विवेचित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में लेख्य मन्त्रों के अक्षरोद्धारादि को बताते हुए यथाविधि प्रतिष्ठापित यन्त्रद्वयों के अर्चन-फल का भी निरूपण किया गया है।

यन्त्रराजमन्त्रोद्धार-विधान नामक चौबीसवें अध्याय में यन्त्रराज 'सुदर्शन' से सम्बद्ध मन्त्रों के स्वरूप एवं प्रयोगादि से सम्बद्ध नियमों की विवेचना के उद्देश्य से सर्वप्रथम सुदर्शन शब्द के निर्वचन एवं प्रभावादि के उद्देश्य से सुदर्शन शब्द के निर्वचन एवं प्रभावादि का वर्णन करते हुए अङ्गप्रत्यङ्गों-सहित सुदर्शन मन्त्रोद्धारों एवं ध्यानप्रकारों को विवक्षित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में षडक्षर अथवा अष्टाक्षर मन्त्रों सहित वासुदेव-षोडाक्षरी, नरसिंहाष्टाक्षर एवं केशवादि के बीज-मन्त्रोद्धारों को विवेचित किया गया है। इनके अतिरिक्त नृसिंहाष्टदशाक्षर, सुदर्शनानुष्टुप् तथा नृसिंहगायत्र्युद्धारादि के विनियोग नियमन का संकेत करके अध्याय को उपसंहार प्रदान किया गया है।

सौदर्शन महायन्त्र बाह्याभ्यन्तरयागनिर्णय नामक उपान्तिम अध्याय में सुदर्शन-महायन्त्र के मानसाराधन एवं मानस होमादि के साथ ही बाह्याराधन रूप बाह्ययाग विधि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। एतदनन्तर सुदर्शन के अपराङ्गस्थ नृसिंह के सपरिवार आराधन-पूर्वक अग्न्याराधन के निर्देश के साथ सुदर्शनार्चनक्रम को उपसंहार प्रदान किया गया है।

पारमेश्वरसंहिता के अन्तिम अध्याय में पूर्वाध्याय-निर्दिष्ट सुदर्शन-महायन्त्रार्चनाङ्गरूप अग्निकार्य का निरूपण करने के उद्देश्य से यागशाला एवं तत्सम्बन्धिनी वेदिका के लक्षण को बताकर सर्वप्रथम यज्ञशालान्तर्गत चक्राब्जकुण्ड का आद्योपान्त वर्णन किया गया है। इसके बाद कुण्डसंस्कारादि पूर्णाहुतिपर्यन्त विधि का वर्णन करके होम-समर्पण, पितृसन्तर्पण एवं अनुयागादि पूर्वक शान्त्यादि कर्म-प्रयोज्य मन्त्र-विशेषों का निदर्शन किया गया है। अन्त में प्रस्तुत संहिता में प्रोक्त ज्ञान की अतिरहस्यार्हतावश अयोग्य लोगों से गोपनीयता का निर्देश करके प्रकाशनार्थ लोगों के परिगणन के साथ संहिता का उपसंहार कर दिया गया है।

पाद्म-संहिता

पाञ्चरात्रशास्त्र के रत्नत्रय के रूप में जिस प्रकार जयाख्य, पौष्कर तथा सात्वत संहिताएँ सम्मानास्पद हैं उसी प्रकार पञ्चरत्न या रत्नपञ्चक के रूप में सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, कण्व एवं पाद्म संहिताओं को स्वीकार किया जाता है।[1] अतः, पाद्मसंहिता पाञ्चरात्रशास्त्र के बहुमूल्य पांच रत्नों में से एक है। पाञ्चरात्र-शास्त्र की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इस संहिता को सर्वप्रथम वेदान्तदेशिक ने अपने 'रहस्यत्रयसारम्' में उद्धृत किया है। सन् 1891 में सद्विद्या प्रेस मैसूर द्वारा सर्वप्रथम तेलुगु लिपि में

1. पाद्मसंहिता-चर्यापाद-33-204-5

प्रकाशित प्रस्तुत संहिता सम्प्रति देवनागरी लिपि में प्रकाशित होकर दो भागों में उपलब्ध है। पाञ्चरात्रपरम्परानुगत पाद-विभाजन से युक्त प्रस्तुत संहिता के प्रथम भाग में ज्ञान, योग एवं क्रिया पाद का निरूपण क्रमशः द्वादश, पञ्च एवं द्वात्रिंशत अध्यायों अर्थात् कुल 49 अध्यायों में 3708 श्लोकों के माध्यम से किया गया है। जबकि इसके द्वितीय भाग में मात्र चर्या पाद को तैतिस अध्यायों में 5416 श्लोकों के माध्यम से विवेचित किया गया है।

उपलब्ध मान्यताओं के आधार पर पाञ्चरात्रशास्त्र की ईश्वर, पारमेश्वर एवं पाद्मसंहिता को रत्नत्रय की संहिताओं से सम्बद्ध या उन पर आधारित माना जाता है। प्रस्तुत दृष्टिकोण से पाद्मसंहिता को जयाख्यसंहिता से सम्बद्ध माना जा सकता है। बृहत् कलेवरालंकृत प्रस्तुत संहिता में पाञ्चरात्रशास्त्र के सम्पूर्ण सिद्धान्तों, प्रयोगों एवं समस्त बाह्यान्तरिक पक्षों को समग्ररूपेण प्रस्तुत करके मानों पाञ्चरात्र के विश्वकोश को प्रस्तुत कर दिया गया है। अन्य संहिताओं की अपेक्षा श्रुतपरम्परा के एकाधिक सोपानों से अवतरित होती हुई प्रस्तुत संहिता की प्रवचन-प्रक्रिया भी अधिक व्यापक है जिसे प्रसंगतः निर्दिष्ट किया जाएगा। अब पाद-क्रम में प्रस्तुत संहिता के प्रतिपाद्य-विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है।

ज्ञानपाद

ब्रह्माण्डोत्पत्ति-ब्रह्माण्डविज्ञान एवं ईश्वरमीमांसा से सम्बद्ध ज्ञानपाद में विश्व के स्वरूप एवं विश्वस्रष्टा ईश्वर से इसके सम्बन्ध को निरूपित करके सृष्टिप्रक्रिया के विस्तृत विवरण, व्यक्ति के जीवन-लक्ष्य, जीवन के चरमोद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति के साधन एवं मोक्ष के स्वरूप को विस्तार से प्रस्तुत करते हुए तत्त्वमीमांसीय, सत्तामूलक-साध्यात्मक समस्त पक्षों को प्रस्तुत किया गया है।

पाद्मसंहिता के पारम्परिक विभाजन के फलस्वरूप प्रस्तुत ज्ञानपाद में शास्त्रावतरण, मूर्त्युत्पत्तिभेद, ब्रह्मादिसृष्टि प्रकार, मुमुक्षुसंसारमोचन, ब्रह्मलक्षण, ब्रह्मप्राप्त्युपायकथन, गतिविशेषकथन, तपोविशेषकथन, जम्बूद्वीपादिप्रमाणवर्णन, भूलोकविस्तारकथन, अतलादिलोकपरिमाण एवं भूर्लोकविस्तारकथन संज्ञक द्वादश अध्याय हैं। जिसमें सर्वप्रथम कण्व के प्रति किये गये ऋषियों के प्रश्न के फलस्वरूप शास्त्रसम्प्रदाय के अवतरण का निरूपण करके संवर्तचतुर्मुखब्रह्मसंवाद को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद पाताल जाकर संवर्तकृत कपिलदर्शन के परिणाम-स्वरूप केशव से ब्रह्मा, ब्रह्मा से कपिल तथा कपिल से पद्म को प्राप्त महोपनिषद् रूप अमृतवाणी का उपदेश पद्म द्वारा संवर्त को किये जाने का निर्देश है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ही संवर्त द्वारा किये गये पाञ्चरात्रमहिमविषयक वर्णन के पश्चात् पाञ्चरात्र शब्द के

निर्वचन, वेदचातुर्विध्यवत् तन्त्रचातुर्विध्य का निरूपण करके सिद्धान्तभेदनिरूपण पूर्वक तन्त्रों के नाम परिगणित किये गये हैं।

भगवज्ज्ञान के रूप में विज्ञान शब्दार्थ को प्रस्तुत करते हुए मुक्ति का संकेत करके भगवान् के आद्यरूप का वर्णन करने के पश्चात् नाभिकमल से चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति से लेकर सम्पूर्ण जगत्-सृष्टि की प्रक्रिया को निरूपित किया गया है। मुमुक्षु के संसारमोचन-उपक्रम को प्रस्तुत करके प्रकृति पुरुष सम्बन्धी विवेचनों सहित ब्रह्मज्ञान-द्वैविध्य पूर्वक ब्रह्म के लक्षण का प्रतिपादन किया गया है। इसके पश्चात् भगवान् के सर्वतः पाणिपादादित्व निर्वचनपूर्वक ब्रह्म के विविध स्वरूपों का प्रसंगानुरूप प्रस्तुतीकरण करते हुए शाश्वत सत्य उस ब्रह्म की प्राप्ति के उपायों पर प्रकाश डाला गया है।

ब्रह्मप्राप्ति के उपायरूप ज्ञान की उत्पत्ति के कारण के सन्दर्भ में ब्रह्मा द्वारा किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री भगवान् ने निष्काम कर्म के द्वारा निर्मलीकृत चित्त में ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति का निरूपण करके व्यक्तियों के सत्त्वादिगुणाधारित कर्मानुसार उनकी गति विशेष का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत किया है। मुक्त्युपाय-रूप तपश्चर्या के उपक्रम को प्रतिष्ठित करते हुए तप के भेदोपभेदों का निरूपण करके ब्रह्मा द्वारा मनुओं की सृष्टि, प्रकृतिस्वरूप एवं मुक्तित्रैविध्य-निरूपण पूर्वक तप के भेदप्रभेदविशेषों को उद्घाटित किया गया है।

जगद्-रचना के उपक्रम को प्रस्तुत करते हुए भरतखण्ड के जम्बूद्वीप-विस्तार की साङ्गोपाङ्ग चर्चा करके भारतवर्षवर्णन पुष्कर द्वीप तथा लोकालोकाचल वर्णन-पूर्वक भूलोक विस्तार एवं अतलादिलोक परिमाण को प्रपञ्चित किया गया है।

ज्ञान-पाद के अन्त में भुवरादि लोक स्वरूप निरूपण पूर्वक भुवर्, सुवर्, जन, विष्णु-शिव लोकादि का निरूपण करके ऊर्ध्व क्रम से भगवान् के पञ्च लोकों का निरूपण किया गया है। चार व्यूह-लोक एवं वैकुण्ठलोक के वर्णन के पश्चात् भगवाज्ज्ञान के पात्रापात्रत्व का विवेचन करके संहिताध्ययन के फलनिरूपण-पूर्वक ज्ञानपाद को उपसंहार प्रदान किया गया है।

योगपाद

आसनभेद, नाडीस्वरूप प्राणायामलक्षण पञ्चभूतस्थाननिर्णय तथा योगलक्षण सञ्ज्ञक पाँच अध्यायों से अलङ्कृत योगपाद में परमपुरुषार्थ 'मोक्ष' की प्राप्ति के साधनों अर्थात् आध्यात्मिक आत्म निग्रह-अभ्यासादि पूर्वक ध्यान प्रक्रिया का निरूपण करते हुए योग एवं धर्म के समस्त आयामों को प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ

से सर्वप्रथम इस परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के निःश्रेयस्साधन के रूप में योग का नाम निर्देश करके लक्षणपूर्वक उसके द्वैविध्य एवं मोक्षसाधनत्व का निरूपण किया गया है। इसके बाद स्वरूप एवं लक्षणनिर्देशपूर्वक यमादि अष्ट-योगाङ्गों को प्रस्तुत किया गया है।

योग के उपर्युक्त अष्टाङ्गों को प्रस्तुत करते हुए भगवान् ने मोक्षरूप लक्ष्य के चतुर्थ सोपान 'प्राणायाम' का निर्देश करके श्वास-निग्रह द्वारा नाडियों की शुद्धि-प्रक्रिया के तकनीकी एवं प्रायोगिक वर्णन को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नाडीशुद्धि के पश्चात् श्वासनिग्रहरूप प्राणायाम की विधि-लक्षण-फलादि का निरूपण करते हुए मन के स्थैर्य एवं वायु निस्सरण अर्थात् प्राणायामांग निःश्वसन को प्रस्तुत किया गया है।

इसके वाद प्राणायाम-ध्यानस्थ स्थिति में विभिन्न स्फुरणों पर सम्भावित अरिष्टों का उल्लेख करके जपध्यानपूर्वक उनकी शान्ति का निर्देश किया गया है। योगाङ्ग के रूप में सेवित प्रत्याहार के दो प्रकारों का सङ्केत करके अपेक्षित अष्टादश मर्म-स्थानों का निरूपण किया गया है। एतदनन्तर संसारसागररोत्तार की शक्ति धारण का लक्षण प्रस्तुत करके शरीर में पञ्चभूतस्थानों के विभाजन को निरूपित किया गया है।

अन्त में ध्यान के वास्तविक लक्षण, फल जाग्रदादिवृत्तियों के स्थान, ध्येयशुभाश्रय का स्वरूप, समाधि, ध्यानप्रकारों एवं परतत्त्व की अभिलाषा के उपायों का निरूपण करके व्यक्ति की ऐहिक अपुनरावृत्ति एवं अधिकारी के फलादि का विवेचन किया गया है। इस प्रकार ध्यान-योगादि के सर्वाङ्गीण विवेचनों से मण्डित अध्यायपञ्चक के साथ ही योगपाद समष्टि को प्राप्त हो जाता है।

क्रियापाद

मन्दिर निर्माण-हेतु भूमिचयन से लेकर मुख्य-अधिष्ठातृ के गर्भस्थापन सहित मन्दिरस्थ समस्त परिवार-देवताओं की स्थितिपर्यन्त मन्दिर-निर्माण एवं मूर्तिविद्या विषयक समस्त पक्षों तथा संस्थापित प्रतिमाओं से मण्डित मन्दिर विशेष की नियमित पूजा-पद्धति के अखण्ड एवं विस्तृत विश्लेषक क्रिया पाद में कुल 32 अध्याय है। पाद्मसंहिता के इस क्रिया-पाद के बृहत् कलेवर का साङ्गोपाङ्ग निरूपण न करके अध्यायाभिधान के निर्देश पूर्वक संक्षेपतया एक स्थूल दृष्टि प्रस्तुत की जा रही है-

पाद्मसंहिता के क्रियापाद के ग्रामस्वीकार नामक प्रथम अध्याय में स्थान-यजमान एवं आचार्य के सामान्य महत्त्व एवं लक्षण के निर्देश के साथ मन्दिर निर्माणार्थ भूपरीक्षा, भूमि-प्रभेद एवं वास्तु पुरुष की कल्पना का विन्यास है। ग्रामादि

विन्यास नामक द्वितीय अध्याय में ग्राम संस्थान के भेद नामों के सहित ग्रामादि के लक्षण एवं भिन्न-भिन्न देवताओं के अर्चन-विधान एवं निषेध अर्थात् स्थान-विशेष के आधार पर देवविशेष के अर्चन के विधान एवं निषेध को प्रस्तुत किया गया है। कर्षणविधि नामक तृतीय अध्याय में मन्दिर-निर्माण की विधि का सङ्केत करके होमकुम्भस्थापनादि विधि के निर्देशपूर्वक कर्षणविधि का साङ्ग निरूपण है। शिखर निर्माण नामक चतुर्थ अध्याय में शिखरपर्यन्त मन्दिर निर्माण की योजना प्रक्रिया को विघ्नशान्त्युपक्रम-पूर्वक बालबिम्बरूपेण ईश्वरोपस्थिति की कल्पना की गयी है। दूसरे शब्दों में मन्दिर में संस्थाप्य ईश्वर की प्रतिमा की प्रतिकृति के रूप में सूक्ष्म बालबिम्ब एवं बालालय रूप देवमन्दिर के निर्माण की योजना प्रक्रिया को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

प्रथमेष्टकाविधि नामक पंचम अध्याय में इष्टका के भेदों का निरूपण करते हुए इष्टकास्नपन से लेकर प्रथम इष्टकान्यास की संस्कार प्रक्रिया को निरूपित किया गया है। इसी प्रकार गर्भन्यासविधि नामक छठे अध्याय में गर्भन्यास की विधि, काल, स्थान एवं मञ्जूषा विधि का निरूपण करते हुए गर्भन्यास के अपरिहार्यत्व एवं रक्षा विधानों का उल्लेख है। अधिष्ठानविधि नामक सातवें अध्याय में उपपीठों का वर्णन करते हुए पद्मबन्धादि-अधिष्ठानों के द्वारा मन्दिर के सौन्दर्य पक्ष को निरूपित किया गया है। प्रासाद-भेद नामक अष्टम अध्याय में सुदर्शन, स्वस्तिक-श्री प्रतिष्ठित-शुद्ध स्वस्तिकादि विविध प्रासाद अर्थात्-मन्दिर-प्रासाद-भेदों का लक्षण पूर्वक वर्णन है।

मूर्धेष्टकाविधिविमानदेवताकल्पन नामक नवम अध्याय में बेसर-नागर एवं द्राविड सञ्ज्ञक प्रासाद-भेदों का वर्णन करके मूर्धेष्टकाओं एवं विमानरूप मन्दिरबाह्यप्रदेश में यथाविहित देवों के संस्थापन की विस्तृत व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है। परिवारादिदेवताकल्पन नामक दशम अध्याय में मन्दिर के अन्तर्मण्डलादि के प्राकार का निरूपण करके मण्डपायाम का विस्तार एवं विविध सह देवताओं अर्थात् प्रस्तर विशेष एवं दारु अर्थात् लकड़ी काष्ठ विशेष का उपक्रम प्रस्तुत करते हुए शिला एवं दारु के लक्षण वैशिष्ट्य-प्रतिमाभेद के योग से उनका विनियोग ग्रहणकाल एवं विधि का विस्तृत निरूपण है। ध्रुवबेरप्रमाणानुकूल्य-निर्णय नामक द्वादश अध्याय में मुख्य प्रतिमा सहित समस्त प्रतिमाओं के आकारप्रमाण को प्रस्थादिमानभेद-पूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

शूलस्थापनविधि नामक त्रयोदश अध्याय में सजातीय-विजातीय शूल के आकार-प्रमाणादि एवं संख्या भेद-प्रभेद को बताते हुए शूल संस्थापन की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इसके पश्चात् चतुर्दश अध्याय में बिम्बनिर्माणविधि के

रूप में मृदा-प्रपञ्चन करके मूर्तियों के वर्णभेद एवं मूर्तिविशेषों के वर्णविशेषों का वर्णन किया गया है। अन्त में ऋषि देवता-अप्सरा आदि के वर्णों को वर्णित करते हुए दैवीय मूर्तियों की रञ्जनकला को निरूपित किया गया है। स्थित्यासनादिभेदनिर्णय नामक पन्द्रहवें अध्याय में मूर्ति-विशेष के आधार पर उनके खड़े एवं बैठे स्वरूप को आसन-व्यवस्थापूर्वक निर्देशित किया गया है। यानारूढविश्वरूपादिलक्षण नामक सोलहवें अध्याय में अपने-अपने वाहनों पर आसनस्थ विविध मूर्तियों के विविध-प्रकारों को प्रस्तुत किया गया है। इसमें मुख्यतः विष्णु के 24 स्वरूपों को उनके वाहनों के साथ प्रस्तुत करके ब्राह्मी, प्राजात्या वैष्णवी आदि मूर्त्यष्टक का निरूपण किया गया है।

मत्स्यादिमूर्तिलक्षण नाम सत्रहवें अध्याय में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, भार्गवराम, श्रीराम आदि मूर्तियों का वर्णसहित व्यापक निरूपण करते हुए सीता लक्ष्मणादि की स्थिति को निरूपित किया गया है। बलराम का वर्णन इस अध्याय का अन्तिम अलङ्करण है। इसी प्रकार मूर्तिभेद कथन नाम अट्ठारहवें अध्याय में विष्णु के अन्य कृष्णमूर्ति, कल्किमूर्ति, लक्ष्मीनारायण मूर्ति, अभिन्नालक्ष्मीनारायणमूर्ति-यज्ञमूर्ति आदि के स्वरूप में लिये गये अवतारों की मूर्तियों के बारे में बताते हुए पञ्चमूर्ति प्रतिष्ठा-विधि को प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् लोहजा प्रतिमा-निर्माण ताल-विभाग नाम एकोनविंश अध्याय में धातु-निर्मित प्रतिमाओं के परिमाण आदि से सम्बद्ध विवरण को प्रस्तुत करते हुए इन प्रतिमाओं के कालादिमान को निरूपित किया गया है। प्रतिमामानविधि नामक बीसवें अध्याय में प्रतिमाओं अर्थात् विविध मूर्तियों के प्रतिमान के नियमों एवं विधियों को विस्तृतरूपेण प्रस्तुत करके किरीटादि देवाभूषणों के मानों को निरूपित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् बिम्बलक्षण अथवा श्रियादिलक्षण नामक इक्कीसवें अध्याय में विष्णु की पत्नी श्री अर्थात् लक्ष्मी के बिम्ब के प्रतिमान का निरूपण करके अन्य देवियों के बिम्बलक्षण को सविस्तार निरूपित किया गया है। परिवारविधि नामक बाइसवें अध्याय में विष्णु के सहायक देवताओं हयग्रीव, गरुण, सूर्य, सोम, काम आदि अट्ठारह परिवार देवों का वर्णन करते हुए ब्रह्मा आदि के वाहनों अर्थात् विवेच्य देवताओं के वाहनों की सूची प्रस्तुत की गयी है। इस प्रकार मुख्य देव सहित अन्य देवों के स्वरूपों, वाहनों एवं मूर्ति-प्रतिमानों के सम्यग्विवेचन के पश्चात् पूजोपकरण लक्षण नाम तेइसवें अध्याय में पूजन-सामग्री एवं आचार्य लक्षणाङ्कुरार्पण-विधि नामक चौबीसवें अध्याय में आचार्य के चयन-हेतु आचार्य लक्षण एवं प्रतिष्ठाकर्म से पूर्व सम्पद्यमान अङ्कुरारोपण कर्म की विधि को विधानपूर्वक निर्दिष्ट किया गया है।

अङ्कुरारोपणविधि के पश्चात् प्रतिष्ठोपकरणनामक पच्चीसवें अध्याय में

प्रतिष्ठाकर्म के उपकरण, काल, कुण्डकल्पन, चतुष्कुण्डादिविधि, मूर्तिसंख्यानुगुण, अग्निकल्पना, प्रणनिर्माण एवं होमसाधानादि-सहित मण्डपद्वाराद्यलङ्कारों को निरूपित किया गया है। इसके बाद जलाधिवासविधि नामक छब्बीसवें अध्याय में मूर्तिविशेष के जलाधिवास की विधि को प्रतिष्ठाविधि के विस्तृत निरूपण-पूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार शयनाधिवासादिविधानादि नामक सत्ताइवें अध्याय में मूर्ति के शयन एवं अधिवास आदि विविध विधानों को एकैकशः प्रस्तुत करके प्रतिष्ठाविधि नामक अट्ठाइसवें अध्याय में मुख्याधिष्ठातृ की प्रतिष्ठा की विधि को समग्रता प्रदान की गयी है।

इस प्रकार केन्द्रीय प्रतिष्ठाविधान को प्रस्तुत करने के पश्चात् 'मीनादि-दशमूर्तिप्रतिष्ठाविधि नामक एकोनविंश अध्याय में मीन, वराह, नृसिंह, वामन, जामदग्न्य, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण, कल्कि एवं वटपत्रशायी मूर्तियों की प्रतिष्ठा-विधि को विवेचित किया गया है। श्रियादि की प्रतिष्ठा की विधि को भी बीस श्लोकों के माध्यम से इसमें प्रपञ्चित किया गया है। इस प्रकार मुख्यदेवप्रतिष्ठापूर्वक अन्य देवों एवं देवियों की प्रतिष्ठा नामक तीसवें अध्याय में लक्ष्मी आदि देवियों के विवाहोत्सव रूप संस्कार को विवेचित करते हुए मन्दिराङ्गों का ध्यान प्रकार, महाकुम्भप्रोक्षण, आस्थानमण्डपादि की प्रतिष्ठा विधि, बलिपीठप्रतिष्ठा, महापीठ, बलिपीठ एवं विष्णुमन्दिर में पाकशाला की कल्पना के फल की विस्तार से चर्चा की गयी है। प्रभाघण्टाक्षमालाप्रतिष्ठाविधि संज्ञक एकत्रिंश अध्याय में मन्दिर एवं मन्दिर की मूर्तियों के प्रति प्रभादि-सहित घण्टा एवं अक्षमाला की प्रतिष्ठा की विधि को बताया गया है। पाद्मसंहिता के क्रियापाद के अन्त में गृहार्चास्थापन के सर्वाङ्गीण विवेचन के उद्देश्य से सर्वप्रथम लौह ताम्रादि धातुभेद से तत्तन्निर्मित मूर्तियों के फलभेद को निरूपित किया गया है। इसके बाद घर में पूजा के स्थान का निर्देश करके भगवान् के अलङ्करणों के फल को व्याख्यायित किया गया है। विष्णु के चक्रादि पञ्चायुधों एवं विष्णुवाहन वैनतेय की प्रतिष्ठा-प्रवचन के बाद विष्वक्सेन की उत्पत्ति एवं स्थापना आदि की सविधि व्यवस्था के साथ शास्त्रोपसंहार को प्रस्तुत करते हुए क्रियापाद को समष्टि प्रदान की गयी है।

चर्यापाद

दीक्षासंस्कार, दैनिकार्चन विधान एवं मन्त्रानुशासन रूप मन्दिर-पूजन से सम्बद्ध विषयों से अलंकृत चर्यापाद में मूर्तियों के स्नपन के विविध प्रकारों-सहित मन्दिरस्थ देवों के विधिवदर्चन-हेतु दीक्षा संस्कार आदि का वर्णन किया गया है। दैनिक अर्थात् नित्यनैमित्तिक उपासना-वर्ष में आयोजित विविध पर्वोत्सवों एवं प्रायश्चित्त अनुष्ठानों

का निरूपण करके जिस चर्यापाद को समलंकृत किया गया है उसमें कुल तैंतीस अध्याय हैं। अध्याय के नाम-निर्देशपूर्वक चर्यापाद के प्रतिपाद्य को अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

पाद्मसंहिता के चर्यापादगत जातिनिर्णय नामक प्रथम अध्याय में भगवदाराधना-धिकारी के निरूपण प्रसंग में ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि विविध वर्णों के स्वरूप आश्रम व्यवस्था एवं कर्म-व्यवस्था सहित जातिवृत्ति का विलोमानुलोम पूर्वक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार जाति-निर्णय के पश्चात् दीक्षाविधि नामक द्वितीय अध्याय में दीक्षाविधि के आद्यन्त निरूपण के साथ शिष्य के गुर्वनुज्ञापूर्वक स्वगृहप्रेश का विधान करके दीक्षित व्यक्ति के नामधेयों अष्टविधियों एवं भागवत शब्द की निरुक्ति को प्रस्तुत किया गया है। नित्ययागविधि नामक तृतीय अध्याय में स्नानभेद एवं आत्मशुद्धि पूर्वक मन्त्रन्यासादि की विधि को निरूपित करते हुए सपरिवार भगवदाराधनार्थ नित्यवाग की विधि को अपने ढंग से निरूपित किया गया है।

अग्निकार्यविधि नामक चतुर्थ अध्याय में नित्यहोम आदि अग्निकार्य की विधि को निरूपित करते हुए पात्रासादन, समिधाओं की संख्या, होम द्रव्यों के फल तथा होमार्थ द्रव्यों के परिमाण का प्रस्तुतीकरण है। नित्योत्सवसमाराधनकालविभाग नामक पञ्चम अध्याय में नित्यनैमित्तिक उपासनानुष्ठान के उपयुक्त समय आदि का नियपनिर्देश पूर्वक विवेचन किया गया है। नित्यनैमित्तिक समाराधन विधि के सर्वाङ्ग निरूपण के बाद नृसूक्तोपचार-नीराजनविधि नामक षष्ठ अध्याय में ऋग्वेद के नृसूक्त के माध्यम से भगवदर्चन का निर्देश करते हुए आवाहन से लेकर उद्वासन पर्यन्त षोडशोपचारों में इन ऋचाओं के विनियोग को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद आवाहन के उपचार एवं प्रकार का निर्देश करके ब्रह्मादि देवों के गृहार्चन-प्रतिषेध का संकेत किया गया है। नृसूक्त अथवा द्वादशाक्षर अष्टाक्षरादिमन्त्रों का निर्देश करके विष्णूपासना के 128 उपचारों का नाम निर्देश किया गया है। उपचार निरूपण-प्रसङ्ग में क्रमशः चौसठ-बत्तीस एवं सोलह उपचारों का प्रवचन करते हुए घण्टानाद के औचित्यानौचित्य को बताकर अष्टाङ्गवाहन एवं कुम्भनीराजन का व्यापक विधान प्रस्तुत किया गया है।

विविध उपचार एवं नीराजनविधि के व्यापक निरूपण के पश्चात् मण्डलाराधनाचार्याभिषेक-विधि नामक सप्तम अध्याय में चक्राब्जमण्डल का निर्माण एवं आराधन तथा आचार्याभिषेक विधि का विधिवत् वर्णन करते हुए अभिषिक्त के अधिकार-लाभ की चर्चा की गयी है। इसके बाद महाभिषेक नामक अष्टम अध्याय में स्नपनमण्डपादि का वर्णन करते हुए स्नपन संस्कार की आद्यन्त चर्चा की गयी है।

इस प्रकार क्रमशः 108, 149 तथा 20 कुम्भों के द्वारा परिवार सहित मूर्तिस्नपन का सर्वाङ्गीण विवरण इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार एक हजार कुम्भों द्वारा स्नपन के विधान को सहस्रकलशाभिषेक नामक नवम अध्याय में सद्रव्यादि मन्त्रभेदों के साथ निरूपित किया गया है।

ध्वजारोहणविधि नामक दशम अध्याय में ब्रह्मा के प्रश्नों के उत्तर देते हुए भगवान् ने उत्सवशब्द का निर्वचन करते हुए नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य अर्थात् सकाम, निष्काम अनुष्ठेय महोत्सवों को बतलाकर ध्वजारोहणरहित उत्सवों के विधान एवं अपेक्षित उत्सवों में ध्वजारोहण अनुष्ठान का अवभृतान्तपर्यन्त वर्णन किया है। ध्वजारोहण विधि के पश्चात् महोत्सव विधि नामक एकादश अध्याय में महोत्सव-हेतु अङ्कुरार्पण संस्कार से लेकर मार्गोत्सव-तीर्थोत्सव एवं पुष्पयाग, कल्याणाराधन संस्कारपर्यन्त अपेक्षित समस्त विधानों को प्रस्तुत किया गया है। महोत्सव वर्णन के पश्चात् पुष्पहविर्विधान नामक द्वादश अध्याय में भगवदर्चन-हेतु निवेदनीय फलपुष्प आदि द्रव्यों के निर्देश पूर्वक वर्जित कुसमफलादि का वर्णन किया गया है। देवार्चन-विशेष के आधार पर पुष्पफलविशेष के विधान एवं निषेध को समग्ररूप से इस अध्याय में निरूपित किया गया है।

पञ्चकालविधि नामक त्रयोदश अध्याय में अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग नामक पांच काल-खण्डों में दिवस को विभाजित करके कालखण्डानुरूप विधानों को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद पवित्राद्युत्सवविधि नामक चतुर्दश अध्याय में वर्ष के विभिन्न मासों में आयोज्योत्सवों के वर्णनक्रम में श्रीराम एवं नृसिंह जयन्ती, वसन्तकाल एवं दमनकोत्सव, कल्हार कुसमोत्सव, हनुमज्-जन्मकाल-सहित ईश्वर के शयनोत्सवकाल, श्रीकृष्ण जयन्ती आदि का वर्णन करते हुए पवित्र शब्द के निर्वचन के सहित पवित्रोत्सव का सम्यग् विवेचन किया गया है। पवित्रारोपणसंस्कार अथवा पवित्रारोपण-उत्सव की विधि निरूपण के पश्चात् व्रतानुष्ठानक्रम नामक पन्द्रहवें अध्याय में वर्ष के विविध मासों में अनुष्ठेय विविध व्रतों तथा कार्तिक द्वादशी एवं दीपोत्सवव्रत, मार्गशीर्ष-द्वादशीव्रत, उत्तरायणव्रत, पुष्पमासव्रत, श्रीकामव्रत आदि का विवेचन है। इसके बाद आरोग्यकामव्रत, दिनपञ्चकव्रत आदि का निरूपण करते हुए प्रस्तुत अध्याय में चैत्रादि द्वादशमासों के व्रतों का विधान भी प्रस्तुत किया गया है।

सम्मार्जनादिफलदेवस्वापहारदोषकीर्तन नामक सोलहवें अध्याय में विविध अरिष्टों की शान्ति-प्रक्रिया को निरूपित करके मन्दिर-मूर्तियों की मार्जन-लेपन, स्रग्दान, दीपारोपण इत्यादि परिचर्याओं के फल सहित भगवन्मन्दिर के जीर्णोद्धार करने के फल को निरूपित किया गया है। इस प्रकार प्रदक्षिणानमस्कारादि उपचारों

के फलों तथा दत्तापहारादि के फलों का निरूपण करके जीर्णोद्धारसम्प्रोक्षणविधि नामक सप्तदश अध्याय में मन्दिर-सहित मूर्तियों की मरम्मत की विधि बताकर मूर्ति सहित मन्दिर के पुनःप्रतिष्ठा की विधि प्रस्तुत की गयी हैं। इस प्रकार मन्दिर के पुनरुद्धार रूप मरम्मत के पश्चात् संप्रोक्षण विधि को सविस्तार निरूपित किया गया है। इसके बाद नित्याराधनप्रायश्चित्त विधि नामक अट्ठारहवें अध्याय में मन्दिर की सामान्य नित्यनैमित्तिक आराधना में हुए स्खलनों एवं अपराधों-हेतु प्रायश्चित्तकर्म की यथापराध विविध विधियों का अति विस्तार से निरूपण किया गया है।

उत्सवप्रायश्चित्तनारायणबलि नामक एकोनविंश अध्याय में उत्सव प्रायश्चित्तविधि के निरूपण क्रम में नित्यनैमित्तिक सम्पात में कर्तव्य क्रम को निरूपित करके विविध उत्सवों के आयोजन में विविध स्खलनों एवं अपराधों हेतु प्रायश्चित्त विधानों को प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही विविध वलि विधानों के साथ सिद्धान्त पद का निर्वचन करके चतुर्विधसिद्धान्तों को पारस्परिक भेद-निरूपण के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में पाञ्चरात्रिकों के आकस्मिक अस्वाभाविक मृत्यु पर 'नारायणबलि' की विस्तृत व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है। हिरण्यगर्भादिविधि नामक बीसवें अध्याय में राजा मन्त्री आदि द्वारा अनुष्ठेय हिरण्यगर्भ एवं तुलाभार प्रायश्चित्त की विधि को प्रस्तुत करके पुष्पाभिषेक विधि की विस्तृत चर्चा की गयी है। सिद्धान्त-भेद-पञ्चरात्राधिकार व्यवस्था विधि नामक इक्कीसवें अध्याय में पाञ्चरात्र के विविध सिद्धान्तों के अधिकारी व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् अर्हताओं का निरूपण करते हुए सिद्धान्तसाङ्कर्य के निषेध को प्रस्तुत किया गया है।

ईश्वराराधना के एक महत्त्वपूर्ण अंश मुद्रा-व्यवस्था का प्रस्तुतीकरण पाद्मसंहिता का एक वैशिष्ट्य है। जिस प्रकार पौष्करसंहिता में मण्डलों का अतिविशिष्ट एवं व्यापक विवेचन किया गया है उसी प्रकार पाद्मसंहिता में विविध मुद्राओं के लक्षण एवं विनियोग को विस्तार से प्रस्तुत करते हुए इसके बाइसवें अध्याय को समलंकृत किया गया है। इसके मुद्रालक्षण-विधि नामक बाइसवें अध्याय में हृदय-शीर्ष-शिखा-होम आदि 58 मुद्राओं के लक्षण एवं विनियोग को प्रस्तुत किया गया है। मुद्राओं के इन विशिष्ट प्रयोगाभिनयों को बताकर 'मात्रिकाद्यर्थवर्णन' ईशान मन्त्रों के साथ दुर्गा-यम, इन्द्र, विष्णु, काम, अश्विन एवं सोम संज्ञक तिथि-देवों के मन्त्रों को निर्दिष्ट किया गया है।

विघ्नराजोत्पत्ति-किरीटादिमन्त्रोद्धार नामक एकत्रिंश अध्याय में विघ्नराज की उत्पत्ति का प्रवचन करके श्रीवत्स-कौस्तुभ वनमाला, प्रभा, घण्टा दीपादि विविध अलङ्काराभरणों से सम्बद्ध विविध मन्त्रों को प्रस्तुत किया गया है। सुदर्शन-गरुड आदि के महामन्त्रों के साथ विष्वक्सेन मन्त्रपूर्वक विष्वक्सेनाराधान के विधान की

विस्तृत चर्चा भी इस अध्याय में की गयी है। इसके बाद पाद्मसंहिता के चर्यापादस्थ उपान्तिम अध्याय में सुदर्शन-महामन्त्र के वैभव को निरूपित करते हुए मन्त्रसाधन के नियमों एवं शान्तिक-पौष्टिकादि कर्मों में उस मन्त्र की विनियोग-विधि को प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में महल आदि में ब्रह्मरक्षस्समुच्चाटन-विधि, विविध दुर्निमित्त-निवारण-विधि, पुररक्षा-विधि, पन्नगनिवारण, अतिवृष्टि-प्रशमन, राष्ट्रादि की क्षोभ-शान्ति, प्रभ्रष्ट राज्य को प्राप्त करने की विधि, संग्राम-विजय, अपमृत्युनिवारण, मारण-उच्चाटन विद्वेष-स्तम्भन, वशीकरण आदि षट्कर्मसाधन सहित पाताल साधन, खड्गसिद्धि, रस एवं पादुकासिद्धि तथा यक्षिसाधन की विधि को विस्तार से निरूपित किया गया है। अन्त में समाराधनाङ्ग मन्त्रोद्धार नामक अन्तिम अध्याय में विष्णु की समाराधना में प्रयोज्य विविध अङ्ग मन्त्रों-सहित विविध अनुपूरक सामान्य मन्त्रों को विवेचित किया गया है। उनमें पञ्चोपनिषन्मन्त्रों, पुरुषमन्त्र, विश्वमन्त्र, निवृत्तिमन्त्र, सर्वमन्त्र, शान्तिमन्त्रचतुष्टय, पञ्चविंशति तत्त्वमन्त्र, दीपमन्त्र, अक्षसूत्र, अर्घ्य-पाद्य, आचमन, भोग, पुष्पाञ्जलिवरण-ऐहिकसुखसाधन, जलस्तम्भन, नदीवेगस्तम्भन, अग्निस्तम्भन आदि के मन्त्रों-सहित गोमहिषादिवश्यमन्त्र, व्यालादिदमन मन्त्र, रिपुनाशकपिशाचवश्य-मन्त्र, गन्धर्वसाधन-मन्त्र, इन्द्रजालमन्त्र, सप्तयक्षिणी-मन्त्र, सुन्दरीमन्त्र, मनोहरा-मन्त्र, कनकवती-मन्त्र, कामेश्वरी-मन्त्र, रतिप्रिया-मन्त्र, पद्मिनी-मन्त्र, यामिनी-मन्त्र एवं पिशाच-मन्त्रों को प्रस्तुत करके संहिता को उपसंहार प्रदान किया गया है। संहिता के अन्त में आगमप्रकार, संवर्त का पाताल में जम्बूद्वीपागमन, शास्त्रगोपन तथा पाञ्चरात्रशास्त्र की पञ्चरत्नरूप संहिता पञ्चक का निर्देश करके शास्त्र को सुनने के फल को बताते हुए पाद्मसंहिता के चर्यापाद के साथ संहिता को इति श्री प्रदान की गयी है।

पञ्चरत्न संहिताएँ

रत्नभूत-संहिताओं की एक अन्य सूची पाद्मसंहिता में प्रस्तुत की गयी है। इस सूची में पाँच संहिताएँ गिनायी गयी हैं। जो इस प्रकार पाद्मसंहिता के शब्दों में-

तन्त्राणां चैव रत्नानि पञ्चाहुः परमर्षयः।।
पाद्मं सनत्कुमारं च तथा परमसंहिता।।
पद्मोद्भवं च माहेन्द्रं कण्वतन्त्रामृतानि च।[1]

कुछ विद्वानों का कहना है कि इन पंक्तियों में छह रत्न गिनाये गये हैं-1. पाद्मसंहिता, 2. सनत्कुमारसंहिता, 3. परमसंहिता, 4. पद्मोद्भवसंहिता, 5. माहेन्द्रसंहिता

1. पाद्मसंहिता, चर्यापाद, 33.204, 205

तथा 6. काण्वसंहिता। उनका कहना है कि पञ्चरत्न की प्रतिज्ञा करके छह रत्नों को गिनाना निश्चित रूप से एक विङ्गति है। या तो यहाँ पञ्च के स्थान पर षड् हो अथवा गिनायी छह संहिताओं में से कोई एक न गिनी जाए, तभी यह विङ्गति दूर हो सकती है। डॉ. राघव प्रसाद चौधरी का कहना है कि पाद्मसंहिता छह रत्नों को स्वीकार करती हैं।[1]

'डॉ. डैनियल स्मिथ पद्मोदव तथा माहेन्द्र को एक ही रत्न मान कर पञ्चरत्नों की संख्या की विसंगति को दूर करते हैं।[2] वास्तव में ये दोनों की कथन भ्रामक हैं, क्योंकि यहाँ पाँच ही संहिताओं के नाम दिये गये हैं और कहा गया है कि ये पाँचों संहिताएँ काण्वतन्त्र की अमृतभूत हैं। यह बताया जा चुका है कि पाञ्चरात्र शास्त्र का शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा से विशेष सम्बंध माना गया है।

अतः पञ्चरत्न संहिताओं के रूप में पाद्म-संहिता, सनत्कुमारसंहिता, परमसंहिता, पद्मोदभवसंहिता एवं महेन्द्रसंहिता के नाम ही उल्लेखनीय हैं। जिनमें पाद्मसंहिता का स्वरूप रत्नत्रय-व्याख्यान संहिताओं में निरूपित किया जा चुका है। अतः शेष उपलब्ध परमसंहिता और सनत्कुमार-संहिता के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य का निरूपण प्रस्तुत है–

परम-संहिता

एस. कृष्ण स्वामी के द्वारा आंग्लभाषानुवाद के साथ सम्पादित परम-संहिता बड़ौदा ओरियण्टल इंस्टीट्यूट से देवनागरी लिपि में सन् 1940 में प्रकाशित हुई। रामानुज सहित यामुनाचार्य के द्वारा उद्धृत प्रस्तुत संहिता का नामोल्लेख पाद्म, पुरुषोत्तम, मार्कण्डेय, विष्णुमित्र तथा हयशीर्ष संहिताओं में भी उपलब्ध है। 31 अध्यायों में प्रोक्त प्रस्तुत संहिता में लगभग 2100 श्लोकों द्वारा सृष्टिक्रम, दीक्षा, योग-धर्मादि विविध ज्ञानों सहित मन्दिर-बिम्बादि निर्माण के वास्तुकलात्मक ज्ञान का प्रवचन करके पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के विविध घटकों का प्रत्याख्यान किया गया है। अध्यायक्रम में इस संहिता का प्रतिपाद्य इस प्रकार है।

---

1. पाञ्चरात्रागम, पृ. 25
2- 'The Following Saṁhitās are also listed in Pādma Saṁhitā ("Car" XXXiii:203b-204)
Where they are Described As the 5 Most Precious Gems (Pañcaratana) 1. Padma Tantra, 2. Sanatkumara Tantra, 3. Parama Tantra, 4. Padmodbhava Tantra=Mahendra Tantra, 5 Kanva Tantra.

शास्त्रावतार रूप प्रश्नप्रतिवचनात्मक प्रथम अध्याय में देवल-कृत आगम-विषयक प्रश्न का उत्तर देते हुए मार्कण्डेय द्वारा विष्णु के निर्देश से श्वेतद्वीप पर जाकर सनक से एकान्तिक ज्ञान प्राप्त करने का वर्णन है। इस प्रकार अपनी ज्ञानसन्तति के क्रम का उल्लेख करके मार्कण्डेय ने देवल से उस पञ्चरात्र-धर्म के वर्णन की प्रतिज्ञा की है जिसे सनक ने साक्षाद् ब्रह्मा या विष्णु से प्राप्त करके उन्हें (मार्कण्डेय को) प्रदान किया है। सनक के अनुसार अपनी योगशक्ति के द्वारा उत्पन्न किये गये नाभिकमलज ब्रह्मा द्वारा संसार-मोक्षादि विषयक पूछे गये प्रश्नों के उत्तर के रूप में 'परम' ईश्वर ने इस संहिता का प्रवचन किया था। प्रस्तुत संहिता ब्रह्मा एवं परम के पारस्परिक प्रश्नप्रतिवचनरूप संवादों से मण्डित है जिसे श्रुत परम्परा सर्वप्रथम प्राप्तकर्ता सनक से सुनकर मार्कण्डेय ने देवल को सुनाया है। शास्त्रावतरण कथाक्रम विन्यास के साथ ही प्रथम अध्याय में माया एवं मोक्ष के कारण एवं उपाय रूप दार्शनिक रहस्यों का भी उद्घाटन किया गया है।

सृष्टिक्रम नामक द्वितीय अध्याय में स्वप्रसादनोपायभूत अर्चनक्रम को बताते हुए 'परम' ने प्रकृति के एकलभाव-कारणत्व को विवेचित करके प्रकृति एवं पुरुष के स्वरूप तथा सम्बंध को बताया है। इसके बाद प्रकृति के भुवनत्रयोत्पत्तिसंहारपूर्वक कालचक्र का स्वरूप-कथन किया गया है। भगवान् की द्वादश मूर्तियों एवं द्वादश शक्तियों का कथन करके मूर्तिपालों के द्वादशशक्तिप्रभुत्व एवं द्वादशमासाधिपत्व का निरूपण किया गया है। समस्त देवताओं में विष्णु के वैशिष्ट्य का कथन करते हुए नारायणादि शब्दों की व्युत्पत्ति सहित चतुर्व्यूह-पूर्वक आश्रमवर्णादि के चतुर्विधत्व का निरूपण किया गया है। इस प्रकार भगवान् का स्वरूपकथन करते हुए प्राणियों के प्रति भगवान् के इच्छाद्वय के स्वरूप-कथन-पूर्वक उसके प्रयोज्य के साथ अध्याय को समष्टि प्रदान की गयी है।

विनय नामक तृतीय अध्याय में भगवान् की पूजा एवं ध्यानप्रक्रिया को निरूपित करने के उद्देश्य से विग्रहाराधना का संकेत करके मुमुक्षु के लिए चतुर्भुजी परस्वरूप की पूजा का निर्देश किया गया है। इस प्रकार भगवत्-पूजा के गुणकृतत्रैविध्य, पुष्पादिमन्त्र एवं जप का कथन करके पूज्य-पूजक स्वरूप-विवेचन के साथ अर्चनांगभूत समय एवं नित्यकर्मानुष्ठान का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अर्चनविधान नामक चतुर्थ अध्याय में भगवदर्चन के स्वरूप को विवेचित करते हुए शुद्धि एवं व्यवस्थापक विधानों के पश्चात् पद्ममण्डल में पूजास्थल के निश्चितीकरण के साथ भगदाराधना के सप्तपञ्चोपदेश का व्याख्या किया गया है।

इसके बाद भक्ति के स्वरूपकथनपूर्वक उसके अष्टविध स्वरूप के निरूपण के पश्चात् अपर विष्णु के आराधनक्रम के विशेष तन्त्र का प्रवचन करके अध्याय को इतिश्री से समलंकृत किया गया है।

द्रव्यविधान नामक पञ्चम अध्याय में बाह्याभ्यन्तर-स्वकीय शुद्धि के साथ स्थान-पात्र-वेर आदि की शुद्धि-व्यवस्था का निर्देश करके पूजोपयोगी गन्धादि द्रव्यों के उपयोग का निरूपण किया गया है। भगवदाराधनोपयोगी द्रव्यों और निवेद्य द्रव्यों का सविधि निरूपण करके परिवार-पूजन-विधि-निरूपण के साथ ही होमोपयुक्त समिधादि सामग्रियों का यथावश्यक विवेचन इस अध्याय के शेष भाग में किया गया है।

मन्त्रकोश नामक षष्ठ अध्याय में परमात्मा को सम्बोधित करके प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रों की प्रयोग-विधि एवं महत्त्वादि को विवेचित करते हुए बीजाक्षर के रूप में ॐ का निर्देश करके विविध मन्त्रों के प्रकार-निर्देश-पूर्वक उनकी प्रयोगविधि को विवेचित किया गया है।

दीक्षासंस्कारगत विनियोज्य चक्रविशेष के वर्णन की पृष्ठभूमि निर्मित करके सप्तम अध्याय में सर्वप्रथम वैष्णवयागांगभूत दीक्षा के साथ ब्राह्मणादि वर्णनक्रम में दीक्षांगयागभूमि का सम्यक् निरूपण किया गया है। इसके बाद दीक्षा के समय दीक्षार्थियों का अवस्थान प्रकार, दीक्षोचित तिथि एवं आचार्य लक्षण-पूर्वक चतुर्विध दीक्षाओं के अधिकारी आदि का विवेचन किया गया है। पश्चात् अध्याय के उत्तरांश में दीक्षांगवेदी की व्यवस्था के साथ चक्रपरिकल्पन प्रकार को सांगोपांग निरूपित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में बहिरावरणगत वेदिनिर्माण-प्रकार, चक्र-विशेष का वर्णविन्यास प्रकार, चक्रमण्डल में रजःपातन विधि एवं मण्डल-विन्यास प्रकार के साथ ऐश्वर चक्र की स्थापना विधि को प्रपञ्चित किया गया है।

दीक्षा-निरूपण नामक अष्टम अध्याय में दीक्षा के महत्त्व एवं आवश्यकता का कथन करके उसके त्रैविध्य-निरूपण पूर्वक दीक्षा-विधान का आद्यन्त निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

निमित्त ज्ञान नामक नव अध्याय में विविध निमित्तों के शुभाशुभ-विचारों को यथावश्यकरूपेण विवेचित किया गया है। इसी प्रकार योग नामक दशम अध्याय में योगज्ञान की महत्ता एवं आवश्यकता का समासेन प्रवचन करके क्रिया एवं ज्ञान-भेद से योग के द्वैविध्य-निरूपण पूर्वक यम-नियम समाधि-वैराग्य आदि आयामों को प्रपञ्चित किया गया है। इसके बाद ज्ञान-योग के विकारों की निवृत्ति का उपाय

विवेचित किया गया है। अध्याय के अन्त में कर्मयोग एवं ज्ञान-योग का पारस्परिक विश्लेषण करते हुए दोषों के वैशिष्ट्य को पृथक्-पृथक् निरूपित किया गया है। 'प्राणायाम' के विशेष निरूपण के साथ योगाख्यानात्मक दशम अध्याय सम्पन्न हो जाता है।

अरिष्टनामक ग्यारहवें अध्याय में विविध अरिष्टों के स्वरूप-निरूपण पूर्वक उनके विविध पक्षों का विचार किया गया है। अरिष्टादि सम्बंधी विविध विचार शरीर के विविधावयवों के स्पन्दन एवं स्फुरण से संकेतित हुआ करते हैं। अतः अध्याय के प्रारम्भ में प्राण, अपान, उदान, समान एवं व्यान रूप पञ्च विध-वायु पर विचार-विमर्श प्रस्तुत करके विविधारिष्टों की शान्ति के फलस्वरूप आदर्श वैष्णव की मृत्युकालिक शान्त्यादि का विवेचन किया गया है।

ईश्वर को प्रसन्न करने के उद्देश्य से अनुष्ठेय मानसिक, वाचिक एवं कायिक धर्मों के स्वरूप-निरूपणपूर्वक उनके अनुष्ठान-प्रकारों को प्रस्तुत संहिता के धर्म नामक द्वादश अध्याय में विवेचित किया गया है।

काम्ययोग नामक तेरहवें अध्याय में विविध अभीष्टों की संप्राप्ति की दृष्टि से मुख्य अभीष्ट मोक्ष के स्वरूप-निरूपण पूर्वक उसके साधनभूत यागानुष्ठान का व्यापक निरूपण किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अग्नि, ब्रह्मा, कुबेर, लक्ष्मी, गणेश, सुब्रह्मणसूर्य, रुद्र, अम्बिका एवं यम आदि की विशेष पूजा-व्यवस्था का निर्देश करके सभी के आशीर्वाद-विशेषों का उल्लेख किया गया है।

मुद्रा नामक चतुर्दश अध्याय में मुद्राओं के विनियोग एवं महत्त्व का संकीर्तन करते हुए मुद्राओं के आनन्त्य एवं रहस्यगोचरत्व के निर्देश-पूर्वक विविध-विशिष्ट मुद्राओं का लक्षण एवं अभिनय प्रदर्शित किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हृदय-शिर-शिखा आदि तेरह सामान्य मुद्राओं के साथ ही गरुड-प्रार्थना आदि विशिष्ट मुद्राओं का निरूपण किया गया है।

काम्य नामक पन्द्रहवें एवं सोलहवें अध्यायों में त्रयोदशोऽध्याय में निर्दिष्ट विविध कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से साधक के लिए प्रशान्त स्थान एवं नियमित अनुष्ठान का निर्देश करके अपेक्षित जप-होम के विधान के साथ इष्टाप्ति का स्पष्ट निर्देश किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में वाराह, नृसिंह, नारसिंह, श्रीकर, सुदर्शन आदि मन्त्रों को महत्त्व (वर्ण-विन्यास)-विश्लेषण पूर्वक अन्य षडक्षर, द्वादशाक्षर एवं अष्टाक्षर मन्त्रों का स्वरूप एवं प्रभाव वर्णित किया गया है।

ईश्वर नामक सत्रहवें अध्याय में राजा-मन्त्री आदि उन विशिष्ट लोगों के लिए दीक्षा-विधान का विवेचन किया गया है जिनके पास तपस्या आदि करने के लिए

अवकाश नहीं होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में दीक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति के जन्मादिवत् जातकर्म, नामकरण, चौल एवं उपनयन रूप दीक्षांग संस्कारों का निरूपण करके पूजा करते समय शूद्र के लिए भी शरीर पर यज्ञोपवीत धारण करने की अपरिहार्यता का संकेत किया गया है। पूजा के अतिरिक्त अन्य कालों में यज्ञोपवीत धारण करने का सर्वथा निषेध प्रस्तुत करके तान्त्रिक रूप में शूद्र की दीक्षा-व्यवस्था का संकेत करने के बाद क्षत्रिय एवं वैश्यों की वैदिक रीति से दीक्षा-व्यवस्था का निर्देश किया गया है। अन्त में तुलाभार एवं अभिषेक जैसे महत्त्वपूर्ण दीक्षांगों का विवेचन करके अन्य सामान्य पक्षों का उद्घाटन किया गया है।

समयाभावापन्न राजा, मन्त्री आदि विशिष्ट लोगों की दीक्षा के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये विवेचनों के पश्चात् अट्ठारहवें अध्याय में धन-धान्य सम्पन्न किन्तु ज्ञानरहित लोगों की संसृति के उद्देश्य से उनके द्वारा देवस्थापना द्वारा परमसिद्धि का संकेत करके भगवान् की स्थापन-प्रक्रिया को निरूपित किया गया है। प्रस्तुतोपक्रम में प्रासाद एवं भवन-संज्ञक द्विविध स्थापन-स्थानों का संकेत करके मन्दिर-निर्माण में प्रयोज्य सामग्री सहित मूर्ति एवं मन्दिर की साज-सज्जा का विवेचन किया गया है। इसके बाद मूर्ति के स्थापनोपक्रम में अधिवास, जलाधिवारा, नेत्रोन्मीलन एवं मन्त्र-न्यास जैसे महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठांगों का निरूपण किया गया है।

स्थापन नामक उन्नीसवें अध्याय में भगवत्-स्थापन के लिए अर्हानर्ह देश, काल एवं द्रव्यादि का कथन करके परिवार देवताओं सहित भगवत्-स्थापनानुष्ठान के सांगोपांग निरूपण के फलस्वरूप प्रतिष्ठा उत्सव को मूर्तिस्थापनात्मक समष्टि प्रदान की गयी है।

अग्निकार्य नामक बीसवें अध्याय में दीक्षा एवं नित्यनैमित्तिक अनुष्ठांग के रूप में अग्निकार्य के समस्त उपकरणों का एकैकशः उल्लेख करके विधि-विधान-पूर्वक अग्नि-कार्य का सांगोपांग निरूपण किया गया है।

स्नपन नामक इक्कीसवें अध्याय में सपरिवार विष्णुस्थापनानन्तर अनुष्ठेय पूजा के सर्वप्रथमांगभूत स्नपन-क्रिया का सांगोपांग निरूपण किया गया है। इसी प्रकार यात्रा नामक बाइसवें अध्याय में स्थापनोत्तर आयोज्यमाण यात्रोत्सव का उपन्यास प्रस्तुत किया गया है।

बिम्बलक्षण नामक तेइसवें अध्याय में 31 श्लोक-पर्यन्त पीठलक्षणसंयुक्त अङ्गप्रत्यङ्ग विन्यास-पूर्वक समस्त प्रमाणों के साथ बिम्बों के लक्षण बताते हुए होमसाधनभूत स्रुवा आदि के लक्षण का कथन किया गया है। एतदनन्तर स्नान करके

वायुमन्त्रों द्वारा पञ्चप्राणाहुति के विधान के बाद हस्तशुद्धिपूर्वक भगवान् पुण्डरीकाक्ष की सश्रद्ध सर्वस्वार्पणात्मक स्तुति का प्रवचन किया गया है। स्तुतिपूर्वक होम के लिए विहित द्रव्यत्रय के साथ नित्यहोम, काम्य एवं नैमित्तिक पक्वहोमादि के निर्देश के साथ अध्याय अपने कर्मशेष रूप विषय वस्तु की उपसंहृति के बिना ही समाप्त हो जाता है। उपर्युक्त विवरण से दो तथ्य स्पष्ट प्रतीत होते हैं पहला यह कि अध्यायगत 32वें श्लोक से उपलब्ध अन्तिम श्लोक पर्यन्त अंश बिम्ब लक्षण की अपेक्षा कर्म शेषकरण के साथ सम्बद्ध होना चाहिए था। तथा दूसरा यह कि यह अध्याय स्वयं में पूर्णता को प्राप्त न होकर ग्रन्थपात-वश अपूर्ण हैं अथवा प्रस्तुत अध्याय के 31 श्लोक ही इस अध्याय के हैं शेष श्लोक 29वें अध्याय के साथ प्रोक्त होने चाहिए। उपर्युक्त 32 से अध्यायान्त पर्यन्त समस्त श्लोक ज्यो के त्यों 29/9 से 38-1/2 में प्रोक्त हैं।

विद्वत्पूजा नामक चौबीसवें अध्याय में भगवत्-पूजा प्रकार के उपन्यास-पूर्वक विद्वत्-पूजा का विधान प्रस्तुत किया गया है। विद्वत्-प्रशंसा आदि के साथ आगमिक अर्चना की प्रशंसा करते हुए श्रीप्रदायिनी श्रीकाम की उपासना एवं फल का प्रवचन करके प्रस्तुत प्रतीयमान आरम्भ श्लोकों से रहित अध्याय सम्पन्न हो जाता है।

यात्रा नामक पच्चीसवें अध्याय में ज्ञानहीन भक्त जनों के लिए श्रेयोमार्ग की प्राप्ति के साधन के रूप में तीर्थस्थलों की यात्रा के प्रकार एवं भेदों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में तीर्थ की व्युत्पत्ति बताकर तीर्थयात्रा के औचित्यानौचित्य की चर्चा के साथ कतिपय वैष्णव-तीर्थस्थलों का नाम संकीर्तन किया गया है। इसके बाद तीर्थस्थलों पर आचरणीय व्यवहार, तीर्थोपयुक्त काल एवं तीर्थयात्रा के फल आदि का विवेचन किया गया है।

लोक नामक छब्बीसवें अध्याय में संसार के मूल, अग्र एवं मध्य घटकों का आख्यान करते हुए भूर्लोक अर्थात् पृथ्वी के पर्वत, वृक्ष, नदी, द्वीपादि का वर्णन करके सातों लोकों का नाम निर्देशपूर्वक पृथक्-पृथक् वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद पञ्चशक्तिमय विष्णु की परमसत्ता का निरूपण करते हुए उसकी इच्छानुसार जगद् वर्ग एवं संहार के निर्देशपूर्वक विविध रहस्यों के साथ ही संसार के स्वरूप कर्म के प्रभाव एवं ईश्वर की एकमात्र यथार्थसत्ता का उल्लेख किया गया है। अध्याय के अन्त में युगकालादि के परिमाण के साथ इस रहस्य का निरूपण किया गया है कि सृष्टिकाल में समस्त तत्त्व उसी परमदेव के उद्भूत होते हैं और प्रलयकाल में सभी उसी में विलीन हो जाते हैं। फलतः उसी परमदेव का अस्तित्व रह जाता है।

दूसरे शब्दों में प्रस्तुत संहिता के लोक-संज्ञक छब्बीसवें अध्याय में संसार का एक वृक्ष के रूप में निरूपण करते हुए उसके अग्र, मध्य एवं मूल विभेदों के रूप में लोकों की स्थिति के कथन पूर्वक तत्तत् लोक के जीवों की स्थिति, उनके पारस्परिक वैशिष्ट्यों एवं विविध प्रकारों का विवेचन किया गया है।

संग्रह नामक सत्ताइसवें अध्याय में प्रसंगतः स्थान-स्थान पर वर्णित विष्णवर्चन के विविध कर्मों के एकत्र समावेश-पूर्वक वैष्णव नित्य कर्मों का उपदेश किया गया है। नित्य नैमित्तिक सर्वविधपूजन एवं होमादि के साथ ही इस अध्याय में दीक्षा, मन्दिर-निर्माण, स्थापना तथा सम्यगर्चन के विविध निर्देशों को भी सारगर्भित शब्दों में समग्रित रूपेण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अनुग्रह नामक अट्ठाइसवें अध्याय में आपत्कालजन्य विशेष परिस्थितियों में नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य अनुष्ठानों के कर्तव्य प्रकारोपन्यास का वैभव है। स्थल-स्थल पर त्रुटित एवं स्खलित विषय-वस्तु के कारण प्रस्तुत अध्याय पूर्णतया भावगम्य नहीं है। ब्रह्मा के प्रश्न रूप में प्रोक्त प्रथम श्लोक से ऐसा विदित होता है कि इसमें नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य अनुष्ठानों के सन्दर्भ में आपत्कालगत कर्तव्यों का ही प्रवचन किया गया है जैसा कि उपलब्ध अंशों से भी स्पष्ट होता है।

कर्म-शेष नामक उन्नीसवें अध्याय में पूर्वोक्त क्रियानुष्ठानकर्मादि के अतिरिक्त अन्य क्रियमाण कर्मों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें मण्डल-ध्यान, पञ्चव्यूहमन्त्र, अन्य विविध नैवेद्यादिकालीन स्तुति, दीक्षा-संस्कार तथा आचार्य-लक्षण के कुछ अवशिष्ट पक्ष, मन्दिर-निर्माणार्थ भूमि-चयन सम्बंधी कतिपय विचार, भिन्न-भिन्न आश्रमों में विष्णु की आराधना के कुछ विशेष नियमाचरण, देवस्थापनस्थानार्चन एवं अर्घ्यजल सम्बन्धी विचार आदि विविध अवशिष्ट पक्षों को निरूपित करके मानो भगवदर्चन विधान को समग्रता प्रदान की गयी है।

प्रस्तुत कर्मशेष नाम अध्याय के 9 से 39वें श्लोक के पूर्वार्धपर्यन्त श्लोक एकैकशः वही श्लोक हैं जो बिम्ब लक्षण नामक तेइसवें अध्याय में 32 से ग्रन्थपात की सूचना के साथ अध्यायान्त पर्यन्त प्रोक्त हैं। केवल बीच के श्लोक (39वें का उत्तरार्द्ध एवं 40वां) उन्तीसवें अध्याय में नहीं है। शेष सभी श्लोक एक आध स्थल पर नाममात्र के भेद के साथ प्रोक्त हैं। अतः सम्भव है यह श्लोक कर्मशेष नामक इसी उन्तीसवें अध्याय के ही हों जिनका तेइसवें अध्याय के साथ कोई सम्बन्ध न हो। इस स्थिति में तेइसवें अध्याय की ग्रन्थपात की आशंका भी निर्मल हो जायेगी। स्मिथ ने अपने अध्ययन में तेइसवें अध्याय में 31 श्लोकों की ही विषय वस्तु का निरूपण किया है।

रहस्य नामक तीसवें अध्याय में पञ्चरात्रशास्त्र के रहस्यात्मक गुह्यतम ज्ञान का उपदेश किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसमें सर्वथा विष्णवाराधकों के सर्वथा कल्याण के साथ उनके ईश्वर के सायुज्य, ऐश्वर्य एवं कतिपय त्रुटिस्खलनों का सङ्केत करके उनके सम्मार्जनपूर्वक सत्प्रवृत्तियों की प्रशंसा की गयी है।

परभसंहिता के उपसंहारात्मक अन्तिम अध्याय में संहिता का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मा के द्वारा श्वेतद्वीप वासी सनत्कुमार, सनक, सनन्दन एवं सनातन को पञ्चरात्रशास्त्र का उपदेश किये जाने का निर्देश किया गया है। इसके बाद सनत्कुमारादि के द्वारा श्वेतद्वीप में आने वाले सिद्धसाधकादि को इस शास्त्र का उपदेश किये जाने का वर्णन करके मार्कण्डेय के देवल के प्रति इसी द्वीप से अपने पाञ्चरात्र-ज्ञान की प्राप्ति का कथन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार संहिता के प्रवर्तनक्रम, देवल की अभीप्सित सन्तुष्टि एवं के संहिता के श्रवण-पठनादि सहित यथोपदिष्ट अर्चनादि के फल-निर्देश के साथ ही पाञ्चरात्र-शास्त्र की परमसंहिता सम्पूर्णता को प्राप्त हो जाती है।

सनत्कुमार-संहिता

वी. कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित सनत्कुमार संहिता वर्ष 1967 में अड्यार ग्रन्थागार एवं शोधसंस्थान मद्रास से प्रकाशित हे। पाञ्चरात्र शास्त्र-परम्परा के उपदेश की पञ्च-रात्रात्मक मान्यता का अनुवर्तन करती हुई इस संहिता का प्रधान वैशिष्ट्य यह है कि यह पाँच रात्रों में विभक्त है। अन्य संहिताओं में मात्र ज्ञानामृतसार संहिता में इस प्रकार का विभाजन प्राप्त होता है। इसके इन पञ्चरात्रों के रूप में क्रमशः ब्रह्मरात्र, शिवरात्र, ऋषिराज एवं बृहस्पतिरात्र के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं। उपलब्ध संहिता एवं प्रमाणों के आधार पर इनमें से मात्र चार रात्र ही उपलब्ध होते है। पञ्चमरात्र ऋषिरात्र की अनुपलब्धि के कारण इसकी सञ्ज्ञा के विषय में भी वैमत्य है कुछ प्रमाणों के आधार पर इसका नाम नागरात्र माना गया है। अतः उपलब्ध तथ्यों के आधार पर उपर्युक्त रात्रक्रम में पूर्व चार रात्रों के प्रतिपाद्य-विषय का संक्षिप्त वर्णन करके इस संहिता के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य को प्रकाशित किया जा रहा है-

ब्रह्मरात्र

चालिस अध्यायों में प्रोक्त सनत्कुमार संहिता के ब्रह्मरात्र नामक प्रथम वर्ग में ग्यारह अध्यायों का उल्लेख प्राप्त होता है जबकि इसके प्रारम्भ के तीन अध्याय सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। अड्यार से प्रकाशित प्रस्तुत संस्करण चतुर्थ अध्याय के

मध्य से प्रारम्भ होता है। अतः ब्रह्मरात्र के अन्तर्गत मात्र-अर्द्धाधिक सात अध्याय ही हैं जिनमें समयाध्याय, वर्णाचार-विधि, प्रतिष्ठाविधि, प्रतिमा-लक्षणोद्देश, प्रासादविधि, अर्चनाविधि, दानविधि एवं मन्त्रकोश-विधानों से सम्पृक्त विषयों का सुष्ठु निरूपण किया गया है।

शिवरात्र

सनत्कुमार-संहिता के शिवरात्र के अन्तर्गत तिथियाग, मन्त्र-लक्षण, मन्त्रवाद, हविर्निवेदन, पुष्पयागविधि, पत्रच्छेद, स्नपनविधि, उत्सव एवं मण्डल आदि विषयक अध्यायों से मण्डित है। इन अध्यायों में तत् तद् अध्यायोचित विषयों का एकैकशः विस्तृत निरूपण किया गया है। देवार्चन-हेतु विविध-वृक्षों से पत्र-उच्छेदन की व्यापक परम्परा में तत् तद् वृक्षों का निरूपण एवं उनसें पत्रग्रहण करने की शास्त्रीय विधि इस संहिता की मौलिक विशेषता प्रतीत होती है।

इन्द्ररात्र

नव अध्यायों में प्रोक्त इन्द्ररात्र का प्रथम अध्याय पूरणाध्याय है जिसमें इन्द्र द्वारा उपदिष्ट विविध देवयाग-पूरक विषयों एवं उनके फलों का प्रवचन किया गया है। इसके साथ ही इसके मन्त्रोद्धार, पुराणाध्याय, यागविधि, परिवाराध्याय, विद्येशोत्पति, विष्णुलोकविस्तार, शिष्यलक्षण एवं आचार्यलक्षण नामक अध्यायों में तत् तद् विषयों का सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। इसमें विद्येशोत्पत्ति एवं विष्णु लोकविस्तार-से सम्बद्ध विषयों का अपना विलक्षण वैशिष्ट्य है।

ऋषिरात्र

काल अर्थात् पञ्चकाल-निरूपण, मुद्रालक्षण, योगविधि तप, पुष्पयाग, बलि-विधान, छन्दोविधि, प्रायश्चित्त विधि, ब्रह्म-कूर्चविधि एवं शस्त्रलक्षण आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करने के उद्देश्य से प्रायः दस अध्यायों में प्रोक्त ऋषिराज के अन्तर्गत सर्वप्रथम उपचारोचित अभिगमन, उपादान इज्या, स्वाध्याय एवं योगसञ्ज्ञक पञ्च-कालों का निरूपण करके मुष्टि-स्नान, गन्ध आदि 89 मुद्राओं का स्वरूप एवं प्रक्रिया-विधान चित्रित किया गया है। इसके पश्चात् योग-प्रक्रिया, तपश्चर्या, पुष्पार्चन-विधान को प्रस्तुत करके बलि-संप्रदान का सविधि निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् इस रात्र के सप्तम अध्याय में देवोपासना में प्रशस्त

अष्टाक्षर विष्णुगायत्री, षडक्षर मन्त्रों सहित प्रमुख सात वैदिक छन्दों का निरूपण इस संहिता का योगदान है। इसके पश्चात् विविध प्रायश्चित्त कर्मों, उञ्छगण्य-विधान का वर्णन करके देव-शस्त्रों का स्वरूप एवं महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

डा. स्मिथ के संग्रह के माध्यम से विदित होता है कि सनत्कुमारसंहिता के नाम से एक अन्य ग्रन्थ भी नारायण प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित है। सनत्कुमार एवं पुलस्त्य के संवादरूप में प्राप्त ग्यारह अध्यायों वाली यह संहिता कृष्ण की उपासना से सम्बद्ध है; परन्तु उसे पाञ्चरात्रशास्त्र या पाञ्चरात्र-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जाता है।[1]

नवरत्न-संहिताएँ

विष्णुतन्त्र में रत्नभूत पाञ्चरात्र-संहिताओं की एक और सूची उपलब्ध होती है। इसके अनुसार मन्त्रसिद्धान्त मार्ग में नवरत्न प्रसिद्ध हैं। विष्णुतन्त्र में नवरत्नों का परिगणन इन शब्दों में किया गया है–

मन्त्रसिद्धान्तमार्गेषु नवरत्नं प्रसिद्धकम्।
एतदुक्तप्रकारेण वक्ष्यामि कमलासन।।
पाद्मतन्त्रं तु प्रथमं द्वितीयं विष्णुतन्त्रकम्।
कापिञ्जलं तृतीयं स्याच्चतुर्थं ब्रह्मसंहिता।।
मार्कण्डेयं पञ्चमं तु षष्ठं श्रीधरसंहिता।
सप्तमं परमं तन्त्रं भारद्वाजं तथाष्टमम्।।
श्रेष्ठं नारायणं तन्त्रं नवरत्नमुदीरितम्।[2]

यहाँ परिगणित नवरत्नों की सूची इस प्रकार है–1. पाद्मतन्त्र, 2. विष्णुतन्त्र, 3. कापिञ्जलसंहिता, 4. ब्रह्मसंहिता, 5. मार्कण्डेयसंहिता, 6. श्रीधरसंहिता, 7. परमतन्त्र, 8. भारद्वाजसंहिता तथा 9. नारायणतन्त्र।

अन्य संहिताएँ

पाञ्चरात्रागम-साहित्य की अक्षुण्ण एवं व्यापक परम्परा में रत्नत्रय, रत्नत्रय व्याख्यान पञ्चरत्न तथा नवरत्न संहिताओं के रूप में लोक-विश्रुत संहिताओं के अतिरिक्त अन्य-संहिताओं की भी एक सुदीर्घ परम्परा प्राप्त होती है जिनका नामोल्लेख

1. Printed texts of the Pañcarātrāgamas, Vol. I, p. 512.
2. विष्णुतन्त्र, ब्रह्मोत्सवाध्याय (परमसंहिता, प्रस्तावना, पृ. 39-40 पर उदाहृत)।

सात्त्विक, राजस एवं तामस-वर्ग की विविध संहिताओं में किया जा चुका है। अतः सम्प्रति उनमें से उपलब्ध कतिपय अन्य संहिताओं के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य का यथाप्राप्त वर्णन किया जा रहा है। इन विवेच्य संहिताओं में अहिर्बुध्न्य-संहिता, नारदपाञ्चरात्र-भारद्वाजसंहिता, नारदीय-संहिता, भार्गवतन्त्रम् लक्ष्मीतन्त्रम्, विश्वामित्रसंहिता, विष्णुसंहिता एवं श्रीप्रश्नसंहिता के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

अहिर्बुध्न्य-संहिता

अहिर्बुध्न्य अर्थात् शिव द्वारा नारद के प्रति साठ अध्यायों में प्रोक्त अहिर्बुध्न्य-संहिता को सर्वप्रथम पं. एम्.डी. रामानुजाचार्य ने सम्पादित करके वर्ष 1916 में अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित कराया। इसके बाद 1966 में बी. कृष्णमाचार्य द्वारा यही संहिता एक अतिरिक्त पाण्डुलिपि के सहयोग से पुनः सम्पादित करके द्वितीय संस्करण के रूप में दो भागों में प्रकाशित की गयी। प्रस्तुत दो संस्करणों के अतिरिक्त इसका एक अन्य संस्करण वर्ष 1986 में भी प्रकाशित हुआ। पाञ्चरात्रागम साहित्य की लब्धप्रतिष्ठ प्रस्तुत संहिता एकाधिक दृष्टियों से विशिष्ट है। प्रायः समस्त पाञ्चरात्र संहिताएँ साक्षाद् विष्णु द्वारा मूलतः प्रोक्त स्वीकार की जाती हैं जबकि प्रस्तुत संहिता का प्रवचन विष्णु-सुदर्शन के वैभवाकांक्षी देवर्षि नारद के प्रति भगवान् शंकर ने कैलासपर्वत पर किया है। जैसा कि संहिता के प्रारम्भ में भारद्वाज की उपर्युक्त जिज्ञासा को प्रशान्त करते हुए दुर्वासा ऋषि द्वारा व्यक्त अभिमत से सर्वथा स्पष्ट है। विविध वैदिक मन्त्रों की विशद व्याख्या के साथ ही इसके अन्य विलक्षण वैशिष्ट्य भी हैं जो क्रमशः अधोलिखित अध्याय-क्रम में प्रस्तुत संहिता के मुख्य प्रतिपाद्य-अंशों से सर्वथा स्पष्ट हो जायेगी।

प्रस्तुत संहिता के शास्त्रावतार नामक प्रथम अध्याय में मंगलाचरण के पश्चात् विष्णु के सुदर्शन चक्र के शब्दार्थ, स्वरूप, विष्णु से सम्बन्ध तथा महात्म्य एवं माहात्म्य-कारणादि के विषय में दुर्वासा के प्रति व्यक्त किये गये भारद्वाज के विस्तृत जिज्ञासा वचनों के उत्तर में दुर्वासा द्वारा प्रस्तुत संहिता के प्रवचनोपक्रम को प्रस्तुत किया गया है। दुर्वासा के अनुसार एक बार ब्रह्मा आदि देवगण भी सुदर्शन की दिव्य महिमा के प्रति आशंकित हुए थे। इनकी आशंका-प्रशान्त्यर्थ देवर्षि नारद तीनों लोकों में भ्रमण करते हुए कैलाश पर्वत पर पहुँचते हैं जहाँ भगवान् शंकर का महिमास्पद अलंकृत हो रहा है। नारद भगवान् अहिर्बुध्न्य की स्तुति करते हैं। शंकर प्रसन्न होकर नारद के आगमन का कारण जानने की इच्छा व्यक्त करते हैं और नारद कालनेमि संग्राम में दृष्ट सुदर्शन की अद्भुत महिमा को व्यक्त करके भगवान् शंकर

से अपनी विविध शंकाओं को निर्मूल करने का निवेदन करते हैं। अहिर्बुध्न्य उन्हें पूर्ण आश्वस्त करके उनकी आशंकाओं एवं जिज्ञासाओं के अनुरूप 'सुदर्शन' की विशद व्याख्या करते हुए प्रस्तुत संहिता के प्रवचन की पृष्ठभूमि निर्मित कर देते हैं। उपर्युक्त विधि से संहिता के अवतरण की कथा के साथ ही संहिता का प्रथम अध्याय सम्पन्न हो जाता है। संहिता के प्रस्तुत अध्याय की विषयवस्तु भारद्वाज के प्रति दुर्वासा द्वारा व्यक्त की गयी अहिर्बुध्न्य-संहिता रूप शास्त्रावतार-कथा तक सीमित है। संहिता के शेष भाग में नारद के विविध प्रश्न एवं जिज्ञासावचन तथा अहिर्बुध्न्य द्वारा प्रोक्त सुदर्शन-वैभवरूप पाञ्चरात्रज्ञान की अमर वाणी अभिलषित है।

षाड्गुण्य ब्रह्मविवेक नामक द्वितीय अध्याय में सर्वप्रथम नारद के प्रश्नोत्तररूप में अहिर्बुध्न्य ने विष्णु एवं कालनेमि के मध्य सम्पन्न संग्राम, सुदर्शन शक्ति एवं शब्दार्थादि के ज्ञान को संकर्षण से प्राप्त बताकर परब्रह्म के स्वरूप एवं सुदर्शन-शब्द के अर्थ आदि को बताया गया है। इसके बाद परब्रह्म के व्यापक स्वरूप, उसके विशेष लक्षणों यथा त्रिविधपरिच्छेद-शून्यत्वादि को बताकर ब्रह्म के ज्ञानशक्ति, ऐवर्श्य, बल, वीर्य एवं तेज स्वरूपात्मक षाड्गुण्य को पृथक्-पृथक् निरूपित किया गया है।

वैश्वरूप्यसंक्षेप नामक तृतीय अध्याय में समस्त वस्तुओं की अपृथक्सिद्धता के साथ परब्रह्म की शक्ति को भी प्रस्तुत गुणोपेत बताकर भगवत् शक्ति के लिए आनन्दादि शब्दों के अभिधेयत्व की चर्चा की गयी है। इस प्रकार विष्णु शक्ति के निरूपण-पूर्वक क्रियाशक्ति के वैभव को विस्तार से निरूपित किया गया है।

प्रतिसञ्चरवर्णन नामक चतुर्थ अध्याय में जगत् कारण के रूप में सुदर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए प्राकृत प्रलय के फलस्वरूप प्रतिसंचरकालपरिणाम का निरूपण करके प्रलय काल में समस्त पदार्थों के स्वस्वकारणों में लय हो जाने के रहस्य को बताया गया है। क्रमशः अपने-अपने निमित्तों में लीन होने की क्रमबद्ध शृङ्खला को प्रस्तुत करते हुए शक्ति के कूटस्थ पुरुष में तथा कूटस्थ पुरुष के अनिरुद्ध में लय-प्रक्रिया के क्रम में अनिरुद्धादि का अपने-अपने पूर्वतन व्यूहों में लय का रहस्य प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त ढंग से प्रलयवर्णनान्तर प्रोक्त शुद्धसृष्टिवर्णन नामक पाँचवें अध्याय में प्रलयावस्थ ब्रह्म का स्वरूप बताकर विष्णु की शक्ति में उन्मेष एवं विविध भावव्यञ्जकत्व को प्रतिपादित किया गया है। फिर शुद्ध-सृष्टि के प्रपञ्चन का उपक्रम प्रस्तुत करते हुए गुणयुग्मत्रय से व्यूह-त्रयाविर्भाव को स्वरूप एवं लक्षण-निर्देश

पूर्वक निरूपित किया गया है। अध्याय के अन्त में 39 विभव देवों के नामोल्लेख-पूर्वक उनकी उत्पत्ति के रहस्य-हेतु सात्वतसंहिता का संकेत करके शुद्ध सृष्टि-वर्णन को उपसंहार प्रदान किया गया है।

शुद्धेतर सृष्टि-वर्णन नामक छठे अध्याय में भूतशक्ति-प्रवृत्ति का प्रवचन करके शुद्धेतर सृष्टि के त्रैविध्यनिरूपणपूर्वक प्रद्युम्न से मिथुनचतुष्टयोत्पत्ति का प्रवचन किया गया है। इसके बाद सत्वादि से रज आदि की उत्पत्ति, परवासुदेव की नित्यविभूतिमत्ता, भगवान् के नित्यमुक्तानुभाव्यत्व, मुक्तों के स्वरूप एवं यथोपासना फलप्राप्ति का निरूपण किया गया है। एतदनन्तर जीव के स्वरूप एवं जीवों के कर्मपारवश्य का निरूपण करते हुए शुद्धेतर सर्ग की पृष्ठभूमि निर्मित की गयी है।

शुद्धेतर सृष्टि-वर्णन को गति प्रदान करते हुए सप्तम अध्याय में महत् तत्त्वोत्पत्ति की दृष्टि से सांख्याभिमत प्रकृति एवं पुरुष के स्वरूप का निरूपण करके अहंकारादि, भूत एवं इनिद्रयोत्पत्ति सहित चातुर्वर्ण्योत्पत्ति की क्रमिक व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है।

शुद्ध एवं शुद्धेतर सृष्टि वर्णन के अनन्तर अष्टम अध्याय में सृष्टि के सन्दर्भ में विद्यमान बहुधा विप्रतिपत्तियों का एकैकशः खण्डन करते हुए एक ही लक्ष्मी के नामाशब्दगोचरत्व के संकेत-पूर्वक यह बताया गया है कि एक ही सृष्टि के सन्दर्भ में तत्त्वविद् अपनी-अपनी दृष्टि से अर्थ लगा लिया करते हैं। इस प्रकार सृष्टि के सन्दर्भ में प्रचलित मतभेदों को उनके निराकरण-पूर्वक प्रस्तुत करने के साथ सुदर्शन के जगदाधारत्व रूप महत्त्व को विस्तृत रूपेण विवेचित किया गया है। इसी प्रकार अशुद्ध जगदाधार निरूपण नामक नवम अध्याय में अशुद्ध-जगदाधार रूप विविध चक्रों के प्रस्तुतीकरण के साथ पौरुष चक्र, विविध शक्त्यादि चक्रों, महाविभूति चक्र एवं संहति चक्र के स्वरूपादि का वर्णन करते हुए सुदर्शन चक्र के त्रैविध्य को निरूपित किया गया है।

अर्थात्मक प्रमाण निरूपण नामक दसवें अध्याय में प्रमाण के स्वरूप-निरूपण पूर्वक समष्टि एवं व्यष्टि रूप प्रमाण-भेदों के स्वरूपादि का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन करते हुए विविध शस्त्र व्यूहों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार शब्दात्मकप्रमाणव्यूहनिरूपण नामक ग्यारहवें अध्याय में आदिसर्गकालगत भगवान् की शब्द-प्रमाण विषयक चिन्ता का उल्लेख करके शास्त्रोत्पत्ति के रहस्य के साथ आदिशास्त्र के स्वरूप एवं उसकी सर्व्रशास्त्रार्थगर्भिता को विवेचित किया गया है। प्रस्तुत शास्त्र की भवगत्प्रतीतिहेतु रूपता एवं मन्दप्रचारता का प्रतिपादन करके वाच्यायनादि के भेद से वेदों का विभजन करते हुए सांख्य, योग, पाशुपत एवं

पाञ्चरात्रादि के स्वरूपों को प्रवाचित किया गया है। तत्तत् शास्त्रों के अवतरण एवं नाम-संकीर्तन के पश्चात् शब्दात्मक प्रमाणव्यूहविशेष निरूपण नामक बारहवें अध्याय में त्रयी अर्थात् ऋग्, यजुः साम के स्वरूप को प्रस्तुत करके इनकी शाखाओं शिक्षाकल्पादि षडङ्गों, मीमांसा न्यायादि उपांगों एवं इतिहास-पुराण-वास्तुवेद-धनुर्वेद गान्धर्ववेद एवं आयुर्वेद आदि उपवेदों को व्याख्यायित किया गया है। एतदनन्तर सांख्य, योग, पाशुपत एवं पाञ्चरात्र के स्वरूप एवं भेदोपभेदों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करते हुए इन शास्त्रों की भगवान् वासुदेव के प्रति आदर्श निष्ठा भावना को सुदर्शन के पर्यायों के साथ प्रतिष्ठित किया गया है। प्रमाणार्थ-निरूपण नामक त्रयोदश अध्याय में प्रमाण शब्द के निर्वचन तथा प्रमाणार्थस्वरूप को प्रस्तुत करके हित एवं साधनरूप द्विविध प्रमाण फलों का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् व्यवहित कर्म एवं अव्यवहित धर्म के स्वरूप-निर्देशपूर्वक पाञ्चरात्र की अव्यवहित धर्मपरकता का निर्देश करके समस्त तथाकथित शास्त्रों के फलों को विवेचित किया गया है। अध्याय के अन्त में अर्थ, धर्म और काम के मिथः (पारस्परिक) साध्य-साधन भाव के विवेक को प्रस्तुत करके मोक्ष के सर्वथा साध्यत्व के साथ धर्म आदि के अन्तरंग एवं बहिः साधनों को निरूपित किया गया है।

संसार में जीव की उत्पत्ति के हेतु एवं उसकी मुक्ति के मार्ग का निरूपण करने के उद्देश्य से प्रोक्त अहिर्बुध्न्य-संहिता के चतुर्दश अध्याय में सृष्टि वर्णन को उपसंहार प्रदान करते हुए जीव के सांसिद्धिक स्वरूप, विविध स्थितियों एवं उसकी मुक्ति की आधार-रूपा भगवत् पंचशक्तियों का निरूपण किया गया है। अध्याय के अन्त में विष्णु की अनुग्रहात्मिका कृपा-शक्ति के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति के माध्यम से मुक्ति की व्यवस्था का निर्देश करते हुए लब्धज्ञान-व्यक्ति की विष्णुपरमपदरूप मोक्ष-प्राप्ति का उद्घोष किया गया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अहिर्बुध्न्यसंहिता के आदि के चतुर्दश अध्यायों में शास्त्रावतार, ब्रह्म, विष्णुशक्ति एवं प्रलयवर्णन के साथ सर्वविध सृष्टि-प्रक्रिया को विवेचित करते हुए पौरुषादि चक्रों सहित सुदर्शन के जगदाधारत्व, प्रमाण व्यूहों, एवं प्रमाणार्थों साङ्गोपाङ्ग निर्देशित किया गया है।

प्रस्तुत संहिता के पन्द्रहवें अध्याय में सर्वप्रथम मोक्ष पुरुषार्थ के अधिकारी का निरूपण करने के उद्देश्य से पाञ्चकालिक धर्मरत मुख्याधिकारियों का निर्देश करके गार्हस्थ्य-प्रशंसापूर्वक पाशुपत, सांख्य एवं योगनिष्ठों के विविध धर्मों का प्रवचन किया गया है। इसके पश्चात् चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों में अनुष्ठेय धर्माचरणों को पृथक्-पृथक् निरूपित करके सभी की मोक्ष-प्राप्ति का निर्देश भी किया गया है।

अहिर्बुध्न्य-संहिता का बृहदंश प्रमाणार्थों की रक्षा-निमित्त विहित मन्त्र-यन्त्रों एवं अस्त्रमन्त्रों के सविधि निरूपणों से मण्डित है। संहिता के सोलहवें अध्याय से लेकर सत्ताइसवें अध्याय तक इन मन्त्रयन्त्रों का व्यापक विलास प्रतिबिम्बित है। रक्षासाधनों के रूप में शस्त्रास्त्रों एवं मन्त्रों का निर्देश करके ब्राह्मण के मन्त्ररक्षाधिकारत्व-सहित मन्त्राधारी ध्वनिरूप नादविन्दु वर्णों का निरूपण इसके सोलहवें अध्याय का अलंकरण है। सत्रहवें अध्याय में वैष्णव एवं रौद्ररूप वर्णाधिष्ठातृ देवों एवं वर्णचक्रपद्म निरूपण को अलंकृत किया गया है। मन्त्रोद्धार नामक अट्ठारहवें अध्याय में शक्ति आदि विविध मन्त्रों यथा सुदर्शनदशाक्षर मन्त्र, सुदर्शनगायत्री, सुदर्शनसप्ताक्षरी-अष्टाक्षरी-नवाक्षरी मन्त्रों के उद्धारक्रम अर्थात् वर्णविन्यास व्यवस्था (संरचना) को तत्तन् मन्त्रों के प्रभाव एवं अर्थादि सहित विधिवत् प्रस्तुत किया गया है। अङ्गोपाङ्ग मन्त्रोद्धार नामक उन्नीसवें अध्याय में हृदय-शिर-शिखा-कवच अस्त्र-नेत्र आदि मन्त्रों-सहित उपाङ्गमन्त्रों-चक्रगायत्री मन्त्र एवं चक्राद्यस्त्रमन्त्रों को प्रस्तुत किया गया है। अन्त में जयाख्य-संहिता सहित अन्य शास्त्रों से मन्त्रों के ग्रहण का निर्देश करके इस अध्याय को उपसंहार प्रदान किया गया है। मन्त्रग्रहणादि दीक्षा-विधान नामक बीसवें अध्याय में आचार्य एवं शिष्य के लक्षणों को विवेचित करके मन्त्रदीक्षाविधान के विविध चरणों को एकैकशः प्रस्तुत किया गया है। मन्त्रदीक्षा के पश्चात् उसके जयादि के निर्देशपूर्वक मन्त्रसिद्धि के संकेत एवं रक्षाशक्तियों का निर्देश करके मन्त्रग्रहणादि दीक्षाविधान को उपसंहार प्रदान किया गया है।

ज्योतिर्मयरक्षानिरूपण नामक इक्कीसवें अध्याय में मन्त्ररक्षाप्रसङ्गान्तर्गत ज्योतिर्मयी एवं वाङ्मयी द्विविध रक्षाव्यवस्था का संकेत करके अक्ष-नाभि-अर-नेमि आदि कल्पनरूपा ज्योतिर्मयी रक्षा-व्यवस्था के साथ मन्त्राध्यायी के आनुषङ्गिक एवं मुख्य फलों को विवेचित किया गया है। इसी प्रकार संहिता के बाइसवें अध्याय में मन्त्र-रक्षा की वाङ्मयी व्यवस्था को निरूपित करने के उद्देश्य से चतुरस्र ब्रह्म चक्र, षडर विष्णु चक्र एवं अष्टार नारायण चक्र का स्वरूप एवं महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत अध्याय की मन्त्रमयरक्षा-व्यवस्था उपर्युक्त मन्त्रत्रयों के माध्यम से विवेचित की गयी है। इन त्रिविध रक्षायन्त्रों के पश्चात् वासुदेवादि यन्त्रनिरूपण नामक तेइसवें अध्याय में जिन अन्य यन्त्रों के स्वरूप एवं महत्त्वादि का विवेचन किया गया है उनके नाम इस प्रकार हैं-द्वादशार वासुदेव चक्र, अजिताख्यद्वात्रिंशदरचक्र, द्वात्रिंशदर नारसिंह चक्र, शतारज्योतिष्चक्र-ब्रह्मचक्र तथा सहस्रार मातृका चक्र। विविध यन्त्रों का वर्णन करने के पश्चात् संहिता के चौबीसवें अध्याय में उपर्युक्त आठों चक्रों के फलों एवं महिमा को बताकर तत्तद् अर चक्रों के अधिष्ठातृ देवों के स्वरूप एवं ध्यान

वचनों को पृथक्-पृथक् विवेचित किया गया है। तदनन्तर चक्रों के अङ्गदेवताओं के ध्यानादि को प्रपञ्चित करके सुदर्शनमय सर्वचक्रों के कूटध्यान एवं सौदर्शनसर्वमन्त्र-मूलभूत शक्ति के ध्यानपूर्वक उक्त यन्त्रों में द्विज के ही अधिकारत्व का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय के अन्त में उक्त यन्त्रों के आनुषङ्गिकफलपूर्वक मुक्तिरूप अपरफलसाधनत्व एवं सौदर्शनमन्त्रों में अभिक्रमनाशादि के अभाव का संकेत करके यन्त्रदेवता ध्यानादि को निष्कर्ष प्रदान किया गया है।

सुदर्शनयन्त्रवैभववर्णन नामक पच्चीसवें अध्याय में कलियुग में सुदर्शन के ही सर्वरक्षकत्व रूप वैभव का निरूपण करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम कलिस्वरूप कथन करके सुदर्शनयन्त्र की प्राप्ति एवं महिमा का वर्णन किया गया है। इसके बाद सुदर्शन, नारसिंह एवं विष्णुपञ्जर यन्त्रों के फलों को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करके समुदितयन्त्रत्रय के फल-वर्णन की अशक्यता को व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार अध्यायान्त में महासुदर्शनयन्त्र के फलनिरूपण के पश्चात् महासुदर्शन यन्त्र लक्षण नामक छब्बीसवें अध्याय में महासुदर्शन यन्त्र के संस्थान एवं लक्षण को यन्त्रनिर्माण, लेखनसाधनद्रव्यों एवं स्वरूप सहित विस्तार से विवेचित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रसङ्गतः यथोचित स्थलों पर केशवादिमूर्तियों के विन्यास का संकेत करके केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ एवं दामोदर के स्वरूप को पृथक्-पृथक् निरूपित करते हुए महासुदर्शन लेखन को समष्टि प्रदान की गयी है। इसी प्रकार महासुदर्शन लेखन को समष्टि प्रदान की गयी है। तदनन्तर धारकयन्त्रनिरूपण नामक सत्ताइसवें अध्याय में शरीर के ऊपर धारण किये जाने योग्य यन्त्र के निरूपण के उद्देश्य से महेन्द्रमण्डल निर्माण की विस्तृत विवेचना करते हुए इस यन्त्र के विशेष विजयकादित्व, धारणाधिकार, अर्चनविधि तथा अर्चन-फल को सम्यग् रूपेण प्रवाचित किया गया है।

अहिर्बुध्न्य-संहिता के अट्ठाइसवें एवं उन्तीसवें अध्याय में भगवदाराधन-विधियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अट्ठाइसवें अध्याय में आयुरारोग्यविजयभू-धन-धान्य प्रदायिनी भगवदाराधना के ऐहिक एवं आमुष्मिक फल-साधनत्व का निरूपण करके स्नानविधि के पश्चात् मण्डप एवं वेदिका-निर्माण का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद इस अध्याय में भूत-शुद्धि-पात्रादिस्थापन एवं अर्घ्यादि-द्रव्यों का उल्लेख करके मन्त्रासन, स्नानासन अलङ्कारासन एवं भोज्यासन के विधान के पश्चात् हविर्निवेदनपूर्वक पुनः मन्त्रासन फिर पर्यङ्कासन एवं दास्य प्रार्थना का निरूपण है। अन्त में प्रस्तुत आराधना के मोक्षरूप मुख्यफल साधनत्व तथा अन्य आनुषङ्गिक फल साधनत्व का निरूपण करके परिवार-देवताओं की

षोडशोपचार अर्चना करने का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार उन्तीसवें अध्याय में विविध कामनाओं एवं अभीष्टों की पूर्ति-हेतु विशेष काम्य आराधनाओं को विवेचित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में राजा की चतुर्दिक्, उर्ध्वलोक एवं नागलोक की विजय-हेतु कर्तव्य आराधना-क्रम को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करके उपर्युक्त समस्तानुष्ठानों में विहित होमादि सामान्य पूजाविधानों को वर्णित किया गया है।

अस्त्रों के जन्म एवं नामादि का वर्णन करने के उद्देश्य से प्रोक्त तीसवें अध्याय में पुरुषाधिष्ठित प्रधान सृष्टि से लेकर क्रमशः महत्, अहंकार, एकादशेन्द्रिय, भूतसूक्ष्मों, भूतों एवं सप्तावरणावेष्टिताण्ड-पर्यन्त प्राकृत सृष्टि का निरूपण करते हुए अण्ड में चतुर्मुखब्रह्मा की सृष्टि का कथन किया गया है। इसके बाद ब्रह्मा के व्याज से ही विचित्र जगत् की सृष्टि, भगवान् की जगत्पालकता एवं दुष्टनिरसन बिना जगत्-पालन की अशक्यता का निरूपण करके स्पष्ट रूप से बताया गया है कि दुष्टनिर्वहणार्थ विष्णु ही चक्र रूप में अवस्थित होकर जगद् रक्षा का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। इसके बाद भगवदात्मक सुदर्शन से अस्त्रों की उत्पत्ति का कथन करके उसके विविधाङ्गों से उद्भूत अस्त्रों का पृथक्-पृथक् नाम-निर्देश किया गया है। इस प्रकार अस्त्रों के जन्म एवं नाम-निर्देश की व्यापक व्यवस्था संहिता के तीसवें अध्याय का अलङ्करण है। इस अध्याय में सुदर्शन के मुख, वक्ष, उरु एवं अपराङ्गों से उत्पन्न होने वाले अस्त्रों का नाम सङ्कीर्तन भी किया गया है।

योगाङ्ग यम-नियम-आसन निरूपण नामक एकतीसवें अध्याय में सर्वप्रथम हृद्याग के लक्षण एवं उसके आत्मसमर्पणतुल्यत्व का निरूपण करके शुद्धात्मस्वरूप तथा प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप धर्मद्वयों को विवेचित किया गया है। इसके पश्चात् आत्मा एवं परमात्मा के ऐक्य रूप योग के अष्टांगों का उल्लेख करके यम, नियम एवं आसन रूप योगांग-त्रय को भेदोपभेदों सहित पृथक्-पृथक् स्वरूपित किया गया है। इसी प्रकार सत्य, दया, धृति आदि दश यमों, सिद्धान्त श्रवण, दानादि दश नियमों तथा चक्र-पद्म कूर्मादि द्वादश आसनों का सम्यग् वर्णन करके प्राणायाम की सिद्धि में नाडी-शुद्धि की आवश्यक्ता के निर्देश के साथ प्रस्तुत अध्याय सम्पन्न हो जाता है।

शेष पाँच योगाङ्गों के निरूपण के उद्देश्य से प्रोक्त बत्तीसवें अध्याय में प्राणायम सञ्ज्ञक योगाङ्ग की पृष्ठभूमि निर्मित करते हुए सर्वप्रथम शरीर के मध्य भाग-वह्निममण्डल आदि को विवक्षित करके नाडी के मूलस्थान नाभिचक्रादि सहित विविध नाडियों के स्थानादि का निर्देश किया गया है। इसके बाद मुख्य चौदह नाडियों के नाम बताकर देहवर्ति नाडियों की संख्या, प्रमुख तीन एवं सर्वप्रमुख एक

नाडी के विश्लेषण सहित जीव के नाडी चक्र में भ्रमण के रहस्य को प्रतिपादित किया गया है। एतदनन्तर नाडियों के परिमाण निरूपण करके इडा एवं पिङ्गला में चन्द्र एवं सूर्य की अवस्थिति के साथ नाडी भेदादि के निरूपण के पश्चात् शरीरस्थ वायु के भेदों एवं स्थानों का निरूपण करते हुए प्राणादि वायुओं की वृत्ति तथा नाडी-शोधन की विधि को प्रपञ्चित किया गया है। नाडी-शोधन विधि के पश्चात् प्राणायमविधि एवं प्राणायाम-प्रकार का निरूपण करके प्रत्याहार, धारण, ध्यान एवं समाधि सञ्ज्ञक योगाङ्गों को अपेक्षित विवेचनों के साथ प्रस्तुत किया गया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता के तैतीसवें अध्याय में सुदर्शन की विशिष्ट महिमा का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम समस्त जङ्गमस्थावर जगत् की सुदर्शन-चक्रमयता तथा सुदर्शन की कालचक्रवशवर्तिता का निरूपण किया गया है। परमात्मा के प्रेरकत्व के साथ जगच्चक्र एवं नाभिचक्र का निरूपण करके परमात्मा के सर्वप्रेरकत्व एवं जगत्सर्गस्थितिसंहारहेतुत्व का विवेचन किया गया है। इसी परमात्मा के ब्रह्मा, स्वांशरूप विष्णु, शिव अर्थात् रुद्र, दिगम्बर, जिन, यज्ञपुरुष, सांख्याभिमत पुरुष आदि का निरूपण करके सर्वरूपत्ववश उसी की सर्वफलप्रदायकता का निर्देश करने के पश्चात् दुर्धर्ष के पुत्र राजर्षि मणिशेखर के ऐतिहासिक उपाख्यान को वर्णित किया गया है।

ब्रह्मास्त्रादि-मन्त्रस्वरूप-निरूपण नामक चौबीसवें अध्याय में ब्रह्मास्त्र सहित अन्य 60 अस्त्रों के पृथक्-पृथक् निरूपण-पूर्वक उनके मन्त्रों एवं स्वरूपों को विवेचित किया गया है। इसी प्रकार संहारास्त्रस्वरूपनिरूपण नामक पैंतीसवें अध्याय में सत्यवाद-सत्कीर्ति वारुणास्त्रादि 53 संहारास्त्रों का स्वरूप निरूपित करते हुए अस्त्रों के मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व का प्रतिपादन किया गया है।

राजा के द्वारा सुदर्शन यन्त्र के आराधन-विधान तथा केशवादि के गुण एवं प्रधान भाव के व्यवस्थानरूप मुख्योद्देश्य से प्रोक्त छत्तीसवें अध्याय में राजा द्वारा सुदर्शन की विशेषाराधना किये जाने का सङ्केत करके सुदर्शन यन्त्र के मध्य में विष्णु की आराधना का निर्देश किया गया है। सुदर्शन के परितः स्थित केशवादि द्वादशमूर्तियों के ध्यान के पश्चात् विष्णु आदि सोलहमूर्तियों का ध्यान निर्देश करके मूर्तिमत्संहारास्त्र तथा मूर्तिमत्प्रवर्तकास्त्र एवं नारसिंह के ध्यान का विधान प्रस्तुत किया गया है। अपराङ्ग एवं अपराङ्ग में समस्तास्त्रों के मन्त्रध्यानों के पश्चात् सुदर्शन-यन्त्राराधन के फल-विशेष का प्रवचन करते हुए केशवादि शेष भूत देवों की सुदर्शन-परिवारता एवं गुण प्रधान भावों का निरूपण किया गया है। अन्त में प्रस्तुत रहस्य के श्रवणमात्र से ही परम पद की प्राप्ति का सङ्केत हैं।

न्यासापरपर्यायप्रपत्तिनिरूपण नामक सैंतीसवें अध्याय में सुदर्शन के षोडशभुजत्व का व्याख्यान करके प्रपत्तिपर्यायरूप न्यास के स्वरूप अङ्गों एवं न्यासलक्षण का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद प्रपन्न के कृतकृत्यत्व का निरूपण करते हुए प्रपत्ति के यज्ञरूपत्व एवं प्रपन्न-महिमा का विशेलषण प्रस्तुत अध्याय का अलङ्करण है।

रोगनिवृत्त्युपायविधानात्मक अट्ठाइसवें अध्याय में ज्वर, क्षयरोग, चर्मरोग, प्रमेहरोग, उदररोग एवं अपस्मार आदि विविध रोगों के उपशमन विधानों को प्रस्तुत करते हुए सुदर्शनचक्र-पूजा के द्वारा इन रोगों की निवृत्ति का प्रवचन किया गया हैं

एकोनचत्वारिंशत् अध्याय में महाभिषेक के सर्वाभीष्ट-साधकत्व का निरूपण करते हुए सर्वफलसाधनभूतमहाभिषेक सञ्ज्ञक कर्म विधि को साङ्गोपाङ्ग विश्लेषित किया गया है।

विविध अस्त्रादि के स्वरूप एवं अस्त्रों की शक्ति के प्रवचन के उद्देश्य के प्रोक्त चालीसवें अध्याय में अस्त्रों के स्वरूप का रहस्योद्घाटन करते हुए नारायण, पाशुपत, ब्राह्म, धृतिका आदि एक सौ दो दिव्यास्त्रों की शृङ्खला को स्वरूप एवं शक्ति-निर्देश पूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

एकतालिसवें अध्याय में उपर्युक्त अस्त्रों के प्रयोग-प्रदर्शन के उद्देश्य से प्रलयावसान में सृष्टिक्रम, मधुकैटभ द्वारा वेद-हरण एवं वेदापहारोत्पन्न ब्रह्मा का विषाद वर्णित करके चतुर्मुख ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न विष्णु द्वारा किये गये मधु-कैटभ के संहार की कथा का वर्णन है।

निवर्तकास्त्रों के प्रयोगावसर वर्णन के साथ काशीराज श्रुतकीर्ति के उपाख्यान के उद्देश्य से प्रोक्त बयालिसवें अध्याय में मन्त्रान्तरों सहित सुदर्शन मन्त्र की उत्पत्ति का कथन करके उदाहरणस्वरूप श्रुतिकीर्त्युपाख्यान का वैभव है।

इसी प्रकार तैंतालीसवें अध्याय में जलंधरवधोपाय-चिन्तन प्रसङ्ग में भगवान् शंकर द्वारा सुदर्शन के साक्षात्कार किये जाने का वर्णन करके वायु के द्वारा निवेदित इन्द्र की प्रेरणा से बृहस्पति के शंकर की शरण में जाने का उल्लेख है। जलंधर-वध के उद्देश्य से बृहस्पति द्वारा की गयी शंकर की स्तुति के साथ ही प्रस्तुत अध्याय समष्टि को प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त क्रम में ही चौवालिसवें अध्याय में प्रसन्न शंकर से बृहस्पति द्वारा सुदर्शनमन्त्र लाभ का सङ्केत करके सुदर्शन का साक्षात्कार वर्णित करते हुए सुदर्शन के स्वरूप का प्रदर्शन किया गया है।

सुदर्शन के प्रभाव से प्रारब्ध कर्मों के नश्यत्व अथवा सुदर्शन के प्रारब्धकर्मनाशोपायत्व का वर्णन करने के उद्देश्य से पैंतालीसवें अध्याय में ऐतिहासिक कुशध्वजोपाख्यान का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है।

सुदर्शन होमविधि के अपेक्षित अङ्गों के विश्लेषण से मण्डित छियालसवें अध्याय में सुदर्शन-होम-अनुष्ठान में प्रयोज्य विविध द्रव्यों, कुण्डादि के परिमाणों एवं अन्य उपकरणादि सामग्रियों को बताते हुए होम-विधि को उपसंहार प्रदान किया गया है। पुरोहित-लक्षण, ऋत्विक् संख्या के आनुषङ्गिक निरूपण के साथ होम के अन्त में विहित गुर्वादिप्रीणन, दक्षिणादान एवं ब्राह्मणतर्पण का यथोचित विधान प्रस्तुत किया गया है।

महाशान्तिविधान नामक सैंतालिसवें अध्याय में मण्डप-निर्माण-कुण्डविधान एवं कुम्भस्थापनादि सहित नारायणीय आदि अस्त्रवर्णों में चरु, दधि, पय, शालि, तण्डुलादिविधियों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। अन्त में नारायणीयादि तर्पण तथा कालचक्र मदनादि वर्गों में मन्त्रविशेष विधि के निरूपण-पूर्वक महाशान्ति विधान फलसङ्कीर्तन करके अध्याय को इतिश्री प्रदान की गयी है।

सुदर्शनमहायन्त्र के प्रभाव-निरूपण के उद्देश्य से प्रोक्त अड़तालीसवें अध्याय में सर्वप्रथम सुदर्शनयन्त्रघटित-आसन पर आसीन होने से तारापीड के नष्टप्राय राज्य की पुनः प्राप्ति रूप आख्यान का विशद वर्णन है। इसके बाद सुदर्शनयन्त्रघटित-दर्पण के प्रभाव से सुनन्द के राज्य के प्रति प्रत्यागमन रूप सुदर्शनमहायन्त्र प्रभाव के दृष्टान्तों का प्रतिरूपण है।

सुदर्शनमहायन्त्रघटितावयवों के अनुक्रम में ही संहिता के उन्चासवें अध्याय में सुदर्शनयन्त्रघटित ध्वज-प्रयोग से राजा चित्रशेखर के समर जय लाभ का विस्तृत दृष्टान्त प्रस्तुत करके सुदर्शनमहायन्त्रघटित ध्वज के प्रभाव का निरूपण किया गया है।

सुदर्शनयन्त्रघटित वितान-प्रयोग से अजय्यत्व का वर्णन करने के उद्देश्य से संहिता के पचासवें अध्याय में सम्राट कीर्तिमाली से सम्बद्ध प्रसिद्ध का विशद वर्णन किया गया है।

वस्तुतः अहिर्बुध्न्यसंहिता के 51 से 59वें अध्यायों में पृथक्-पृथक् विविध मन्त्रों के वर्णों का पृथक्-पृथक् विश्लेषणा करते हुए मन्त्रार्थों की विशद व्याख्या की गयी है। अध्यायक्रम में विवेच्य मन्त्रों का वर्णन इस प्रकार है-

तारादिबीजाक्षरों की महिमा का प्रवचन करने के उद्देश्य से इक्यानवें अध्याय में तार एवं अनुतार मन्त्रों के बीजाक्षरों के सूक्ष्म, स्थूल एवं पर तीनों स्वरूपों के लक्षण एवं अर्थ को पृथक्-पृथक् निरूपित करके समग्रित रूपेण सर्वार्थसंक्षेप को प्रस्तुत किया गया है।

विष्णु-नारायण एवं वासुदेव मन्त्रों के अर्थ-वर्णन से युक्त बावनवें अध्याय में सर्वप्रथम नमः शब्द के सम्पूर्णावयवार्थ को बताकर आत्मनिक्षेप कार्पण्यादि के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसके बाद विष्णुमन्त्र के स्थूलार्थ, विष्णु शब्दार्थ तथा विष्णुमन्त्र के परार्थ का निरूपण करके नारायणमन्त्र के सूक्ष्मार्थ एवं परार्थ निरूपण के साथ पूर्ववत् नारायण शब्दार्थ का प्रवचन किया गया है। इसी प्रकार अध्याय के उत्तरांश में वासुदेव शब्दार्थ के निरूपणसहित द्वादशाक्षरमन्त्र के अर्थ का वर्ण-वर्णानुक्रम में विश्लेषण किया गया है।

जितान्ताख्य महामन्त्र के अर्थ का उद्घाटन करने वाले तिरपनवें अध्याय में प्रस्तुत महामन्त्र के जितम्, पुण्डरीकाक्ष, विश्वभावन, हृषीकेश, महापुरुष, पूर्वज आदि शब्दों के वर्णों का एकैकशः विश्लेषण एवं अर्थ प्रवचन करते हुए यथावश्यक स्थूल, सूक्ष्म-परार्थ-निरूपण पूर्वक महामन्त्रार्थ की विशद व्याख्या की गयी है।

संहिता के चौवनवें अध्याय से लेकर छप्पनवें अध्याय पर्यन्त तीन अध्यायों में नारसिंहानुष्टभ् मन्त्र की ऐहिकामुष्मिक नानाविध-फलसाधनता तथा सांख्य-योग-पाञ्चरात्र-वेदान्त एवं पाशुपत आदि के प्रस्तुतमन्त्रोपजीव्यत्व एवं महिमा का सारगर्भित शब्दों में प्रवचन करके समस्त अपेक्षित पक्षों सहित नारसिंहानुष्टुभ् मन्त्रार्थ का उपर्युक्त शैली में ही विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ज्योतिश्चक्रमन्त्रार्थनिरूपण नामक सत्तावनवें अध्याय में सर्वप्रथम तत् सवितुर्वरेण्यम् आदि गायत्रीमन्त्र के समस्त पदों का विश्लेषण करके संक्षेप में गायत्री-महिमा वर्णित है। इसके बाद तीनों व्याहृतियों का स्वरूप बताकर उनका अर्थ बताते हुए गायत्रीमन्त्र में रहस्यभूत ब्रह्मशिर इत्यादि अस्त्रों का साङ्केतिक प्रदर्शन किया गया है। गायत्रीमन्त्रार्थ के साथ ही इसमें जातवेदसेति त्रिष्टुभ् एवं त्र्यम्बकमेति अनुष्टुभ् मन्त्रद्वयों के पदार्थों सहित मन्त्रों में निगूढ अस्त्रों का संक्षेप में स्वरूप वर्णन भी किया गया है।

पञ्चहोतृमन्त्रार्थ-निरूपण के उद्देश्य से प्रोक्त अट्ठ्वानवे अध्याय में पहले पञ्चविध होताओं का नामनिर्देश करके दशहोत्रादि पदों के द्वारा विकसित मन्त्र विशेषों

को सूचित किया गया है। तदनन्तर दशहोतृ, चतुर्होतृ, पञ्चहोतृ, षड्होतृ, एवं सप्तहोतृ मन्त्रों के अर्थ को पृथक्-पृथक् व्याख्यायित किया गया है।

कतिपय वैदिक सूक्तों एवं अन्य मन्त्रों के यथोक्तार्थ वर्णन से युक्त प्रस्तुत उपान्तिम अध्याय में पुरुष सूक्त की ऋक्संख्याओं के मतभेद सम्बन्धी श्लोकों के बाद आदि चार ऋचाओं के वासुदेवादि चातुरात्म्यस्वरूप विवेचन का निरूपण करके कतिपय पद-वैशिष्ट्यों के रहस्यार्थों का निरूपण किया गया है। चार मन्त्रों के पृथक्-पृथक् व्यूहपरतत्त्व का प्रतिपादन करके मन्त्रगत पुरुष शब्द के अनिरुद्ध-परतत्त्वोपपादन का विवेचन किया गया है। शेष चौदह मन्त्रों के अर्थ की लोक से ज्ञेयता का सङ्केत करके श्रीसूक्त के अर्थ का अत्यन्त संक्षेप में प्रवचन किया गया है। बाद में वराहमन्त्र के स्थूल, सूक्ष्म एवं पर अर्थों को समासेन प्रवाचित करके शास्त्रार्थसंक्षेप के साथ प्रस्तुत संहिता के उपदेश-हेतु योग्य अधिकारी का परिगणन करते हुए शास्त्रसमापन की पृष्ठ-भूमि निर्मित की गयी है।

अहिर्बुध्न्य संहिता के अन्तिम अध्याय में विष्णु, लक्ष्मी एवं सुदर्शन की गरिमा का निर्देश करके संहिता के अधिकारी एवं अनधिकारी के वर्णन के साथ संहिता की महिमा का सङ्कीर्तन किया गया है।

संहिता की समाप्ति की घोषणा के पश्चात् संहिता के परिशिष्ट रूप में सुदर्शन सहस्रनाम स्तोत्र के फलश्रुति सहित 119 श्लोक भी प्राप्त होते हैं जिनमें अकारादि क्रम में सुदर्शन के एक हजार नामों का पाठ करके फल श्रुति का निरूपण किया गया है।

नारदपञ्चरात्र-'भारद्वाजसंहिता'

सन् 1894 में मैसूर से तेलगू लिपि में सर्वप्रथम प्रकाशित प्रस्तुत संहिता के एकाधिक संस्करण देवनागरी लिपि में क्रमशः बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता से वर्ष 1905, 1912 तथा 1922 में प्रकाशित हो चुके हैं। सम्प्रति प्रो. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री द्वारा हिन्दी व्याख्या-सहित सम्पादित संस्करण को दृष्टि में रखकर वर्णन प्रस्तुत है-

नारद-पञ्चरात्र भारद्वाजसंहिता में चार मुख्य तथा चार परिशिष्टाध्याय हैं। मुख्याऽध्यायों में द्वितीय अध्याय विच्छिन्नप्राय होकर विषयसंकल्परूप मात्र एक श्लोकात्मक ही है जबकि शेष तीन अध्याय पृथक्-पृथक् श्लोकशतकान्वित हैं। इसी प्रकार परिशिष्टाऽध्यायों में अन्तिम अध्याय में युग्मश्लोक-न्यूनता के

साथ प्रत्येक अध्याय शतश्लोकों से युक्त है। प्रस्तुत संहिता रामानुज से भी परवर्ती रचना होने के कारण सर्वथा मुनिभाषित है। इसमें श्रीवैष्णव भक्तों के आचारों सहित प्रपत्ति को स्वरूप एवं भेदों सहित प्रधानतः विवेचित करने का उपक्रम किया गया है।

मुख्यांश

नारदपञ्चरात्र भारद्वाज संहिता के मुख्याध्यायों के अन्त में 'न्यासोपदेशो नाम अमुकोऽध्यायः' के रूप में जो प्रस्तुतीकरण है उससे स्पष्ट है कि इस संहिता के अध्याय या तो अभिधानरहित हैं या फिर उन सबके नाम न्यासोपदेश ही हैं। 'न्यास' प्रपत्तिरूप अनुष्ठित उत्तम योग है और यही इस संहिता का मुख्य प्रतिपाद्य है। अध्याय-क्रम में संहिता की विषयवस्तु इस प्रकार है-

परमनिःश्रेयसाप्ति के उपाय के विषय में व्यक्त की गयी ऋषियों की जिज्ञासा को सुनकर महातपोनिधि भारद्वाज ने न्यास नामक उत्तम योग तथा उससे प्राप्त होने वाली फल रूप सिद्धियों के प्रवचन का उपक्रम प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम न्यास शब्द को व्युत्पत्ति-पूर्वक परिभाषित किया है। प्रपत्तिरूप न्यास की विवेचनान्तर भगवत्प्रपत्तिरूप 'न्यास' के माहात्म्य का वर्णन करते हुए प्रपत्ति के स्वरूप एवं कायिक, वाचिक एवं मानस भेदों के गुणत्रयाधारित तामसी, राजसी एवं सात्त्विकी त्रिविधता को व्याख्यायित किया गया है। इसके बाद प्रपत्ति के गुणानुगत प्रभेद महत्ता एवं फल का विवेचन करके न्यास-दीक्षा प्रदाता आचार्य एवं उनका लक्षणादि विषयक विवरण अर्थात् आचार्यपदपात्रत्व को निरूपित किया गया है। एतदनन्तर शिष्य या साधक को प्रदेय मन्त्र तथा उनके कर्मादि की मीमांसा करते हुए प्रपत्ति के स्वरूप को निष्कर्ष प्रदान किया गया है। उपर्युक्त ढंग से प्रपत्ति-विवेचनान्तर उपासक या भक्त की वृत्ति के स्वरूप-सम्बन्ध एवं प्रभेदों को बताते हुए वृत्तिकाल के मध्य आने वाले दोष तथा दुरितादि के अपसारण-पूर्वक दीक्षा प्राप्त मन्त्र के अर्थादि चिन्तन एवं बार-बार आवृत्ति के निर्देश के साथ प्रथम-अध्याय सम्पन्न हो जाता है।

अपने आराध्य इष्ट देव की अनुकूलता के लिए मुख्यरूप या स्थिति निर्धारित करने वाले प्रपत्ति के अङ्गों, उसके धर्मों तथा उसके विरुद्ध धर्मों के निरूपण के लिए प्रोक्त द्वितीय अध्याय सर्वथा अप्राप्त हैं इसकी प्रपत्ति-धर्मादिनिरूपकता प्रस्तुत अध्याय में उपलब्ध एकमात्र श्लोक से अनुगत है-

अथानुकूल्यमुख्यानि प्रपत्त्यङ्गानि विस्तरात्।
धर्माणां तद्विरुद्धानां स्वरूपञ्च निबोधत।।

स्मिथ द्वारा व्यक्त अंशों के आधार पर इस अध्याय में भी 200 श्लोक थे। तथा इन्हीं के मत में भाष्य के अनुसार इसमें ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र तथा याग रूप पञ्चसंस्कारों को सर्वांगतः निरूपित किया गया है।

प्रपन्न व्यक्ति के जीवनाचरण के सम्यक् निरूपण के उद्देश्य से प्रस्तुत तृतीय अध्याय में सर्वप्रथम दीक्षित साधक को इष्टाराधन कर्म तथा सत्सेवन का निर्देश करते हुए वर्णानुक्रम में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के पृथक्-पृथक् आचारों को विवेचित किया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी सहित सर्वाचरणीय सामान्य निर्देशों को प्रस्तुत करके एकान्ती साधक द्वारा सांग वेदादि के स्वाध्याय तथा आराधानादि की व्यापक व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है। दृष्ट्यधिकार में उपर्युक्त वर्णनानन्तर भक्त्यधिकार में भक्ति के क्रम में होने वाली आराधानादि विधियों को निरूपित किया गया है। एतदनन्तर सत्सेवनाधिकार में दीक्षाक्रमान्तर्गत शिष्य के चक्राद्यङ्कन संस्कारों, उसके आचारों एवं प्रयोजनों का वर्णन प्रस्तुत करते हुए गुरु के सत्सेवन को विधानपूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ईश्वर की अप्रीति रूप निषिद्ध धर्मों के परित्याग का निर्देश करके सर्वप्रथम विहित-आचारों से विरुद्ध कर्मों के आचरण-वर्णन का निर्देश करते हुए विहिताचार एवं विरुद्ध वर्जनाधिकार को समष्टि प्रदान की गयी है। इसके बाद दृष्टि विरुद्धाधिकार, भक्तिविरुद्धाधिकार, लक्ष्मविरुद्धाधिकार सत्वेसाविरुद्धाधिकार में क्रमशः दृष्टि, भक्ति, लक्ष्य तथा सत्सेवा की विरुद्धताओं का एकैकशः वर्णन करके उनके निषेधपूर्वक उन समस्त तथ्यों को विवेचित किया गया है जिनसे ईश्वर अप्रसन्न हो सकता है। इस प्रकार विविध वर्जित आचारों के प्रवचन के पश्चात् न्यासयोग से प्रपन्न साधक की वैकुण्ठाप्ति सहित न्यासयोग के माहात्म्य-वर्णन के साथ भारद्वाजसंहिता का प्रधानांश सम्पूर्ण हो जाता है।

परिशिष्टांश

न्यासोपदेश को और अधिक स्पष्ट करने के साथ विविध अनुक्त तत्त्वों के कथन के उद्देश्य से प्रोक्त परिशिष्ट रूप प्रथम अध्याय में शेष धर्मों का कथन करते हुए सन्त की परिभाषा के साथ विष्णु को भागवत धर्म के नियोजक तथा श्रुति को विष्णु की आज्ञारूप बताकर श्रुति के अधिकारी का निर्णय किया गया है। एकान्ती

साधक के स्वरूप तथा शुद्धादि प्रभेदों के साथ आराध्य श्री हरि की उपासना तथा उसके फल को निर्दिष्ट करके एकान्ती के सात्त्विकादि गुणात्मक प्रभेदों को उनके लक्षणपूर्वक विवेचित किया गया है। इसके बाद एकान्ती के लिए विहित तथा निषिद्ध क्रमाचारों के स्पष्ट प्रवचन के बाद एकान्ती के चक्राद्यङ्क-धारण आदि के निर्देशपूर्वक चक्राद्यङ्कन-संस्कार के विधान को प्रस्तुत करके एकान्ती के कतिपय विरुद्धाचारों, परिवर्जनादि कर्मों के साथ न्यासयोग की महत्ता प्रकाशित की गयी है।

पञ्च संस्कारों के विस्तृत विवेचन के उपक्रम में साधक को प्रदेय तापादि पाँच संस्कारों को क्रमशः विधिपूर्वक निरूपित करके उनका विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कारों के विहित मुहूर्तादि के विकल्पों के बाद भागवतजनों की विहित आचारात्मक वृत्तिसर्वस्व को श्री नारायण की सेवारूप बताया गया है। अध्याय के उत्तरार्द्ध में साधक की उपासना के मध्य आने वाले प्रत्यवायादि के हंतु परमनामक व्यूही, मूर्ति, वैभव, आनन्ती, गारुडी, वैष्णवक्सैनी एवं सुदर्शनी आदि परमशान्ति के कर्मविधानों को विस्तृतरूपेण निरूपित किया गया है। अध्याय के अन्त में श्री हरि को कलुषित करने वाले प्रतिषिद्ध कर्मों का उल्लेख करके उनके निषेधपूर्वक अपायराहित्योपासना से श्री नारायण के परमपद की प्राप्ति रूप फल का सङ्केत है।

सनातन भूत सन्तों की वृत्ति तथा असन्तों के लक्षणों का उपक्रम प्रस्तुत करते हुए तृतीय परिशिष्याऽध्याय में एकान्ती साधक के विहित धर्मादिन्यास योग तथा उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। इसके बाद परमैकान्ती वैष्णव की अपने गुरु के विषय में रखी जाने वाली (विहित) वृत्ति सत्सेवन तथा अर्चादि कर्मों को विवेचित करके न्यासोपदेष्टा गुरु के कर्तव्यों तथा उससे उपदेश ग्रहणादि का विधान प्रस्तुत किया गया है। अध्याय का अन्तिम चतुर्थांश कतिपय नास्तिकों एवं कुदृष्टियों के व्याख्यान तथा कुदृष्टिपरक जनों के संवास त्याग के सदुपदेशों से मण्डित है। प्रस्तुत अध्याय में कुदृष्टिजनों में धूत, अवधूत, निर्द्धूत, विधूत तथा उद्धूत, राक्षस, असुर, वेताल, व्याल, आन, हीन, स्रस्त, नष्ट, दग्ध, भिन्न, अन्यफल, निन्द्य, भग्न एवं अनज्ञ प्रच्युत आदि उल्लेखनीय हैं।

आत्मनिक्षेप के बाद अनुष्ठेय वृत्ति या आचार के विस्तृत तात्त्विक रूप की व्याख्या के उद्देश्य से प्रोक्त चतुर्थ अध्याय में भगवदाराधनरूप वृत्ति को मूलरूप में विविध नदी वृक्षादि रूपकों के माध्यम से विस्तारपूर्वक विवेचित किया गया है। इसके बाद ऐहिक तथा पारलौकिक दुःखयातनाओं के विचार तथा सुख-दुःखादि सांसारिक विषयों की हेयता-प्रतिपादन रूप 'दृष्टि' को परिभाषित करते हुए इसे

वृत्तिभूत वृक्ष की जड़ के रूप में प्रतिष्ठित करके विपरीत दृष्टि को मूलविघातिका कुदृष्टि बताया गया है। वृत्ति रूप वृक्ष के मूलबन्ध तथा विहिताचार भगवदिज्या के क्रम में वेदादि शास्त्रविधि से विहित गर्भाधान संस्कार से लेकर संन्यासाश्रमपर्यन्त विविध संस्कारों को छह भागों में विभाजित करके निर्दिष्ट किया गया है। उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् प्रस्तुत अध्याय में भक्ति के स्वरूप तथा उसके कार्यों का एकैकशः वर्णन करते हुए मानों वृत्तिरूप वृक्ष की शाखाओं एवं टहनियों का विस्तार किया गया है। एतदनन्तर वृत्तिरूप वृक्ष के पुष्प के रूप में पंचलक्षण (चिह्न) तथा सत्सेवन को प्रस्तुत करके इसके स्वरूप एवं आचार को विवेचित किया गया है। अध्याय के अन्तिम चतुर्थांश में कतिपय विष्णु के तात्त्विक ज्ञानमय प्रकाश से रहित विरोधी शास्त्रों एवं असदाचारों का उल्लेख करके उनके परित्याग का निर्देश करते हुए वृत्ति के सेवनीय पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार वृत्ति के रहस्य एवं मोक्षरूप फल के उपसंहार के साथ ही नारदपञ्चरात्र 'भारद्वाज' संहिता अपने परम लक्ष्योद्घोषपूर्वक सम्पूर्ण हो जाती है।

नारदीय-संहिता

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा वर्ष 1971 में देवनागरी लिपि में प्रकाशित तथा श्री राघव प्रसाद चौधरी द्वारा सम्पादित नारदीय संहिता पाञ्चरात्र शास्त्र की एक ऐसी संहिता है जो क्रमशः वासुदेव-नारद-गौतम-भृगु-अत्रि की प्रवचन परम्पराओं से अनुगत हुई है। वासुदेव से सर्वप्रथम नारद के द्वारा ग्रहण किये जाने तथा नारद के ही द्वारा इसको प्रवर्तित किये जाने के कारण अन्वर्थसञ्ज्ञानुरूप इसका 'नारदीय संहिता' अभिधान सर्वथा उपयुक्त है। त्रिसहस्राधिक श्लोकों से मण्डित प्रस्तुत संहिता को तीस अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रस्तुत संहिता में कठोर तपस्या के पश्चात् भृगु-आश्रम से आये हुए विष्णु-प्रेरित अत्रि की भगवज्ज्ञानविषयक जिज्ञासा को प्रशान्त करने-हेतु भृगु ने अत्रि को वही उपदेश दिया है जो नारद ने साक्षात् वासुदेव से प्राप्त करके गौतम को दिया था। पाञ्चरात्र-शास्त्र के समस्त पक्षों को गागर में सागर की भाँति निवेशित करने वाली मध्यमकाय नारदीयसंहिता में प्रतिपादित विषयों को अध्यायक्रमानुसार अधोलिखितरूपेण हृदयङ्गम किया जा सकता है।

नारदीय संहिता के प्रस्तावनाध्याय के रूप में प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम उपर्युक्त अत्रि के भृग्वाश्रमागमन एवं आगमन-हेतु-निरूपण के साथ पाञ्चरात्रशास्त्र के उपदेश-क्रम, सामान्यस्वरूप एवं अधिकारी का निर्देश किया गया है। इसके

पश्चात् शुद्ध एवं शुद्धेतर सृष्टि एवं उसके संहार रूप में वासुदेव का क्रीडा-रूपत्व तथा पाञ्चरात्रशास्त्र के माया-अपसारणत्व को उपदिष्ट किया गया है।

नारदीयसंहिता के आराधनाविधान नामक द्वितीय अध्याय में ईश्वर के आराधन-विधि-निरूपण क्रम में अर्चक के नित्य-कृत्यों मिश्रार्चन-स्वरूप, नित्यार्चनाङ्गरूप-बलिदानादि तथा पूजाकालसंख्या निर्देशपूर्वक न्यासादिकालसंख्या का निर्देश करके पञ्च-षट्-द्वादशकाल स्वरूप-अर्चनद्रव्य-विनियोग एवं देवोद्वासन को प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत संहिता के चतुर्मूर्तिलक्षण-विधान नामक तृतीय अध्याय में वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध-रूप मूर्तिचतुष्टय के विविध मन्त्रों और अङ्गमन्त्रों के स्वरूप एवं साधन-प्रकार तथा फल को पृथक्-पृथक् निरूपित करके विशिष्ट वासुदेव मन्त्र की विस्तार से चर्चा की गयी है।

द्वादशमूर्तिलक्षणविधान नामक चतुर्थ अध्याय में कुल 97 श्लोकों के माध्यम से विष्णु-मधुसूदन-त्रिविक्रम-वामन-श्रीधरादि बारह मासाधिपों के मन्त्रों के स्वरूप, साधनप्रकार एवं फल को निरूपित करके द्वादशमासाधिपाङ्ग-मन्त्रों को जपादि-संख्या सहित प्रस्तुत किया गया है।

अर्द्धाधिक सौ श्लोकों से युक्त मत्स्यादिमूर्तिमन्त्र-लक्षण नामक पञ्चम अध्याय में विष्णु के अन्य अवतार मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, त्रिविक्रम, जामदग्न्य, दाशरथि राम, वासुदेव, बुद्ध एवं कल्कि स्वरूपों के मन्त्रों को फलनिर्देश-पूर्वक प्रस्तुत करके बीज-निर्देश-पूर्वक पञ्चोपनिषन्मन्त्रों, परिवारदेवता-मन्त्रों एवं विविध अन्याङ्ग मन्त्रों के स्वरूप एवं विधान को प्रस्तुत किया गया है।

इस संहिता के मुद्रा-लक्षण नामक छठे अध्याय में वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध सञ्ज्ञक मुद्राओं के लक्षण को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करके कुल 53 मुद्राओं के स्वरूप एवं विनियोगादि को विस्तार से विवेचित किया गया।

दीक्षाविधान नामक सातवें अध्याय में पहले दीक्षामाहात्म्य का प्रवचन करके दीक्षाविधिसम्पादनार्थ स्थल-संस्कार-शरीरशोधन एवं कुम्भपूजा प्रकार को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद दीक्षा के अङ्गभूत अग्निकार्य में अपेक्षित होमकुण्डों के विविध प्रकारों के स्वरूप एवं स्थापनस्थानपूर्वक निर्माण-प्रक्रिया को बताकर कुण्डाग्नि के संस्कार-विधान-चरुकल्पन, दीक्षार्थ नाम-चयन-प्रकार आदि अन्य प्रासङ्गिक विषयों को विस्तार से निरूपित किया गया है।

मण्डललक्षणविधान नामक आठवें अध्याय में दीक्षाविधि में अपरिहार्यरूपेण प्रयोज्य भद्रक एवं चक्राब्ज मण्डल के औचित्य, आलेखन-रञ्जनादि का सविस्तार निरूपण करके वर्ण-उपादान-द्रव्यादि निर्देशपूर्वक मण्डलार्चन में देवतास्थाननिर्देश, देवतार्चनमन्त्र एवं मण्डल विनियोगावसर-विवेक पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में पवित्रारोहरण एवं पुष्पयाग में मण्डलार्चन के क्रम का निर्देश करके अध्याय को इति प्रदान की गयी है।

नारदीय संहिता के दीर्घकाय दीक्षालक्षणविधान नामक नवें अध्याय में अभिषेकार्थ वरणीय आचार्य के लक्षण से प्रारम्भ करके अतिविस्तार से दीक्षाप्रयोग को प्रस्तुत किया गया है। तत्त्वादि-शोधन के क्रम में वर्णाध्वादि का निर्देश करके सप्ततलों के नामनिर्देशपूर्वक पाताल का सामान्य वर्णन, पृथ्वी की स्थिति एवं विस्तार अर्थात् विविध भूगोलशास्त्रीय वर्णन एवं ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड में स्थित लोकों के वर्णन अर्थात् विविध खगोलशास्त्रीय व्यापक विषयों को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद प्रकृति एवं पुरुष के स्वरूप तथा सम्बन्धादि का वर्णन एवं ब्रह्म के स्वरूप का कथन करके दीक्षा के मोक्षोपायत्व एवं दीक्षित व्यक्ति की जीवन- मुक्ति से स्पष्ट निर्देश पूर्वक यथावश्यक प्रायश्चित आत्मशुद्ध्यादि अनुष्ठानों का सङ्केत करते हुए दीक्षित शिष्य के अभिषेक-विधान एवं अभिषेकयुक्त व्यक्ति के महत्त्व के साथ अध्याय का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।

दीक्षा के अन्त में शिष्य के अभिषेक-विधान के निर्देश के पश्चात् अभिषेक विधान नामक दशम अध्याय में दीक्षा के अन्त में सम्पद्यमान अभिषेक विधि का निरूपण किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में वरण करने योग्य आचार्य के लक्षण, भद्रपीठस्थान, अभिषेकार्थ घटादि की न्यास-व्यवस्था, सात प्रकार के वैष्णवों के लक्षण एवं अभिषेक प्रकारों के वर्णन के साथ ही वैष्णवों के आचार एवं अभिषेक फलश्रुति को निरूपित किया गया है।

समयाचारविधिनामक ग्यारहवें अध्याय में दीक्षित व्यक्तियों के समयाचार एवं दैनन्दिन कृत्यों का निरूपण करते हुए उन समस्त वैष्णवकृत्यों का सविधि निरूपण किया गया है जिन्हें प्रातःकाल उठने से लेकर शयनपर्यन्त नैमित्तिक रूपेण सम्पन्न करना आवश्यक होता है।

नारदीय संहिता के हविर्विधान नामक बारहवें अध्याय में भगवान् को अर्पण करने योग्य हविष् अर्थात् विविध-पदार्थों के वर्णन-हेतु सर्वप्रथम हविःकल्पनार्थ ग्राह्यधान्यों, हवि के अनेक रूपों, परिमाणानुसार नवविध हवि के लक्षण एवं अग्नि

कार्यादि में हविद्रव्यादि का निर्देश किया गया है। इसके बाद हवि के पाक-प्रकार एवं विभाग-क्रम-सहित निवेदित हवि के विनियोगादि का वर्णन करते हुए स्वीक्रियमाण अन्न के निर्देश, विविधान्नकल्पन-प्रकार एवं हवि के लक्षणभेदादि-पूर्वक हविर्विधान को समष्टि प्रदान की गयी है।

प्रतिमालक्षण नामक तेरहवें अध्याय में भगवान् सहित विविध देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षणों की विस्तार से चर्चा की गयी है। प्रस्तुत उपक्रम में सर्वप्रथम उपादान-द्रव्य-भेद से प्रतिमा के पञ्चविधत्व, शिला-वर्ण-निर्देश, वारुण्यादि शिलालक्षण तथा शिला के मुखाद्यङ्गनिर्देशों के साथ शिला-लक्षण के उपक्रम को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद प्रतिमा के भेदमूलक स्वरूपों, विविध धातुओं के बिम्बविषयक विचारों एवं बिम्ब के अङ्गप्रत्यङ्गमान-निरूपण पूर्वक बिम्ब के स्वरूप एवं वासुदेवादि देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। इसी प्रकार चलादिमूर्तियों एवं यानगतमूर्ति के लक्षण-निर्देश पुरस्सर द्वादशमासाधिपों, दशावतार मूर्तियों, परिवारदेवमूर्तियों, दिक्पाल-द्वारपाल, गणेश, दुर्गा आदि की प्रतिमाओं के लक्षणों का सविस्तार विवेचन किया गया है। अन्त में स्थावर वेर-विषयक विचारों, कर्मार्चादि बिम्ब मानादि एवं ऋष्यादिस्थापित बिम्ब विषयक मतों को प्रस्तुत करके देवालयार्थ निषिद्ध स्थल के निर्देश के साथ तन्त्रसंकर के निषेध को विवेचित किया गया है।

प्रासादलक्षणविधि नामक चौदहवें अध्याय में मन्दिर-प्रासाद के निर्माणादि सम्बद्ध समस्त पक्षों को उद्घाटित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में मन्दिर-निर्माण-हेतु स्थल की परीक्षणविधि, भूमि के चतुर्विध-भेद, भूमिसंशोधन, वास्तुपद-कल्पनापूर्वक तत्रस्थ देवताओं के नाम, चुनी गयी भूमि पर क्रियमाण होमादि-विधि, इष्टकान्यास, गर्भन्यास, मन्दिर का चतुर्विधत्व, प्रासाद के प्राकारादि का स्वरूप, गर्भगृह विमानदेवतादि के स्थान, प्रासाद के अङ्गद्वारादि के लक्षण एवं द्वारदेवादि-सहित स्वतन्त्र परिवारों के विमानों का निरूपण किया गया है।

प्रतिमाप्रतिष्ठालक्षण नामक पन्द्रहवें अध्याय में मूर्तियों की प्रतिष्ठा-विधि के सम्यक् निरूपण को प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में मूर्तियों की प्रतिष्ठा के प्रशस्तकाल, मण्डपादिकल्पनप्रकार, प्रतिष्ठा के विविध भेद एवं उनके लक्षण को प्रस्तुत करके बिम्बप्रतिष्ठापन-क्रम में विविध बिम्बों के स्थापन की विशेष विधियों आवरणादि देवताओं की प्रतिष्ठाविधि एवं बिम्बों के सजीवत्व प्रतिपादन के साथ सृष्टि-उत्पत्ति आदि कतिपय पाञ्चरात्रीय विषयों को भी वर्णित किया गया है। अन्त

में स्थापत्यादिसम्मानन, प्रतिष्ठान्तोत्सव, पुराणप्रतिमा की प्रतिष्ठाविधि एवं यथावश्यक अर्चन, निषेधादि सहित स्वतन्त्रपरिवार के प्रतिष्ठाक्रम को अध्याय के उपसंहार-रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मण्डपादिप्रतिष्ठापन नामक सोलहवें अध्याय में शाला, मण्डप, गोपुर आदि के प्रतिष्ठाप्रकारों को निरूपित करके सामान्य जीर्णसन्धान के विवेक को निरूपित किया गया है।

जीर्णसंस्कारविधि नामक सत्रहवें अध्याय में मुख्य प्रतिमाओं, विमानों, मण्डपों, गोपुरांशों एवं परिवारदेवों की जीर्णोद्धार या जीर्णसंस्कार प्रक्रिया को निरूपित करने के उद्देश्य से बिम्बसंस्कार भेद एवं बालालय विधि का निरूपण करके जीर्णोद्धारक्रम को प्रस्तुत किया गया है। अन्त में सिद्धाद्यवतारित जीर्णबिम्बों के संस्कार-प्रकार एवं मण्डपादि की मरम्मत की व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है।

'ध्वजारोहणविधि नामक अट्ठारहवें अध्याय में महोत्सव के अङ्गभूत ध्वजारोहण अनुष्ठान के विस्तृत विवेचन-हेतु सर्वप्रथम महोत्सव एवं ध्वजारोहण के काल-निर्देश पूर्वक अङ्कुरार्पण, स्तम्भस्थापन एवं ध्वजारोहण प्रकारों को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद गरुडादि की अर्चनविधि, ध्वजपतनादि की स्थिति में प्रायश्चित्त की व्यवस्था, देवताओं की आहवाहन-विधि, उत्सव में ग्रामाद्यलङ्करणों का कथन, द्वादशाह, नवाह, सप्ताह, पञ्चाह, त्र्यह एवं एकाह उत्सवों में ध्वजारोहण के विशिष्ट-दिवसों एवं उत्सव में कौतुकबन्धन के काल आदि विशेष को प्रस्तुत किया गया है।

महोत्सवविधिनामक एकोनविंश अध्याय में महोत्सव एवं उसके अङ्गभूत विषयों को निरूपित करने के उद्देश्य से अङकुरार्थ मृत्तिकादि संग्रह-प्रकार सहित सर्वप्रथम अङ्कुरार्पण, उसके आधार भूत पालिकादि पात्रों, बलि एवं होम-विधान एवं उत्सव-व्याप्तिकाल का निर्देश किया गया है। इसके बाद रात्रदेवों, आचार्य-संख्या एवं महोत्सव के अन्य नित्याराधनादि प्रयोगों के साथ भगवदाराधन, तीर्थयात्राविधि पुष्पयाग, गरुडोद्वासन एवं महोत्सव में विनियुक्त द्रव्यों का विनियोग प्रस्तुत किया गया है।

स्नपनविधि नामक बीसवें अध्याय में स्नपनाङ्कुरक्रम प्रतिसरबन्धनप्रकार, स्नपनपीठकल्पन, घटाधिवास, कूर्चादि लक्षण तथा कलशाद्यर्चन क्रम को प्रस्तुत करके उत्तम, मध्यम तथा अधम स्नपनों के स्वरूपनिर्देशपूर्वक लक्षण एवं प्रयोगों को निरूपित किया गया है। इसके बाद स्नपन द्रव्यों-द्रव्याधिदेवों एवं स्नपन-अङ्गमार्जनादि मन्त्रों को बताकर आचार्यादि को दक्षिणादान की व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है।

'पुष्पादिविधान नामक' स्वल्पकाय इक्कीसवें अध्याय में भगवान् को अर्पण करने योग्य पुष्पों एवं फलों का वर्णन करके पुष्पसंग्रहपात्र के विवेक एवं भगवन्नैवेद्यानयन में अनुमत वर्णादि को निर्दिष्ट किया गया है। अन्त में हविरूप में निवेदन के योग्य पात्र एवं द्रव्य का विवरण तथा सुगन्धादि द्रव्यों के निवेदन के प्रकार को वर्णित किया गया है।

मात्र सत्ताइस श्लोकों में निबद्ध प्रतिनिधिविधान नामक बाइसवें अध्याय में स्नपन आदि कर्मों में विहित वस्तु की अनुपलब्धि की स्थिति में विकल्परूपेण प्रयोज्य सामग्री-विशेष के प्रतिनिधि वस्तु-विशेषों को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत संहिता के पवित्रोत्सवविधिनिरूपणाध्याय में पवित्रारोहण के काल एवं स्थान के निर्देशपूर्वक अग्निकुण्डकल्पनप्रकार, पवित्र कल्पनप्रकार एवं अधमादि विविध पवित्र-लक्षणों को प्रस्तुत किया गया है। पवित्रोत्सवार्थ यागशालादि के निरूपण के पश्चात् पवित्रोत्सव प्रयोगक्रम में पवित्ररञ्जन एवं अधिवास, भगवदाराधन तथा देवादि का पवित्रारोपण-क्रम वर्णित करके पवित्रावरोहण एवं विनियोग तथा गृहार्चा में पवित्रारोहण के विधान एवं पवित्रारोहण के फल को विवेचित किया गया है।

नारदीय-संहिता के फलभेदविधि नामक चौबीसवें अध्याय में आराधना के अनुरूप विविध आराधनाओं के फल भेदों को विविध व्रतोत्सवविधि सहित विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सर्वप्रथम तुलसी-माहात्म्य, एकादशी की अर्चन-विधि, कृष्ण जयन्ती, भगवतार्चन एवं तत्तद्वस्तुनिवेदन के फल के वर्णनपूर्वक कार्तिकोत्सव के विधान-प्रकार एवं फल को निरूपित किया गया है। इसके बाद मार्गशीर्ष की एकादशी पूजा की विधि, पौष मास की एकादशी का विधान फाल्गुन के पञ्चमी उत्सव एवं चैत्र से श्रावण पर्यन्त प्रत्येक मास में अनुष्ठेय उत्सवों के विधान को सभी के फल-निर्देशपूर्वक विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

नारदीय-संहिता के प्रायश्चित्तविधिनामक इस दीर्घतम अध्याय में 397/1/2 श्लोकों के माध्यम से भगवदाराधनादि के उपक्रम में ज्ञात अथवा अज्ञातरूप से सम्पन्न न्यून अथवा अधिक स्खलनों एवं दोषों अर्थात् अपराधों के निरसन-हेतु विविध प्रायश्चित्त-विधानों को एकैकशः प्रस्तुत करके पाञ्चरात्र-मन्त्रों के सामान्यतः वासुदेवदैवतादिकत्व को निर्दिष्ट किया गया है।

महाहविर्विधान नामक छब्बीसवें अध्याय में 42 श्लोकों के द्वारा भगवन्निवेदनार्थ

महाहविविधान को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से मण्डपादिकल्पनप्रकार एवं हविर्निवेदनाङ्ग स्नपनादि प्रकार को निरूपित करके हविरादि के स्थापन-क्रम को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद हविर्मुद्रा एवं पानीयादि निवेदनक्रम का प्रदर्शन करके श्रीभूमि आदि के लिए हविषार्चन, विभिन्न अपेक्षित निषेधों एवं नियोगों को बताया गया है। अन्त में पुनः आचमन, दान तथा अलङ्करणपुरस्सर स्नपन-रहित हवि के निवेदन-प्रकार, परिवारदेवता आदि के लिए हविर्दान के विधान एवं महाहविर्निवेदन के फल को विवेचित किया गया है।

योगोपकरणवर्णन नामक सत्ताइसवें अध्याय में से भगवदर्चन के उपकरणों अर्थात् पूजा के साधनों यथा स्रुक्, स्रुवा आज्यादि पात्रों, मुकुटादि भूषणों तथा वस्त्रादि पूजोपकरणों के लक्षण स्वरूपादि को विवेचित करते हुए आहुति आदि में विहित द्रव्यों, स्नपनद्रव्यों तथा विविध पञ्चगव्यों के परिणाम, मात्रा एवं लक्षणादि को प्रस्तुत किया गया है।

सर्वदेवस्थापनविधि नामक अट्ठाइसवें अध्याय में स्वतंत्र एवं अस्वतन्त्रभेद से द्विविध आलयों का निर्देश करके केशवालय के लक्षण-स्वरूप एवं विशेषों को निर्दिष्ट करने के बाद अग्नि, ब्रह्मा, धनद, गणेश, स्कन्द, सूर्य, श्री, रुद्र, दुर्गा, यम, इन्द्र, विष्णु, कन्दर्प, अश्विनी कुमार एवं चन्द्र देवों के आराधन-क्रम को निर्दिष्ट किया गया है। इन देवों के स्वतन्त्रार्चन-हेतु आलय-बिम्ब आदि कल्पन-प्रकार-सहित आराधन की सामान्य विधियों, होमासन विषयों एवं उत्सवक्रमों को निरूपित करके द्वारपालों का निर्देश किया गया है।

निषेकादिश्मशानान्तसंस्कारविधि नामक उपान्तिम अध्याय में वैष्णवों के गर्भाधान से लेकर दाह संस्कार पर्यन्त समस्त पुंसवन सीमन्त-जातकर्म-अन्नप्राशन-चूडाकर्म, उपनयन, वेदाभ्यास, दीक्षा पाञ्चरात्राभ्यास, समावर्तन, विवाह आदि संस्कारों को विधिपूर्वक निर्दिष्ट किया गया है। अन्त में दाहानन्तर बलिदानास्थिसंचयादिक्रम के निर्देशपूर्वक वार्षिक श्राद्धकाल का निरूपण करके पाञ्चरात्र के वैदिकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

नारदीय संहिता के कालाध्याय सञ्ज्ञक अन्तिम अध्याय में अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग सञ्ज्ञक पञ्चकालों अर्थात् दिन के पाँच विभागों का वर्णन करके अष्टाङ्ग योग का स्वरूप एवं योगाङ्गाभ्यास का फल वर्णित किया गया है। अन्त में ग्रन्थ का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए नारदीय-संहिता की महिमा का सारगर्भित एवं स्वल्प शब्दों में सङ्केत करके भृगु के तिरोभाव एवं अत्रि के निर्दिष्टक्रम से विष्णु

की आराधना में लीन होने के सङ्केत के साथ नारदीय संहिता समष्टि को प्राप्त हो जाती है।

भार्गव-तन्त्रम्

डॉ. राघव प्रसाद चौधरी द्वारा सम्पादित भार्गवतन्त्रम् को सन् 1981 में प्रकाशित करके डॉ. गया चरण त्रिपाठी, प्राचार्य, गङ्गानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद ने प्रकाशित पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों की परम्परा में एक ग्रन्थप्रसून की श्रीवृद्धि की। स्वयं में पूर्ण इस भार्गवतन्त्र को भार्गवसंहिता के रूप में भी लोकविश्रुति प्राप्त है। अगस्त्य एवं परशुराम के संवाद के रूप में प्रोक्त प्रस्तुत संहिता में कुल 1598 श्लोकों द्वारा जिन पाञ्चरात्रागम-विषयों का विवेचन किया गया है वे इस प्रकार हैं–

भार्गवतन्त्र के प्रस्तावनात्मक प्रथम अध्याय में अगस्त्य की हिमालयस्थ तपश्चर्या, परशुराम से भेंट एवं हरि-अर्चना-तन्त्र विषयक जिज्ञासा का निरूपण करके भार्गवतन्त्र के प्रयोजन एवं भगवदाराधनतन्त्र के उपयोग का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय अध्याय में तन्त्रविवरण पूर्वक तन्त्रानुसार भगवदाराधन के फल, देवालयादि कल्पन एवं तत्तदाराधनादिफल का विवेचन करके भगवदाराधन के अव्यय सिद्धिदातृत्व का निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय में भगवदालय निर्माण के उद्देश्य से देवालय के योग्य स्थान का निर्देश करके बीस प्रासादों का लक्षण-निर्देश पूर्वक नाम-संकीर्तन किया गया है। इसके बाद मूल बेरादिस्थापनस्थान का निर्देश करके द्वारपाल-परिवार देव एवं महानसादि के देवालयस्थ स्थानों के साथ त्रिविध वैष्णव विमान का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में पहले अङ्गोपाङ्गों सहित प्रतिमा के विविध मान आभूषणादि का वर्णन करके भगवत्प्रतिमा के आसीनादि-विविध स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद प्रतिमा के स्थापनस्थान के निर्देश के साथ देवी-प्रतिमा के स्थापन-स्थान एवं आभूषणादि का वर्णन करके अङ्गबिम्बकल्पनपूर्वक पीठकल्पन प्रकार का निरूपण किया गया है। भार्गवतन्त्र के पञ्चम अध्याय में भगवत्प्रतिष्ठा-हेतु आवश्यक संभारों का एकैकशः विवरण प्रस्तुत करते हुए मण्डप कुण्डादि सहित स्रुक्, स्रुवा, द्वार, तोरण, पादुकादि की निर्माण-प्रक्रिया को बताया गया है।

प्रतिष्ठा-विषयों के विवेचनक्रम में भार्गवतन्त्र के षष्ठ अध्याय में सर्वप्रथम यजमान आचार्य एवं ऋत्विक् आदि के लक्षण-वरणादि का पृथक्-पृथक् विवेचन करके प्रतिष्ठा-हेतु ग्राह्याग्राह्य-काल का विवेचन किया गया है। इसके बाद अङ्कुरार्पण एवं मृत्संग्रहणादि के पूर्व सम्पाद्य कृत्यों का वर्णन करके अङ्कुरार्थ मृत्संग्रह-भूमिस्तुति

एव मृदानयनादि के वर्णन करके अङ्कुरार्पण-विधि का सम्यग् विवेचन किया गया है। सप्तम अध्याय में वास्तुपूजा का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करते हुए मानादि में प्रयुक्त दोषों की शान्ति-हेतु शान्त्यनुष्ठान का निर्देश करके बिम्बों के अधिवास-क्रम में घृतस्नानपूर्वक जलाधिवास-प्रक्रिया का विस्तृत विधान प्रस्तुत किया गया है। अष्टम अध्याय में यागमण्डप के अलङ्करण के साथ अधिवासित बिम्बों के उत्थापन एवं उनके यागमण्डप में लाने का वर्णन किया गया है। इसके बाद प्रतिमा के नयनोन्मीलन-प्रतिसरबन्ध, कौतुक-संस्कार एवं कौतुबन्धन-प्रकार तथा स्नपनार्थ स्नपन-कलशों के स्थापन-स्थान का वर्णन करके होमाभिषेचन एवं विम्ब के शयनाधिवास के साथ ही कुम्भादि के स्थापन प्रकारों का वर्णन किया गया है। भार्गवतन्त्र के नवम अध्याय में प्रतिष्ठा के अङ्गभूत कुम्भार्चन-विधि के निरूपण के उद्देश्य से कुंभ में भगवदाराधन की विधि का वर्णन करके उस आराधना के अङ्गभूत होमादि की विधि सहित न्यासशक्ति एवं न्यासबल-समर्पणादि प्रतिष्ठाङ्ग विषयों का एकैकशः वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दशम अध्याय में प्रतिमापीठस्थापनादि के निरूपण के उद्देश्य से गर्भगृह में भगवदानयन एवं आधारशिलास्थापन के साथ आधारपीठ के गर्त में रत्नन्यास, पिण्डिका में लक्ष्मी के आवाहनार्चन एवं गर्भगृह में पिण्डिकायुक्त विम्ब के निवेश तथा स्थापन का वर्णन करके पिण्डिका एवं प्रतिमा के संयोजन तथा अष्टबन्धन-प्रयोग को निरूपित किया गया है। इसके बाद विम्बों में तत्तद् देवताओं के आवाहान एवं शक्ति-निर्देशपूर्वक दक्षिणाविधि आदि प्रतिष्ठाङ्गविषयों का पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है।

महोत्सव-विधि-वर्णन के उद्देश्य से ग्यारहवें अध्याय में महोत्सवकाल, ध्वजारोहणाङ्गभूत गरुड के स्वरूप एवं कुम्भाद्यधिवासन सहित गरुडार्चन विधि को निरूपित करके ध्वजारोहण की विधि एवं भेरीताड़नदेवतावाहनादि विषयों का विवेचन किया गया है। इसके बाद उत्सव-विधि का निरूपण करते हुए बारहवें अध्याय में उत्सवाङ्गभूत अङ्कुरार्पण का संकेत करके यागमण्डपादि की कल्पन-विधि-देवताराधन, होमप्रकार, बलिदान, वीथीभ्रमणादि-विधि के साथ दैनन्दिन उत्सवों का वर्णन किया गया हैं। एतदनन्तर मङ्गलोत्सव मृगयोत्सव एवं तीर्थोत्सव- विधि का पृथक्-पृथक् विस्तृत वर्णन करके गरुडाराधन एवं तदुद्वासनपूर्वक ध्वजारोहण का निरूपण किया गया है। तेरहवें अध्याय में मण्डलनिर्माण का व्यापक वर्णन करके मण्डल में भगवदर्चन एवं अनुज्ञायाचन के साथ मण्डल में तत्तद्देवों के आराधन एवं स्थान विधि का निर्देश किया गया है। इसके बाद मण्डलार्चनाङ्गभूत पुष्पार्चन-होमविधि एवं देवतोद्वासनपूर्वक महोत्सव की फलश्रुति पर प्रकाश डाला गया है। भार्गवतन्त्र के

चौदहवें अध्याय में विवाह-महोत्सव का निरूपण करने के बाद-सर्वप्रथम विवाहोत्सव के फल का निरूपण करके देवी एवं देव-प्रतिमा को कल्याण-मण्डप में लाकर अङ्कुरार्पण-विधि का वर्णन किया गया है। इसके बाद कौतुकबन्ध रक्षाविधि, शुभिका एवं पुष्पमालिका-बन्धन विधि के साथ पाणिग्रहण-विधि का सांगोपांग वर्णन करके विवाहोत्सवाङ्ग चतुर्थ एवं पञ्चम दिन के कृत्यों का वर्णन किया गया है। भार्गवतन्त्र के पन्द्रहवें अध्याय में विविध-प्रतिष्ठा-विषयक सामान्य विषयों यथा कुम्भ संख्यादि-विचार, वाहन-विमान-मण्डप-बलिपीठ-ध्वज-वेदी-पादुका, घण्टा, महानस-द्वारदेवता, वापी, कूप, अक्षमाला धूप एवं चण्डादि देवों के प्रतिष्ठा-क्रम को वर्णित करके भक्त बिम्ब एवं रथयान की प्रतिष्ठा-विधि-पूर्वक मन्दिर में देवस्थापन के फल का निर्देश किया गया है।

कपाटोद्घाटनपूर्वक देवालय में प्रवेश से लेकर सम्पाद्यमान क्रियाओं यथा भगवत्-प्रबोध, निर्माल्य-विनियोग, पादप्रक्षालन, भूतशुद्धि, अङ्गन्यास, मानस-याग पूजापात्रदि सन्नाह, योगपरिकल्पन आदि विषयों का निरूपण करते हुए सोलहवें अध्याय में भगवन्नित्यार्चन विधि को अङ्गभूत होम-नैवेद्यादि-पूर्वक विवेचित किया गया है। सत्रहवें अध्याय में अग्निकार्य के निरूपण के उद्देश्य से सर्वप्रथम होम-सम्पादन से पूर्व सम्पाद्यमान कृत्यों यथा कुण्डनिर्माण-वह्निध्यानादि का निरूपण करके अग्नि की सप्त जिह्वाओं के नाम एवं स्थान आदि का वर्णन किया गया है। इसके बाद अग्नि के भेदत्रयों के लक्षण एवं उपयोगादि को प्रस्तुत करके समिधा के प्रमाण, प्रयोग, वैशिष्ट्य एवं कामनानुरूप होमद्रव्यों का विधान वर्णित किया गया है। अग्नि-कुण्ड में हरि के आवाहन एवं आराधन के साथ पूर्णाहुति के सम्पादन की विधि का सम्यग् वर्णन करके पूर्णाहुति के साथ ही सत्रहवाँ अध्याय सम्पन्न हो गया है। भार्गवतन्त्र के अट्ठारहवें अध्याय में नित्योत्सव-विवेचन के क्रम में बलिद्रव्यानयन को निर्दिष्ट करके बलि में तत् तद् देवों के स्वर नृत्ततालादि के निर्देश-पूर्वक उत्सव भ्रमण के अवसर पर बलिप्रदान-विधि का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ मे द्वारापालादिकों के लिए बलिदान विधि के संकेत के साथ अध्याय को समष्टि प्रदान की गयी है। उन्नीसवें अध्याय में जीर्ण देवालय एवं प्रतिमा के जीर्णोद्धार-विषयक सामान्य विषयों को प्रस्तुत करते हुए बाल-बिम्बकल्पन, अङ्गवैकल्यशान्त्यर्थ होमविधान, बालबिम्बाराधन, जीर्ण-बिम्बप्रक्षेपण एवं संस्कारानन्तर पुनः प्रतिष्ठाविधि आदि विषयों को स्वरूप प्रदान किया गया है। स्नपन-विधि के निरूपण के उद्देश्य से प्रोक्त बीसवें अध्याय में ब्राह्मादि स्नपन-भेदों, स्नपनपीठ एवं पदकल्पन-पूर्वक तत्तत् पदों में स्थापनीय स्नपन द्रव्यों का निर्देश करके सर्वप्रथम अन्य विविध स्नपन-द्रव्यों

का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके बाद प्रतिसरबन्ध, स्नपनकलश-स्थापन, मण्डपस्थ कलशों में तत्तद्देवों के आवाहन एवं अर्चन का विधान प्रस्तुत किया गया है। एतदनन्तर ब्राह्म, वैष्णव, वासुदेव, पुण्य, पारमेष्ठ्य, प्राजापात्य, कौवेर, कल्याण, अपराजित एवं ऐन्द्र संज्ञक स्नपनों के स्वरूप का वर्णन करके तत्तत् स्नपनों की फलश्रुति का प्रवचन किया गया है।

पवित्रारोपणविधि निरूपणात्मक इक्कीसवें अध्याय में सर्वप्रथम पवित्रारोपण के दोषपरिहार, काल एवं उपादानद्रव्यसंग्रह का निरूपण करके दशपवित्रों के नामों एवं लक्षणों का निरूपण किया गया है। इसके बाद पवित्र निर्माण-विधि, पवित्राधिवासनविधि एवं पवित्रोत्सवान्तर्गत भगवान् के चतुस्स्थानार्चन के साथ विहित होममन्त्रादि-पूर्वक विविध पवित्रारोहण प्रकारों का वर्णन करके अनुष्ठान के फल का संकेत किया गया है। भगवदाद्यर्चन प्रसंग में ज्ञाताज्ञात त्रुटि-स्खलन रूप-दोषों के परिहार-हेतु यथापराध विविध प्रायश्चित्त कर्मों का एकैकशः विधान प्रस्तुत करते हुए बाइसवें अध्याय में पाञ्चरात्र-शास्त्र के भेदों एवं उनके सांकर्य का निषेध प्रस्तुत किया गया है। इसी अनुक्रम में तेइसवें अध्याय में समस्त प्रायश्चित्तों में विनियोज्य सामान्य कृत्यों की ओर संकेत करके सम्प्रोक्षण के अवसर, सम्प्रोक्षण सन्नाह, सम्प्रोक्षणाङ्ग होमविधि एवं प्रोक्षण प्रकारों का उल्लेख किया गया है। अष्टाक्षर मन्त्र-निरूपणात्मक चौबीसवें अध्याय में अष्टाक्षर-मन्त्र का प्रकरण प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम अष्टाक्षर-मन्त्र के अधिकारी के लक्षण वर्णित किये गये हैं। इसके बाद शुद्ध एवं मिश्र वैष्णवों के स्वरूप का संक्षिप्त निर्देश करके शुद्ध वैष्णवों के लक्षण एवं आचारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। एतदनन्तर दीक्षाभेद एवं स्वरूप का वर्णन करके अष्टाक्षरमन्त्रोद्धार पूर्वक उसके ऋषि-देवता छन्दादि का निर्देश किया गया है। अध्याय के अन्त में अष्टाक्षर-मन्त्र के जप से पूर्व ध्येय भगवत्स्वरूप का वर्णन करके प्रस्तुत मन्त्र के उपयोग एवं फल को विवेचित किया गया है। भार्गवतन्त्र के पञ्चकाल प्रक्रियानिरूपणात्मक अन्तिम अध्याय में पञ्चकाल विभाग के पश्चात् अधिगमनादि विधियों का संक्षिप्त निर्देश करके योग-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। तदनन्तर निद्रास्वीकार उसके विकल्प एवं अष्टाक्षरमन्त्र के जप के फल का निरूपण करके पाञ्चरात्र-शास्त्र के अधिकारी एवं अध्ययन की फलश्रुति के साथ विष्णु की आराधना के फलसङ्कीर्तन-पूर्वक ग्रन्थ का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।

लक्ष्मीतन्त्रम्

पं.वी. कृष्णमाचार्व द्वारा सम्पादित होकर अड्यार ग्रन्थालय एवं शोध-संस्थान

द्वारा प्रथम बार सन् 1959 में प्रकाशित लक्ष्मीतन्त्र में लगभग 3600 श्लोकों को 56 अध्यायों में व्यक्त करके श्रीवैष्णवपरम्परा में एक नवीन सोपान की प्रतिष्ठा की गयी है। पाञ्चरात्रागमों में यही एक ऐसी संहिता है जो परम्परया विष्णु द्वारा प्रोक्त न होकर लक्ष्मी द्वारा उपदिष्ट है। अध्याय क्रम में प्रस्तुत संहिता की विषय वस्तु इस प्रकार है-

लक्ष्मीतन्त्र के शास्त्रावतार नामक प्रथम अध्याय में संहिताज्ञान के प्रवचनक्रम को स्वरूप प्रदान किया गया है जो संक्षेप में इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है।

लक्ष्मी के माहात्म्य की अनसूया-गत जिज्ञासा के समाधान के लिए अत्रि ने ऋषियों की जिज्ञासा के फलस्वरूप नारद द्वारा प्रोक्त उस पौराणिक कथा का वर्णन किया जिससे लक्ष्मी ने इन्द्र को लक्ष्मी-तन्त्र का उपदेश दिया था। अतः प्रस्तुत संहिता इन्द्र के निवेदन एवं लक्ष्मी के प्रत्युत्तर के रूप में उपनिबद्ध है। दूसरे शब्दों में प्रस्तुत संहिता में प्रश्नकर्ता इन्द्र हैं तथा उपदेशिका लक्ष्मी हैं।

उपर्युक्त संहिता के शुद्धमार्गप्रकाश नामक द्वितीय अध्याय में वासुदेव एवं उनकी शक्ति के रूप में श्री के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किये जाने के पश्चात् षाड्गुण्य के स्वरूप का कथन करके शुद्धसृष्टि में चातुरात्म्य का कथन किया गया है। त्रैगुण्य-प्रकाश नामक तृतीय अध्याय मं सत्त्वरजस्तमोरूपेण ज्ञानैश्वर्य आदि का निरूपण करके शुद्ध एवं अशुद्ध सृष्टि के प्रयोजन का निरूपण किया गया है। अध्याय का एक बृहदंश इस रहस्य के उद्घाटन में समर्पित है कि विषम-सृष्टि में जीवों का कर्म ही निमित्त है। महालक्ष्मी समुद्भूति नामक चतुर्थ अध्याय में सर्वप्रथम वासुदेवादि व्यूहरूपों में षाड्गुण्य के उन्मेष एवं उनके व्यापार-विशेष का उल्लेख करके महालक्ष्मी की समुद्भूति के रहस्य पूर्वक महालक्ष्मी से महामाया एवं महाविद्या के आविर्भाव का कथन किया गया है। प्राकृतसृष्टि-प्रकाश नामक पञ्चम अध्याय में संकर्षणादि देवांशों के रूप में देवताओं के स्त्रीपुरुष रूप मिथुनत्रयों (विरिञ्चि, रुद्र एवं विष्णु) के आविर्भाव की गाथा व्यक्त करके हिरण्यगर्भ महदहंकार, तन्मात्राओं एवं इन्द्रियादि की सृष्टि का वर्णन करते हुए मनु-मानव आदि की सृष्टि-प्रक्रिया व्यक्त की गयी है।

लक्ष्मीतन्त्र के षट्कोशप्रकाश नामक षष्ठ अध्याय में छहों कोशों का नाम निर्देश करके के पृथक्-पृथक् स्वरूप निरूपणपूर्वक षट्कोशस्थ तत्त्वों के स्वरूप के साथ ही तत्त्वसंख्या का परिगणन प्रस्तुत किया गया है। प्रमातृकरणप्रकाश नामक सप्तम अध्याय में पञ्चविंश तत्त्वों का कथन करते हुए प्रमातृदशा के चातुर्विध्य, त्रैरूप्य एवं ऐकरूप्य का निदर्शन करके करण दशा का निरूपण एवं प्रमेय का कथन

किया गया है। लक्ष्म्यवतार-प्रकाश नामक अष्टम अध्याय में नारायण के वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूप चतुर्व्यूहों के साथ नारायण की शक्ति के शाश्वत अस्तित्व का संकेत करते हुए नारायण के विविध रूपों के साथ इस शक्ति के विविध पृथक्-पृथक् नामों एवं स्वरूपों का वर्णन किया गया है। केवलावतार प्रकाश-नामक नवम अध्याय में महालक्ष्मी के महिषमर्दिनी, महाकाली, कौशिकी, विन्ध्यवासिनी, सुनन्दा, रक्तदन्तिका, शाकम्भरी, दुर्गा, भीमा एवं भ्राम्या संज्ञक अवतारों का पृथक्-पृथक् वर्णन करके इन अवतारों के सम्यग् ज्ञान के फल का निरूपण किया गया है। परव्यूहप्रकाश नामक दशम अध्याय में सर्वप्रथम नारायण के परव्यूह रूप वासुदेव का वर्णन करके उसके सुषुप्ति, स्वप्न एवं जागृति अवस्थात्मक स्वरूपों का वर्णन किया गय है। इसके बाद संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के स्वरूप का कथन करके इनकी मन्दिरस्थ अपरिहार्यता एवं ईश्वरांशता का प्रतिपादन किया गया है।

विभवप्रकाश नामक ग्यारहवें अध्याय में पूर्ववर्णित परव्यूह के स्वरूप का अनुवाद करके विशाखयूपनिरूपणपूर्वक पद्मनाभादि विभवदेवों के नाम-निर्देश किये गये है। तदनन्तर विभवदेवों के स्थानादि का उल्लेख करके परव्यूहादि के प्रयोजन को निरूपित किया गया है। तिरोभावादिशक्ति-प्रकाश नामक बारहवें अध्याय में क्लेशकर्म-विपाक-आशय आदि द्वारा जीव के अभिभव का वर्णन करके क्लेशभेद-निरूपण पूर्वक तिरोभावादि-शक्तियों एवं अविद्या के पाँच पर्वों का वर्णन किया गया है। एतदनन्तर कर्म-विपाक एवं आशय का निरूपण करके सृष्टि-स्थिति एवं संहार-शक्तियों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। जीवस्वरूप-प्रकाश नामक तेरहवें अध्याय में अनुग्रहशक्ति का निरूपण करके लक्ष्मी की चित्शक्ति एवं उसके जीव रूप स्वरूप को जीवों के पञ्चकृत्यों सहित प्रतिपादित किया गया है। लक्ष्मीस्वरूप-प्रकाश नामक चतुर्दश अध्याय में स्वयं लक्ष्मी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके ज्ञानज्ञेयरूपसर्ववस्त्वात्मकत्व को प्रतिष्ठित किया गया है। उपाय-प्रकार-प्रकाश नामक पन्द्रहवें अध्याय में इन्द्र के मोक्षोपाय विषयक प्रश्न के प्रत्युत्तर में कर्मसांख्ययोगसर्वसंन्यासरूप मोक्ष के उपायों को प्रकाशित करके कर्म एवं सांख्य नामक मोक्षोपायों को पृथक्-पृथक् विवेचित किया गया है। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में प्रकृति तत्त्व को भी विवेचित किया गया है।

उपायप्रकार-विवरण नामक सोलहवें अध्याय में महत् तत्त्व, अहंकार एवं उसके कार्यों का निरूपण करके समाधि एवं संख्या के साथ ही योग एवं सर्वसंन्यास नामक मोक्षोपायों को प्रपञ्चित किया गया है। रहस्योपाय-प्रकाश नामक सत्रहवें

अध्याय में परमपद के स्वरूप को व्यापक रूप से बताया गया है कि न्यास नामक उपाय भगवन्नारायण द्वारा उपदिष्ट है। इसके बाद न्यास के स्वरूप अंगों एवं महिमा को बताते हुए छहों अंगों के स्वरूप को पृथक्-पृथक् विश्लेषित किया गया है। एतदनन्तर न्यास के पर्याय नामों, षडङ्गों के उपकारकत्व एवं न्यास के विशेष लक्षणों को व्यक्त किया गया है। मन्त्रस्वरूपकथन नामक अठारहवें अध्याय में शब्दब्रह्म की शान्तावस्था का निरूपण करके शब्दब्रह्म के नाद-विन्दुमध्यमवैखरीरूपपरिग्रह एवं नादादि के वासुदेवादि वाच्यों का निरूपण किया गया है। इसके बाद शब्दब्रह्म से मन्त्रों के आविर्भाव का उल्लेख करके मन्त्रों के सकलशब्दप्रपञ्चकारणत्व एवं तारिकादिमन्त्रों का कथन किया गया है। वर्णोत्पत्ति-निरूपण नामक उन्नीसवें अध्याय में वर्णमाला के स्वर एवं व्यञ्जनरूप समस्त वर्णों की उत्पत्ति के रहस्य को उद्घाटित किया गया है। इसी प्रकार मातृकाप्रकाश नामक बीसवें अध्याय में वर्णों के माध्यम से सत्याप्ति के मार्गोद्घाटनहेतु वर्णाध्व का विस्तृत विवेचन है। अतः इस अध्याय में चातुर्व्यूहपरिकल्पना के द्वारा वर्णों के वासुदेवादिव्यूह-देवताओं में अधिष्ठेयत्व का निरूपण किया गया है।

लक्ष्मीतन्त्र के गुरुशिष्यलक्षण नामक इक्कीसवें अध्याय में षाड्गुण्य के बीज-पिण्ड सञ्ज्ञा-पद नामक मन्त्र-तत्त्वों के रूप में आविर्भाव का उल्लेख करके प्रसंगतः आचार्य एवं शिष्य के लक्षणों की यथावश्यक चर्चा की गयी है। षडध्वमन्त्रस्वरूप नामक बाइसवें अध्याय में मन्त्रों के छह स्तरों अर्थात् सोपानों (वर्ण-कला-तत्त्व-मन्त्र-पद-भुवन सञ्ज्ञक षडध्व) का पृथक्-पृथक् वर्णन करते हुए मन्त्रों के उत्तम-मध्यम-अधम भेदों का विवेचन किया गया है। मातृकाप्रकाश नामक तेइसवें अध्याय में मातृकापीठपरिकल्पना के अनन्तर मातृकापीठ एवं मातृकातनु में अक्षरविन्यास-प्रक्रिया का निरूपण करके मातृकापूजा सहित सप्त बीजमन्त्रों को प्रस्तुत किया गया है। तारप्रकाश नामक चौबीसवें अध्याय में तारमन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए तारस्थवर्णाधिदेवों के वर्णन के साथ ही तार का स्वरूप वर्णित किया गया है। इसके बाद तार से शब्दार्थप्रपञ्चोत्पत्ति का सङ्केत करके तार के अङ्गन्यास-लययोग, शिष्योपदेश, पुरश्चरण-महिमा, प्रासाद-मन्त्र, सञ्ज्ञामन्त्र, अस्त्रमन्त्र, परमात्ममन्त्र, पदमन्त्रों एवं व्यापक मन्त्रों को प्रतिबिम्बित किया गया है। तारानुताराप्रकाश नामक पच्चीसवें अध्याय में संसारार्णव-तरणार्थ अत्युपयोगी तारिकामन्त्रों के विवेचन के उद्देश्य से वर्ण सञ्ज्ञानिरूपण के बाद तारिकामन्त्रों एवं तारिका के पाद्म, महालक्ष्मी आदि विविध नामान्तरों का वर्णन करके अनुतारिका-मन्त्रों को विवेचित किया गया है।

लक्ष्मीतन्त्र के सप्तविद्याप्रकाश नामक छब्बीसवें अध्याय में तार-तारिका, अनुतारिका, जगद्योनि, प्रद्युम्नी, सरस्वती एवं महालक्ष्मी बीजमन्त्रों अर्थात् सप्तविद्याओं का नामसङ्कीर्तन पूर्वक महिम-वर्णन किया गया है। सदाचार-प्रकाश नामक सत्ताइवें अध्याय में मन्त्र-प्रयोग कालगत आचरण विधान-हेतु सर्वप्रथम ह्ल्लेखामन्त्र की विस्तृत व्याख्या करके उस मन्त्र के शिष्योपदेशक्रम एवं उपदेश ग्रहणानन्तर शिष्यों के कृत्यों का निरूपण किया गया है। इसी क्रम में अट्ठाइसवें अध्याय में अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योगसञ्ज्ञक पञ्चकाल-कृत्यों का पृथक्-पृथक् वर्णन करके पञ्चकाल कृत्य की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। अग्नीषोम-विभाग प्रकाश नामक उन्तीसवें अध्याय में क्रियाशक्ति के सूर्यात्मकत्व, अग्न्यात्मकत्व, सोमात्मकत्व एवं सुदर्शनात्मकत्व का निरूपण करके सुदर्शन के बीज एवं पिण्ड मन्त्रों को प्रस्तुत किया गया है। क्रियाशक्ति नामक तीसवें अध्याय में सुदर्शन-मन्त्र की क्रियाशक्ति का निरूपण करते हुए सुदर्शन षडक्षर मन्त्र की महिमा एवं सुदर्शन चक्र में अक्षरादि के विन्यास-क्रम को निरूपित किया गया है।

सुदर्शनप्रकाश नामक एकतीसवें अध्याय में सुदर्शन-मन्त्र की व्याख्या के उपक्रम में सुदर्शन-मन्त्र के कुछ प्रायोगिक प्रभावों की गणना करके सुदर्शन-गायत्री मन्त्र, सुदर्शन मुद्रा, सुदर्शनशक्ति एवं ग्रसनमन्त्र वर्णन के पश्चात् सुदर्शन षडक्षर-मन्त्र की ध्यान-प्रक्रिया को विस्तार से निरूपित किया गया है। स्थूलादिप्रकाश नामक बत्तीसवें अध्याय में तारिका मन्त्रों के स्थूल-सूक्ष्म एवं परसञ्ज्ञक रूपत्रय का पृथक्-पृथक् वर्णन करके इसके सकल वर्णरूपत्व का प्रतिपादन किया गया है। अङ्गोपाङ्गादिमन्त्रप्रकाश नामक तैंतीसवें अध्याय में तारिका मन्त्रों के अङ्गोपाङ्ग मन्त्र प्रकाश अलङ्कार, अस्त्र, आधार, आधारेश एवं अव्यक्तपद्ममण्डलचिद्भासन मन्त्रों सहित क्षेत्रेश-गणेशादि मन्त्रों का विवेचन करके मन्त्रमहिमा का निष्पादन किया गया है। स्नानविधिप्रकाश नामक चौंतीसवें अध्याय में स्नान, मन्त्रन्यास एवं प्रतिष्ठा-काल में प्रयोज्य विविध 41 मुद्राओं के नाम-निर्देशपूर्वक स्वरूपादि का वर्णन करके स्नान की आवश्यकता बताने के बाद मृत्तिका मन्त्र एवं ध्यान स्नानरूप त्रिविध-स्नानों को पृथक्-पृथक् सविस्तार निरूपित किया गया है। भूतिशुद्धि-प्रकाश नामक पैंतीसवें अध्याय में भूतशुद्धि रूप अङ्गन्यास विधि के निरूपण के उद्देश्य से सर्वप्रथम भूत एवं सूक्ष्मादि के अपने-अपने कारणों में लय के रहस्य को बताकर उनसे पिण्डोत्पत्ति का चिन्तन व्यक्त किया गया है। इसके बाद मन्त्रों के अङ्गन्यास विधि का निरूपण किया है।

अन्तर्यागप्रकाश नामक छत्तीसवें अध्याय में पूजन की मानसिक विधि का निरूपण करते हुए शरीर के यथोचित स्थलों में आधारशक्ति-कूर्म एवं नागेन्द्र का साक्षात्कार करके लक्ष्मी-नारायण का ध्यान विवेचित है। तदनन्तर नारायण से पुरुष सूक्त तथा लक्ष्मी से श्रीसूक्त के आविर्भाव का उल्लेख करके पुरुष एवं श्रीसूक्त से नारायण एवं लक्ष्मी की स्तवनविधि के साथ मानसिक होम की विधि का वर्णन किया गया है। बाह्ययागप्रकाश नामक सैंतीसवें अध्याय में पूजार्थमण्डपादि की परिकल्पना के अनन्तर अर्घ्य-आचमनीय आदि विधानों के साथ पूजा-द्रव्यों के संस्कार एवं परिवार-देवों के ध्यान की विधि बतायी गयी है। इसी क्रम में अगले अध्याय में देवता-सान्निध्याचमन, लययाग एवं देवीयाग का निरूपण करके पद्म में लक्ष्मीनारायण के ध्यान की व्यापक व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है। इसी बहिर्याग क्रम को गति प्रदान करते हुए उन्तालिसवें अध्याय में मन्त्रासन, स्नानासन, अलङ्कारासन, भोज्यासन, पर्यङ्कासन आदि रूप अर्चनाओं के साथ ही मन्त्र-जप के नियमों का निरूपण करके अक्षमाला के लक्षण, स्वरूपादि का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में नित्यविधिप्रकाश नामक चालीसवें अध्याय में अक्षमाला की प्रतिष्ठा-विधि के साथ ही पूजा के समय घण्टानाद की आवश्यकता का वर्णन करके प्रापणदान, वह्नितर्पण विष्वक्सेनार्चन, लोकपालाद्यर्चन, पितृतर्पण एवं अनुयाग-विधि का निरूपण किया गया है। इसके बाद शेष दैनिक कृत्यों पर प्रकाश डालकर इज्या की आवश्यकता एवं यथाशक्त्यनुष्ठान-विधि की चर्चा की गयी है।

दीक्षाभिषेक प्रकार नामक एकतालिसवें अध्याय में दीक्षा शब्द के निर्वचन, दीक्षा के त्रिविध एवं दीक्ष्यों के चतुर्विध रूपों के संक्षिप्त निर्देशों के साथ दीक्षाकरण-विधि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करते हुए अभिषेक द्वारा दीक्षा-प्रक्रिया को समष्टि प्रदान की गयी है। दीक्षा के अन्त में गुरु-द्वारा प्रदान किये जाने वाले तारिका मन्त्रों का सङ्केत करके अध्याय सम्पूर्ण हो जाता है। इसी क्रम में अग्रिम अध्याय में तारिकामन्त्र के पुरश्चरण की विधि, तारिका मन्त्र के विनियोग तथा फल को सविस्तार प्रपञ्चित किया गया है। तारामन्त्रोपासनक्रम में ही नानायोगप्रकाश नामक अगले अध्याय में तारिकामन्त्र के योगाभ्यास पर बल देते हुए जप, ध्यान-रूप योग के नियमों एवं मनोनिग्रह के उपायों को एकैकशः निदर्शित किया गया है। रहस्यप्रकाश नामक चौवालिसवें अध्याय में तारिकामन्त्रों से सम्बद्ध संज्ञाओं, बीजों एवं पिण्डों का निरूपण करते हुए तारिकामन्त्र की महिमा का व्याख्यान किया गया है। मूर्तिप्रकाश नामक पैंतालिसवें अध्याय में लक्ष्मी, कीर्ति, जया एवं माया के स्वरूप मन्त्रों के साथ

ही इनके सखी एवं अनुचर-स्वरूप के मन्त्रों का पृथक्-पृथक् वर्णन करके लक्ष्मी आदि मूर्तियों की महिमा एवं उनके सखी अनुचर आदि की मुद्राओं का निरूपण किया गया है।

लक्ष्मीमन्त्र-सिद्धिप्रकाश नामक छियालिसवें अध्याय में लक्ष्मी मन्त्र के साधन की विधि का वर्णन करते हुए प्रसङ्गप्राप्त न्यास, मुद्रा एवं होम आदि मन्त्र-सिद्धि के साधनभूत अङ्गों का वर्णन कया गया है। इसी प्रकार इसके अग्रिम दो अध्यायों में क्रमशः कीर्ति-मन्त्र एवं जया-मन्त्र की सिद्धि-हेतु यथावश्यक मण्डपादि सहित व्यापक विधान प्रस्तुत किया गया है। प्रतिष्ठाविधान नामक उन्चासवें अध्याय में अवशिष्ट माया-मन्त्र की सिद्धि का उपाय बताकर लक्ष्मीनारायण की मूर्तिप्रतिष्ठा-विधि को विस्तृत रूप से साङ्गोपाङ्ग विवेचित किया गया है। श्रीसूक्तप्रभावप्रकाश नामक पचासवें अध्याय में लक्ष्मीनारायण के सम्यगर्चनार्थ श्रीसूक्त का विधान प्रस्तुत करके लक्ष्मी के हिरण्यवर्णा इत्यादि 53 नामों का निर्वचन करते हुए संहिता के इस अध्याय के एक बृहदंश को समर्पित किया गया है। इसके बाद श्रीसूक्त की महिमा एवं श्री प्रपत्ति का व्याख्यान करके श्रीसूक्त एवं लक्ष्मीतन्त्र के श्रवणाऽध्ययनादि के फल का प्रवचन इस अध्याय का उपसंहारात्मक अंश है।

राजकीय प्राच्य लिखित पुस्तकालय में विद्यमान एवं कोश में लक्ष्मीतन्त्र के अग्रिम सात अध्याय अधिक उपलब्ध हुए हैं। अध्यायाऽभिधान से रहित इन अध्यायों के प्रतिपाद्य संक्षेप में इस प्रकार हैं-

लक्ष्मीतन्त्र के इस इक्यावनवें अध्याय में इन्द्र द्वारा लक्ष्मीतन्त्र के अर्थसंग्रह के कथन की प्रार्थना पर लक्ष्मी ने शुद्ध-अशुद्ध एवं प्रकारान्तर से शुद्धाशुद्ध सृष्टि रूप भावों का वर्णन किया है। बावनवें अध्याय में लक्ष्मी ने स्वयं को समस्त मन्त्रों की जननी एवं मूलस्रोत बताते हुए समस्त शब्द प्रपञ्च के मन्त्रात्मकत्व का प्रतिपादन करके बीज मन्त्रों का रहस्य उद्‌घाटित किया है। तिरपनवें अध्याय में अति संक्षेप के साथ क्रिया-पाद के अर्थसंग्रह को समन्वित किया गया है। चौवनवें अध्याय में भूत-शुद्धि एवं देह में भूतादि स्थानों का निरूपण है। दूसरे शब्दों में इस अध्याय में मन्त्रपूर्वक अङ्गन्यास की विधि को प्रस्तुत किया गया है। पचपनवें अध्याय में आधार-विन्यास का निरूपण करके अध्याय को अपूर्ण स्थिति में ही छोड़ दिया गया है। यहाँ तक कि अग्रिम अध्याय भी उपलब्ध प्रकाशनों में अनुपलब्ध हैं। ग्रन्थ के अन्तिम अर्थात् सत्तानवें अध्याय में परा एवं पश्यन्ती आदि शक्तियों का वर्णन करते हुए रहस्यशास्त्रार्थसार के रूप में ग्रन्थ का उपसंहार मण्डित किया गया है।

विश्वामित्र-संहिता

श्री उण्डेमने शंकर भट्ट द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित एवं केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति द्वारा वर्ष 1970 में प्रकाशित विश्वामित्र-संहिता 2600 श्लोकों में तथा 27 अध्यायों में विभक्त है। विश्वामित्र एवं काश्यप के संवाद रूप में प्रस्तुत विश्वामित्र-संहिता की परम्परा में विश्वामित्र ने ब्रह्मा से और ब्रह्मा ने साक्षात् नारायण से पाञ्चरात्र ज्ञान प्राप्त किया था। अतः प्रस्तुत संहिता की ज्ञान-परम्परा क्रमशः नारायण से ब्रह्मा, ब्रह्मा से विश्वामित्र एवं विश्वामित्र से काश्यप को प्राप्त होती हुई आज जिस रूप में उपलब्ध है उसके प्रतिपाद्य को समग्र रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि यह संहिता वैष्णव सम्प्रदाय के चार प्रसिद्ध स्थलों के लब्ध-प्रतिष्ठ श्रीवैष्णव-मन्दिरों से मुख्यतः सम्बद्ध न होकर स्वतन्त्र-रूपेण पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की सम्पूर्ण परम्पराओं, दीक्षासंस्कार, मन्दिर एवं प्रतिमाओं की साज-सज्जा, निर्माण एवं उपासना-विधि को यथावश्यक रूप में प्रस्तुत करती है। इसके प्रतिपाद्य को अध्यायक्रम में अति-संक्षेप से अधोलिखित शब्दों में देखा जा सकता है-

83 श्लोकों से समन्वित तन्त्रावतरण नामक प्रथम अध्याय में इष्टदेव-नमस्कार, विश्वामित्राश्रमवर्णन एवं विश्वामित्र के वर्णन के बाद काश्यप के विश्वामित्र के समीपगमन एवं काश्यप-विश्वामित्र संवाद के उपक्रम के फलस्वरूप पाञ्चरात्रशास्त्र के अवतरण क्रम को निर्दिष्ट किया गया है।

मात्र 38 श्लोकों में प्रोक्त पाञ्चरात्र-निर्वचन नामक द्वितीय अध्याय में पञ्चरात्रशब्दार्थ-निर्वचन एवं पाञ्चरात्रमाहात्म्य को यथावश्यक रूपेण प्रस्तुत करके पाञ्चरात्रशास्त्र की 108 संहिताओं का नामनिर्देश किया गया है जिसमें विश्वामित्र-संहिता का उल्लेख सातवें स्थान पर है। पञ्चरात्रग्रन्थसंख्या के विवेक एवं पञ्चरात्रशास्त्रानुसरण फल को निरूपित करके अध्याय को उपसंहार प्रदान किया गया है।

केवल 29 श्लोकों से मण्डित गुरुशिष्यलक्षण नामक तृतीय अध्याय में पृथक्-पृथक् गुरु एवं शिष्य के लक्षणों को प्रस्तुत करके स्त्रियों एवं शूद्रों के शिष्यत्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

तैंतालिस श्लोकों में प्रोक्त वासुदेवादिमूर्त्युत्पत्तिकथन नामक चतुर्थ अध्याय में भगवत् शब्द के अर्थ एवं भगवत्-स्वरूप के निर्देश के साथ भगवान् नारायण वासुदेव से संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध की उत्पत्ति एवं गुणालङ्कारों का वर्णन करके वासुदेव से अधोक्षज, नृसिंह, वामन आदि अष्ट मूर्तियों को उत्पत्ति का रहस्य निर्दिष्ट

किया गया है। इसके बाद मत्स्य, कूर्म, वराह आदि मूर्तियों की उत्पत्ति का वर्णन करके शङ्ख-चक्र, गदा पद्मादि आयुधों एवं किरीटहारादि अलङ्करणों एवं गरुड, कुमुद, पुण्डरीकाक्ष का वर्णन करते हुए जगत् की सृष्टि के क्रमपूर्वक निर्देश के बार क्षीरसागर में भगवच्छयन के सङ्केतपूर्वक अध्याय का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।

जगत्सृष्टिलय-कथन नामक पञ्चम अध्याय में 52 श्लोकों के माध्यम से ब्रह्मा, सनकादि, रुद्र, रुद्रकोटि एवं मरीच्यादि की सृष्टि का प्रवचन करते हुए सर्वप्रथम सृष्टिप्रक्रिया को विवेचित किया गया है। सृष्टि-विवेचन के पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप में पृथक्-पृथक् एक ही भगवान् के सृष्टि, स्थिति एवं संहार रूप कार्यों का सङ्केत करके गुणत्रय के निबन्धन एवं मूर्तित्रय के कार्यादि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद प्रकृति एवं पुरुष के कार्य, प्रकृति से महत् तथा महत् से अहंकार की उत्पत्ति एवं अहंकार के वैकारिक भेदों का निरूपण किया गया है। इसी भाँति वैकारिकों से ज्ञानेन्द्रियों, तैजस से कर्मेन्द्रियों एवं भूतादि से शब्द तन्मात्रादि की उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत किया गया है। आकाशादि के गुण एवं महदादि से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को प्रस्तुत करके इस अध्याय के अन्त में चराचर की संहति का विधान प्रस्तुत किया गया है।

'अष्टाक्षर-मन्त्रोद्धारविधि' नामक छठे अध्याय में प्रणव एवं अष्टाक्षर मन्त्रादि के स्वरूप-विधि आदि को विवेचित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम प्रणव के स्वरूप, स्वर-ऋषि-छन्द-देवता-बीजशक्ति जयप्रकारादि को प्रस्तुत करके प्रणवमन्त्र के भाष्य एवं पुरश्चरण-प्रकार को निरूपित किया गया है। इसके बाद अष्टाक्षर मन्त्र के स्वरूप एवं ऋषि-छन्द आदि को बताकर नारायण शब्द निरुक्ति, अष्टाक्षर मन्त्र के अर्थ, पुरश्चरण एवं पुरश्चरण के फल को प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में सृष्ट्यादि न्यास भेदों, इन न्यासों के अधिकारियों, सृष्ट्यादि न्यासों के प्रकार एवं अङ्गन्यास प्रकार को अभिव्यक्त किया गया है।

द्वादशाक्षरादि-मन्त्रोद्धार विधि नामक सप्तम अध्याय में 65 श्लोकों के द्वारा पहले द्वादशाक्षर मन्त्र की महिमा, स्वरूप, द्वादशाक्षर बीज एवं द्वादशाक्षर के हृदयादि अङ्गमन्त्रों को प्रस्तुत करके वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूप व्यूह मन्त्रों के स्वरूप को ऋषिछन्द आदि निर्देशपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद अग्नि प्राकार मन्त्र के स्वरूप, विष्णुगायत्री के स्वरूप एवं ऋषि, छन्द आदि के निर्देश सहित अङ्गमन्त्रों तथा पुरश्चरण प्रकार को विवेचित किया गया है। इसी प्रकार अध्याय के अन्त में श्रीकराष्टाक्षर मन्त्र स्वरूपादि के साथ नारायण-मन्त्र एवं

अष्टमूर्ति-मन्त्र के स्वरूप एवं बीजाक्षरादि का निर्देश करके मत्स्यादि मूर्तिमन्त्रों के स्वरूप तथा बीजाक्षरादि को निरूपित किया गया है।

53 श्लोकों से युक्त 'वर्णसंज्ञा-विधि' नामक आठवें अध्याय में मन्त्रों में प्रयोज्य वर्णविन्यासादि को विवेचित करने के उद्देश्य से मातृका-चक्र के लेखन-प्रकार, मातृकाध्यानविधि मातृकापूजनपूर्वक मन्त्रोद्धार एवं ओंकारादि वर्णों की विशिष्ट संज्ञाओं को प्रस्तुत करने के पश्चात् ओंकारादि वर्णों के देवताओं का निर्देश किया गया है।

94 श्लोकों से मण्डित 'दीक्षाविधि' नामक नवें अध्याय में दीक्षा संस्कार के प्रशस्त काल-निर्देश से लेकर दीक्षित शिष्य के स्वगृह-गमन-पर्यन्त समस्त दीक्षा-विधियों को प्रस्तुत करने के पश्चात् दीक्षित की प्रशंसा, भागवत पद के लिए अपेक्षित अष्टविधियों एवं भागवत शब्द के निर्वचन को प्रस्तुत किया गया है।

नित्याराधनक्रमविधि नामक दसवें अध्याय में 187 श्लोकों द्वारा काश्यप की आराधनविधिविषयिका जिज्ञासा को प्रशान्त करते हुए भगवदाराधन के सर्वाङ्गीण विधान को प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत उपक्रम में सप्तविध स्नानों के लक्षण सहित आराधनाङ्ग स्नान विधि सहित आलय में प्रवेश से लेकर द्वारदेवतार्चन, दीपरोपण, निर्माल्य-शोधनादि प्रकार, अन्तर्याग अर्थात् भूतशुद्धिप्रकार अर्घ्यपाद्याचमन एवं स्नानादि के द्रव्य-निर्देश पूर्वक अर्घ्यादिकल्पन प्रकार के साथ भद्रासनार्चनप्रकार-पर्यन्त आराधनविधि का निर्देश किया गया है। अन्ततः भगवदावाहन स्वागताद्युपचारार्पण, प्रतिष्ठित बिम्बों में आवाहन के निषेध एवं भगवदर्चन में भगवदनुज्ञा की प्रार्थना का सङ्केत करके भगवदाराधन-सहित परिवार-देवताओं के अर्चन-विधानपूर्वक विष्वक्सेनार्चन को सविधि निरूपित किया गया है।

अग्निकार्यविधि नामक ग्यारहवें अध्याय में 77 श्लोकों में होमविधि को सम्यग्रूपेण निरूपित करने के उद्देश्य से अग्नि कार्य के निमित्तों, अग्निकुण्ड-कल्पन, कुण्डशोधन एवं जलशान्ति होमादि के पश्चात् अग्नि के गर्भाधानादि संस्कारों, प्राजापत्यादि होमों, होमादि के समिधा-चरु-आहुति आदि के प्रमाण तथा उपकरणों को पुष्प-फल-धान्यादि के आहुतिप्रमाण के साथ प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में प्रायश्चित्त होम एवं पूर्णाहुति-होम की विधि को बताकर अग्निकार्य के उपसंहार एवं भगवत्-पादार्पण प्रकार को विवेचित किया गया है।

68 श्लोकों में प्रोक्त नित्योत्सवविधि नामक बारहवें अध्याय में बलिद्रव्य के भेद से बलिरूप नित्योत्सव के त्रैविध्य, बलिभ्रमणाङ्गरूप में बलिबिम्ब के प्रयोग की

विधि, बलिवाहक के लक्षण एवं बलि-भ्रमण-प्रकार को बताकर बलिदेवार्चन-प्रसङ्ग में वास्तुनाथ, क्षेत्रनाथ, द्वारश्री, चण्डप्रचण्ड, गरुड, धातृविधातृ-कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, सर्पनेत्र, शङ्कुकर्ण, सुमुख, सुप्रतिष्ठ एवं जयविजयादि के लक्षणों को प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम आवरण में पूर्वादि दिशादशकक्रम में विविधार्चनों के विधान को सविस्तार निरूपित करके बलिदान के प्रकारों, मुखमण्डल में भगवदाराधन की विधि, बलिबिम्ब भगवान् के यथास्थान निवेशन तथा अर्घ्यादि दान को प्रस्तुत किया गया है। अन्त में नित्योत्सव के निषेध-विशेष का सङ्केत करके अतिदानादि के विवेक के साथ बलिप्रदान में यथाविहित मुद्राओं की दर्शनविधि का सङ्केत किया गया है।

एक सौ तीन श्लोकों में प्रोक्त 'मुद्रालक्षणविधि' नामक तेरहवें अध्याय में मुद्रा के लक्षण, मुद्रा शब्द के अर्थ, मुद्रादर्शन की विधि, मुद्रा के गोप्यत्व एवं मुद्रादर्शन-प्रकार का सारगर्भित शब्दों में विवेचन करके हृन्मुद्रा, शीर्षमुद्रा, ज्ञानतत्त्वन्यास-मुद्रा, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-मुद्रा, शङ्ख-चक्र-मुद्रा, चण्ड-प्रचण्ड-मुद्रा, धूप-दीपमुद्रा, सर्वार्थसाधनी तथा शक्तिमुद्रा आदि 76 मुद्राओं के लक्षण अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बोधगम्य शैली द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रतिष्ठाविधि नामक चतुर्दश अध्याय में प्रतिष्ठाविधि के समस्त अङ्गोपाङ्ग-विधानों यथा मण्डल-कुण्ड, अष्टमङ्गलादि की व्यवस्था, जलाधिवास, बिम्ब का मन्दिरप्रांगण में प्रवेश, बिम्ब के स्नपन प्रकार, नेत्रोन्मीलन, घृतादिदर्शनानन्तर स्नपनार्चन, शयनाधिवास, ध्यानाधिवास-मन्त्रन्यासविधि, मन्त्रन्यास के पश्चात् विहित अर्चनादि क्रियाकलाप, बिम्बप्रतिष्ठा-पदार्थ, स्थानविवेक, रत्नादि-न्यास तथा पीठस्थापन-प्रकार, पीठोपरि गरुडादि-न्यास आदि के सहित बिम्ब की प्रतिष्ठा-विधि प्रतिष्ठित बिम्ब के स्नपन की विधि तथा मन्त्रमूर्ति की प्रतिष्ठा-विधि, प्रतिष्ठा में प्रशस्त काल का विवेचन आदि विषयों का विस्तृत निरूपण किया गया है।

78 श्लोकों से युक्त पन्द्रहवें अध्याय में मण्डलपूजनविषयिका काश्यप की जिज्ञासा को शान्त करते हुए मण्डल-विन्यास के उपक्रम को विस्तृत-रूपेण प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में वासुदेव-नारायण-भद्रक-स्वस्तिक एवं सौरसौम्य मण्डलों के कल्पनप्रकार को प्रस्तुत करके पीठादिक बिना चक्राब्ज मण्डल एवं चक्र बिना केवल पद्ममण्डल की विधि को बताया गया है। अध्याय के अन्त में विविध मण्डलों में वर्णसंयोजन के विविध प्रकारों एवं विविधार्चन-वैशिष्ट्यों को निरूपित किया गया है।

विशेषदिवसपूजा-विधि नामक सोलहवें अध्याय में 121 श्लोकों के माध्यम से चातुर्मास्यादि में विशेष दिवसों पर भगवदाराधना के उपक्रम को प्रस्तुत किया गया है। ज्येष्ठ अथवा आषाढ मास की शुक्लपक्ष की दशमी से आरभ्भ होकर चातुर्मास्य के विविध दिवस-विशेषों के आराधनार्थ चक्राब्ज-मण्डल एवं कुम्भ आदि के आराधन-प्रकार को भगवत् शयन के विधान को प्रस्तुत करके तदाराधन का सम्यक् निरूपण किया गया है।

श्रावण मास की शुक्ला द्वादशी में भगवान् के पार्श्वपरिवर्तन की विधि, आश्विन मास की शुद्ध द्वादशी में भगवदासन की विधि एवं कार्तिक शुद्ध द्वादशी में भगवदुत्थापन की विधि को सोत्सवनिरूपण प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण के आविर्भावकाल का सङ्केत करके श्रीकृष्ण के जन्मदिवसोत्सव का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण, श्रीराम एवं लक्ष्मी तथा नृसिंह के जन्मदिवसोत्सवाचरण का वर्णन करके कार्तिक मास की कृष्णा द्वादशी को भगवदर्चन एवं कार्तिक अमावस्या को दीपोत्सवाचरण का सम्यग् निरूपण इस अध्याय का अन्तिम अलङ्करण है।

अङ्कुरार्पणविधिनामक सत्रहवें अध्याय में 257 श्लोकों के माध्यम से सर्वप्रथम नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य महोत्सवों के लक्षण प्रस्तुत करके महोत्सवकाल में निषिद्धकाल एवं ध्वजारोहणकाल का निर्देश किया गया है। इसके बाद भेरीवादन एवं अङ्कुरार्पणकाल का सङ्केत करके ध्वजपट, पताकादि के लक्षण सहित पताकास्थ गरुडादि के लक्षण-आलेखन एवं नयनोन्मीलनादि को निर्दिष्ट करते हुए ध्वज-गरुडादि की अर्चनविधि को प्रस्तुत किया गया है। ध्वज-गरुडादि के सम्यग् अर्चनान्तर कुमुद-कुमुदाक्ष-पुण्डरीक-सर्पनेत्रादि देवताओं के आवाहनादि के साथ दिव्य-आयुधादि की आवाहन विधि को प्रस्तुत किया गया है। महोत्सव प्रसङ्गों की यथाविधि चर्चा करते हुए महोत्सव के महत्त्वपूर्ण अंग अङ्कुरार्पण समारोह को साङ्गोपाङ्ग विवेचित करके अध्याय को इति प्रदान की गयी है।

189 श्लोकों से मण्डित उत्सवविधि नामक अट्ठारहवें अध्याय में उत्सव-विधि के सम्यग् निरूपण-हेतु बीथीशोधनादि क्रियाकलापों, यात्रामण्डप-निर्माण एवं तदलङ्करण प्रकारों का निर्देश करके आचार्यादि के वरण की व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है। इसके पश्चात् उत्सव के आरम्भ दिवस पर भगवत्-स्नपन, कौतुकबन्ध, कुम्भार्चन-प्रकार, होम बलि एवं अन्नमूर्त्युत्सर्गादि विधियों को प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार अन्य अपेक्षित विधियों का यथावश्यक निर्देश करते हुए उत्सवाचरण के फल एवं विष्वक्सेनार्चन के निरूपण-पूर्वक अध्याय को समष्टि प्रदान की गयी है।

स्नपन विधि नामक उन्नीसवें अध्याय में अङ्कुरार्पण, कौतुकबन्धन एवं अधिवास के पश्चात् स्नपन-विधि के स्पष्ट निर्देश-हेतु मण्डप, स्नानवेदिका एवं स्नपनोपकरणों का निर्देश करके अङ्गोपाङ्गों सहित उत्तम-मध्यम एवं अधम स्नानविधियों को विधिपूर्वक विवेचित किया गया है। 108, 49, 25, 15, 12, 9, 5, एवं 2 कलश के माध्यम से विहित स्नपन-व्यवस्था को भी यथाक्रम इस अध्याय का विवेच्य बनाया गया है।

सहस्रकलशस्नपनविधि नामक बीसवें अध्याय में 1000 कलशों द्वारा स्नपन का आद्योपान्त वर्णन करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम सहस्र-कलशस्नपन का वर्णन करके ब्रह्मदैविकादि भागों में स्नपन द्रव्यों के न्यास प्रकार को निरूपित किया गया है। इसके पश्चात् मानुषभाग एवं ब्रह्म स्थान में स्नपन द्रव्यों एवं शुद्धोदकपूरणविधि को श्रीवत्सलाद्यर्चन विधि के साथ निरूपित किया गया है। एतदनन्तर ऋत्विजों के वरण-पूर्वक सहस्रकलश-स्नपन प्रकार को प्रस्तुत करके हरिद्राचूर्णाभिषेक के फल-निर्देश के साथ हरिद्राद्यभिषिक्त देव के अलङ्कार-भोजन एवं आसनादि उपचारार्पण, गुर्वादि को दक्षिणादान एवं भगवदाराधन के फल को व्यक्त किया गया है।

प्रासाद-निर्माण विधि-नामक इक्कीसवें अध्याय में 123 श्लोकों के माध्यम से देवालयों की निर्माण-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए देवालय के निर्माण की महिमा का निर्देश करके उपादानद्रव्य-भेद से देवालय के उत्तम-मध्यमादि भेदों सहित देवालय निर्माण-हेतु प्रशस्तकाल एवं भूमि-परीक्षा का निर्देश किया गया है इस प्रकार निमित्त-परीक्षणपुरस्सर देवालय के उपक्रम को बालालय अथवा कृत्रिमाबद्ध प्रसङ्ग से लेकर गर्भन्यास एवं मूर्धेष्टका-स्थापन-विधि पर्यन्त प्रस्तुत करके देवालय-निर्माण के फल को निरूपित किया गया है।

68 श्लोकों से युक्त बिम्बमान नामक बाइसवें अध्याय में प्रतिमाओं के प्रामाणिक परिमाण अर्थात् आकारादि की आदर्श मापों की विवेचना करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम शिलाओं के चातुर्विध्य, ग्राह्याग्राह्य तथा संग्रहण-प्रकार का सङ्केत करके देवादि के लिङ्ग पर आधृत शिलाओं के विनियोग की चर्चा की गयी है। इसके पश्चात् बिम्ब के प्रमाण-विवेक के प्रसङ्ग में आसीन-शयानादि बिम्बों के प्रमाणों तथा पीठ-कल्पन प्रकारों का संकीर्तन करके देवों की प्रतिमाओं के अवस्थान-विधान को प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में बिम्बों के प्रभाकल्पन के पश्चात् उष्णीष केशान्तादि बिम्बों के अङ्गोपाङ्गों के परिमाण को विवेचित किया गया है।

जीर्णोद्धारविधि-नामक तेइसवें अध्याय में मात्र 44 श्लोकों द्वारा जीर्ण बिम्बों के पुनःसन्धान एवं अधिवासादि विधि को बताकर देवालय की जीर्णोद्धार विधि को सर्वाङ्गतः विवेचित किया गया है। अन्त में दोषों के तारतम्यानुरोध में सम्प्रोक्षक निमित्तों एवं सम्प्रोक्षक विधियों को प्रस्तुत अध्याय में जीर्णोद्धार विधि को समष्टि प्रदान की गयी है।

पवित्रारोपण-विधि नामक चौबीसवें अध्याय में 102 श्लोकों के द्वारा पवित्रारोपण की महिमा एवं काल आदि के निर्देश के साथ विविध कर्मोपात्त तन्तुग्रन्थि-संख्या का निर्देश प्रस्तुत किया गया है। तन्तुग्रन्थि की संख्या का निर्देश करने के पश्चात् ग्रन्थिमध्य-पूरणप्रकार तथा ग्रन्थ्यन्तरालरञ्जन-प्रकार का वर्णन करके पवित्रारोपण के अङ्गस्वरूप भगवद्विज्ञापन एवं अधिवासादि क्रियाकलापों की विस्तार से चर्चा की गयी है। एतदनन्तर मूल बिम्बों में पवित्रारोपण के प्रकार, पवित्रारोपणाङ्ग गुर्वादि-दक्षिणा तथा धाम-प्रदक्षिण-भ्रमण-विधि का वर्णन करके पवित्रारोपण, अवरोपित पवित्रियों के विनियोग, देवेशस्नपन एवं पवित्रारोपण के फल-निर्देश-पूर्वक कल्हारकुसुमार्पण एवं दमनारोपण विधि का सङ्केत किया गया है।

उपर्युक्त कल्हारकुसुमार्पण-विधान की व्यापक व्यवस्था का निर्देश करने के उद्देश्य से प्रोक्त कल्हारकुसुमारोपण विधि नामक पच्चीसवें अध्याय में 186 श्लोकों द्वारा सर्वप्रथम अम्बरीश-उपाख्यान के द्वारा कल्हारकुसुमार्पण की महिमा का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् विश्वामित्र के द्वारा अपने तेज एवं संवृद्धिहेतु पूर्वकृत कल्हारकुसुमार्चन का विवरण प्रस्तुत करके कल्हारकुसुमारोपण के काल एवं अधिकारादि का वर्णन करते हुए कल्हारकुसुम की चयनविधि का निर्देश किया गया है। एतदनन्तर कल्हार-द्वारा के निर्माण-प्रक्रिया का उपक्रम प्रस्तुत करते हुए कल्हार-द्वारा के प्रमाण एवं पुष्पसंख्यादि का निर्देश करके कल्हारकुसुमारोपाङ्ग कौतुक-बन्धनादि की प्रस्तुति सहित कल्हारमालारोपण उत्सव को फल-व्यक्तिपूर्वक सम्पन्नता प्रदान की गयी है।

91 श्लोकों में प्रोक्त प्रसङ्गोपात्त दमनारोपण-विधि नामक उपान्तिम अध्याय में कल्हारपुष्पवत् दमन-पत्रों के विधिवदर्पण-हेतु दमनरोपण के काल-निर्देश, पत्रानयन एवं अङ्गभूत कौतुकबन्धादि विधियों का वर्णन करके दमनी-पत्रपूजन के फलनिर्देशपर्यन्त दमनारोपण अनुष्ठान का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

61 श्लोकों में प्रोक्त प्रायश्चित्त-विधि नामक अन्तिम अध्याय में भगवदाराधन

स्नपन विधि नामक उन्नीसवें अध्याय में अङ्कुरार्पण, कौतुकबन्धन एवं अधिवास के पश्चात् स्नपन-विधि के स्पष्ट निर्देश-हेतु मण्डप, स्नानवेदिका एवं स्नपनोपकरणों का निर्देश करके अङ्गोपाङ्गों सहित उत्तम-मध्यम एवं अधम स्नानविधियों को विधिपूर्वक विवेचित किया गया है। 108, 49, 25, 15, 12, 9, 5, एवं 2 कलश के माध्यम से विहित स्नपन-व्यवस्था को भी यथाक्रम इस अध्याय का विवेच्य बनाया गया है।

सहस्रकलशस्नपनविधि नामक बीसवें अध्याय में 1000 कलशों द्वारा स्नपन का आद्योपान्त वर्णन करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम सहस्र-कलशस्नपन का वर्णन करके ब्रह्मदैविकादि भागों में स्नपन द्रव्यों के न्यास प्रकार को निरूपित किया गया है। इसके पश्चात् मानुषभाग एवं ब्रह्म स्थान में स्नपन द्रव्यों एवं शुद्धोदकपूरणविधि को श्रीवत्सलाद्यर्चन विधि के साथ निरूपित किया गया है। एतदनन्तर ऋत्विजों के वरण-पूर्वक सहस्रकलश-स्नपन प्रकार को प्रस्तुत करके हरिद्राचूर्णाभिषेक के फल-निर्देश के साथ हरिद्राद्यभिषिक्त देव के अलङ्कार-भोजन एवं आसनादि उपचारार्पण, गुर्वादि को दक्षिणादान एवं भगवदाराधन के फल को व्यक्त किया गया है।

प्रासाद-निर्माण विधि-नामक इक्कीसवें अध्याय में 123 श्लोकों के माध्यम से देवालयों की निर्माण-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए देवालय के निर्माण की महिमा का निर्देश करके उपादानद्रव्य-भेद से देवालय के उत्तम-मध्यमादि भेदों सहित देवालय निर्माण-हेतु प्रशस्तकाल एवं भूमि-परीक्षा का निर्देश किया गया है इस प्रकार निमित्त-परीक्षणपुरस्सर देवालय के उपक्रम को बालालय अथवा कृत्रिमाबद्ध प्रसङ्ग से लेकर गर्भन्यास एवं मूर्धेष्टका-स्थापन-विधि पर्यन्त प्रस्तुत करके देवालय-निर्माण के फल को निरूपित किया गया है।

68 श्लोकों से युक्त बिम्बमान नामक बाइसवें अध्याय में प्रतिमाओं के प्रामाणिक परिमाण अर्थात् आकारादि की आदर्श मापों की विवेचना करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम शिलाओं के चातुर्विध्य, ग्राह्याग्राह्य तथा संग्रहण-प्रकार का सङ्केत करके देवादि के लिङ्ग पर आधृत शिलाओं के विनियोग की चर्चा की गयी है। इसके पश्चात् बिम्ब के प्रमाण-विवेक के प्रसङ्ग में आसीन-शयानादि बिम्बों के प्रमाणों तथा पीठ-कल्पन प्रकारों का संकीर्तन करके देवों की प्रतिमाओं के अवस्थान-विधान को प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में बिम्बों के प्रभाकल्पन के पश्चात् उष्णीष केशान्तादि बिम्बों के अङ्गोपाङ्गों के परिमाण को विवेचित किया गया है।

जीर्णोद्धारविधि–नामक तेइसवें अध्याय में मात्र 44 श्लोकों द्वारा जीर्ण बिम्बों के पुनःसन्धान एवं अधिवासादि विधि को बताकर देवालय की जीर्णोद्धार विधि को सर्वाङ्गतः विवेचित किया गया है। अन्त में दोषों के तारतम्यानुरोध में सम्प्रोक्षक निमित्तों एवं सम्प्रोक्षक विधियों को प्रस्तुत अध्याय में जीर्णोद्धार विधि को समष्टि प्रदान की गयी है।

पवित्रारोपण–विधि नामक चौबीसवें अध्याय में 102 श्लोकों के द्वारा पवित्रारोपण की महिमा एवं काल आदि के निर्देश के साथ विविध कर्मोपात्त तन्तुग्रन्थि–संख्या का निर्देश प्रस्तुत किया गया है। तन्तुग्रन्थि की संख्या का निर्देश करने के पश्चात् ग्रन्थिमध्य–पूरणप्रकार तथा ग्रन्थ्यन्तरालरञ्जन–प्रकार का वर्णन करके पवित्रारोपण के अङ्गस्वरूप भगवद्विज्ञापन एवं अधिवासादि क्रियाकलापों की विस्तार से चर्चा की गयी है। एतदनन्तर मूल बिम्बों में पवित्रारोपण के प्रकार, पवित्रारोपणाङ्ग गुर्वादि–दक्षिणा तथा धाम–प्रदक्षिण–भ्रमण–विधि का वर्णन करके पवित्रारोपण, अवरोपित पवित्रियों के विनियोग, देवेशस्नपन एवं पवित्रारोपण के फल–निर्देश–पूर्वक कल्हारकुसुमार्पण एवं दमनारोपण विधि का सङ्केत किया गया है।

उपर्युक्त कल्हारकुसुमार्पण–विधान की व्यापक व्यवस्था का निर्देश करने के उद्देश्य से प्रोक्त कल्हारकुसुमारोपण विधि नामक पच्चीसवें अध्याय में 186 श्लोकों द्वारा सर्वप्रथम अम्बरीश–उपाख्यान के द्वारा कल्हारकुसुमार्पण की महिमा का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् विश्वामित्र के द्वारा अपने तेज एवं संवृद्धिहेतु पूर्वकृत कल्हारकुसुमार्चन का विवरण प्रस्तुत करके कल्हारकुसुमारोपण के काल एवं अधिकारादि का वर्णन करते हुए कल्हारकुसुम की चयनविधि का निर्देश किया गया है। एतदनन्तर कल्हार–द्वारा के निर्माण–प्रक्रिया का उपक्रम प्रस्तुत करते हुए कल्हार–द्वारा के प्रमाण एवं पुष्पसंख्यादि का निर्देश करके कल्हारकुसुमारोपाङ्ग कौतुक–बन्धनादि की प्रस्तुति सहित कल्हारमालारोपण उत्सव को फल–व्यक्तिपूर्वक सम्पन्नता प्रदान की गयी है।

91 श्लोकों में प्रोक्त प्रसङ्गोपात्त दमनारोपण–विधि नामक उपान्तिम अध्याय में कल्हारपुष्पवत् दमन–पत्रों के विधिवदर्पण–हेतु दमनरोपण के काल–निर्देश, पत्रानयन एवं अङ्गभूत कौतुकबन्धादि विधियों का वर्णन करके दमनी–पत्रपूजन के फलनिर्देशपर्यन्त दमनारोपण अनुष्ठान का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

61 श्लोकों में प्रोक्त प्रायश्चित्त–विधि नामक अन्तिम अध्याय में भगवदाराधन

में ज्ञानाज्ञान से आपतित विविध त्रुटियों, भूलों, स्खलनों एवं अपराधों की स्थिति में विहित यथापराध विविध प्रायश्चित्त अनुष्ठानों की विस्तार से चर्चा की गयी है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण 32 प्रायश्चित्तों से सम्पन्न प्रस्तुत अध्याय के अन्त में प्रायश्चित्त आचरण के फल का निर्देश करके विश्वामित्रसंहिता का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए पाञ्चरात्रोपदेशाधिकार एवं काश्यप की परमधामाप्ति के सङ्केत के साथ विश्वामित्र संहिता का प्रवचन समष्टि को प्राप्त हो जाता है।

विष्णु-संहिता

महामहोपाध्याय टी. गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित विष्णुसंहिता सर्वप्रथम वर्ष 1925 में त्रिवेन्द्रम से देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुई थी। बाद में इसी को प्रो. एन. पी. उन्नी के परिचयात्मक अंशों तथा श्लोकानुक्रम सूची के साथ 1992 में दिल्ली से प्रकाशित किया गया है। दिल्ली से प्रकाशित प्रस्तुत संहिता में प्रो. उन्नी की विस्तृत भूमिका में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय सहित वैष्णव सम्प्रदाय की समस्त पृष्ठभूमि को सागरर्भित शब्दों में प्रस्तुत किया गया है।

लगभग दो हजार छह सौ श्लोकों में प्रोक्त प्रस्तुत संहिता तीस पटलों में विभक्त है। क्रम से संहिता का प्रतिपाद्य इस प्रकार है।

52 श्लोकों से मण्डित प्रथम पटल में श्रीशैलशिखर पर आसीन विष्णुलोकयात्राकृत् सुमति नामक सिद्ध से वैष्णवी सिद्धान्त की जिज्ञासा व्यक्त करते हुए औपमन्यु (औपगायन्) को सन्तुष्ट करने के उपक्रम में विष्णुसंहिता की रूपरेखा के रूप में विष्णुसंहिता के अवतरणक्रम को बताया गया है। अध्याय के अन्त में किसी एक सौ आठ अध्यायों वाली विष्णुसंहिता का सङ्केत करके बताया गया है कि प्रस्तुत त्रिंशत्पटलात्मिका संहिता में उन सभी अर्थों को संग्रहीत कर लिया गया है जो अष्टोत्तरशताध्यायी महती विष्णुसंहिता में प्रोक्त हैं।

प्रस्तुत पटल में 53.1/2 श्लोकों में द्वितीय शाश्वत सिद्धि के सम्पादनार्थ तन्त्रव्याख्यान को आदितः प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत उपक्रम में सर्वप्रथम तन्त्र की परिभाषा बताते हुए तन्त्रों के भेदोपभेदों को तन्त्रप्रामाण्य सहित निरूपित किया गया है। इसके बाद अतिविस्तृत पञ्चरात्र के भेदोपभेदों का सङ्केत करके इसके वैखानस आदि पञ्चविध भेदों को उनके स्वरूपों-सहित निर्दिष्ट किया गया है। भक्तों, भागवत-भक्तों, दासों, पार्षदों तथा भागवतों के लक्षण-निर्देश पूर्वक-दीक्षित शिष्य

के समयी, पुत्रक, साधक, देशिक तथा गुरु के लक्षणों को भी प्रस्तुत संहिता का विषय बनाकर पञ्चरात्र को प्रमाणप्रवर तन्त्र के रूप में महिमान्वित किया गया है।

89 श्लोकों के द्वारा तृतीय पटल में विष्णु-वैभव के व्याख्यान के उद्देश्य से सर्वप्रथम संसार के एकमात्र देव के रूप में विष्णु का सङ्केत करके उसके माया, प्रकृति, तीन गुणों, चार व्यूहों, वेदों तथा युगों के रूप में उसके विविध स्वरूपों का निर्देश किया गया है। नारायण, नृसिंह, वराह, वामन, राम, ब्रह्म, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र आदि नवरूपों में तथा इन्द्र, अग्नि, यमादि दश रूपों में उसी विष्णु की व्याप्ति का सङ्केत करके इसके विविध अङ्गों को ही सूर्य, चन्द्र, वायु, आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपर्युक्त विधि से विष्णु की सर्वात्मकता का प्रतिपादन करके पुरुष-सूक्त में वर्णित मत का अनुवर्तन करते हुए इसके मुख, बाहु, ऊरु तथा पादप्रदेशों से चातुवर्ण्य की क्रमिक उत्पत्ति का निर्देश है। समस्त चराचर जगत् में विष्णु की व्यापकता तथा समस्त देवशास्त्रादि की विष्णुपरकता का स्पष्ट सङ्केत करके सूक्ष्म, स्थूल एवं पर रूप में भगवान् की सर्वत्र स्थिति का उद्घोष करते हुए विष्णु के वैभव का मंजुल वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में जगत् के सम्पूर्ण व्यापारों को इसी विष्णु की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया रूप शक्तियों द्वारा सम्पन्न बताकर विविध रूपकों के माध्यम से विष्णवैकत्व को विभावित किया गया है।

मुख्यतः क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ-निर्णय के लिए समर्पित चतुर्थ पटल में श्लोकों के माध्यम से प्रकृति एवं पुरुष के योगायोग, भोक्तृभोज्यत्व अर्थात् सृष्टिसंहारयोग का सङ्केत करके सांख्यदर्शनवत् प्रकृति, ईश्वर सहित अव्यक्त बुद्ध्यहंकारादि 24 तत्त्वों को स्वरूप सहित विवेचित किया गया है। इसके बाद शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप पञ्चशक्तियों-सहित विष्णु की चित् शक्ति का सङ्केत करके सूक्ष्मशरीरपर्यन्त सृष्टि प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसके ठीक विपरीत प्रलय प्रक्रिया को भी विवेचित करते हुए विष्णु की उपासना तथा दीक्षितादीक्षित भेद से भक्तों के द्वैविध्य को उनके स्वरूप सहित निरूपित किया गया है।

मन्त्रों को वीर्यवान् एवं इष्टप्रद बनाने के उद्देश्य से मन्त्रोद्धारविधि के विवेचन से मण्डित पञ्चम पटल में 79 श्लोकों द्वारा सर्वप्रथम मातृकाचक्र अर्थात् मन्त्रों के वर्णचक्र को सौष्ठव प्रदान किया गया है। मातृकालेखन के पश्चात् सरस्वती-पूजन का विधान प्रस्तुत करते हुए षडक्षर, मूल अथवा अष्टाक्षर एवं द्वादशाक्षर मन्त्रों के वर्णविन्यासों सहित बीजादि रहस्यों को प्रस्तुत करके उपर्युक्त त्रिविध मन्त्रों का

व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में आकर्षण वशीकरण एवं उच्चाटनादि में इनके विनियोग विधि का भी निर्देश किया गया है।

षष्ठ पटल में स्नान-आचमनादि पूजा-विधि के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के उद्देश्य से सर्वप्रथम स्नान, आचमन, मन्त्रन्यास, प्रणव, तर्पण, मार्जन एवं अङ्गन्यासादि अर्चनाङ्गों को निर्दिष्ट करके यागस्थान पर पदार्पण करने का विधान है। इसके बाद मण्डल-स्थण्डिलादि का आलोकन करके दिग्बन्धादि पुरस्सर प्राणायामादि अनिवार्य अर्चनाङ्गों को प्रकाशित किया गया है। इस प्रकार यथाविहित अस्त्र-शस्त्र-देव-शक्ति आदि की यथाविहित स्थिति का निर्देश करते हुए पार्षदों आदि सहित विष्णु की आराधना का यथोचित क्रम एवं उसका फल निरूपित करके पूजाविधि निरूपक प्रस्तुत पटल सम्पूर्ण हो जाता है।

न्यासादि में प्रयोज्य विविध मुद्राओं के लक्षण-स्वरूप विनियोग एवं महत्त्व को विवेचित करने के उद्देश्य से प्रोक्त सप्तम पटल में 58 श्लोकों द्वारा अञ्जलि, वन्दनी, ऊर्ध्वाङ्गुष्ठ, श्रीवत्स, कौस्तुभ-माला आदि छह विशेष मुद्राओं सहित तीस अन्य साधारण मुद्राओं को विवेचित करके उनकी गोपनीयता को प्रकाशित किया गया है।

86 श्लोकों में प्रोक्त अष्टम पटल में अग्नि-संस्कार के समस्त पक्षों को निरूपित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम कुण्ड-निर्माण हेतु अपेक्षित समस्त पक्षों यथा कुण्ड के परिमाण, आकृति, प्रतीकात्मक आलेखनों आदि को प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद शिष्य द्वारा समस्त होम-उपकरणें का संग्रह करके अग्नि प्रज्वलनार्थ इसके पुंसवन, सीमन्तोनयन-जातकर्म, नामकरण तथा अन्नप्राशनादि संस्कारों को सम्पन्न करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद हवन-प्रक्रिया का उपक्रम प्रस्तुत करते हुए पूर्णाहुति-पर्यन्त विविध होमविधानों को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार विष्णुसंहिता का प्रस्तुत पटल अग्निकार्य विधानों में समलङ्कृत है।

सार्वकामिक-मण्डल-विवेचन के उद्देश्य से प्रोक्त नवम पटल में यागभूमि की परीक्षा, संशोधनादि का निर्देश करके मण्डप-निर्माण की विधि बताते हुए वेदी आदि सहित मण्डल-निर्माण की विधि का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में मण्डल-निर्माण-हेतु यथावश्यक निर्देश, परिमाण एवं मण्डलाकृतियों के रहस्य को विवेचित करके मण्डलनिर्माणपूर्वक पूजन के फल को निरूपित किया गया है। चक्राब्ज-मण्डल प्रस्तुत पटल का मुख्य विचेच्य है।

विष्णुसंहिता के दसवें पटल का मुख्य प्रतिपाद्य दीक्षाविधि है। सर्वप्रथम दीक्षा

की परिभाषा करते हुए दीक्षा-हेतु उपयुक्त मासों एवं तिथि विशेष का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार दीक्षोपकरणों के संग्रह के पश्चात् आचार्य द्वारा दीक्षित शिष्यों को उपदेश पर्यन्त दीक्षा-विधि के सम्पूर्ण चरणों को क्रमबद्ध रूप से विधिवत् प्रस्तुत किया गया है।

दीक्षित शिष्य के पवित्र स्नानरूप 'अभिषेक' संस्कार के साङ्ग निरूपण के उद्देश्य से ग्यारहवें पटल में श्लोकों द्वारा पुत्रक, देशिक तथा अर्चन शिष्यों के लक्षणों का वर्णन करके अभिषेचन क्रिया में सम्पाद्यमान क्रियाओं को एकैकशः प्रस्तुत करते हुए दीक्षिताभिषेक विधान को समष्टि प्रदान की गयी है।

94 श्लोकों से युक्त बारहवें पटल में भूमिलक्षण-प्रसङ्ग को स्वरूप प्रदान करते हुए सर्वप्रथम भूमि के उत्तम, मध्यम, अधम त्रिविध भेदों के साथ जातिभेद से भूमि के सुपद्मा, भद्रिका, पूर्णा तथा धूम्रा सञ्ज्ञक चार भेदों का लक्षणदिपूर्वक निर्देश किया गया है। इसके बाद पृथ्वी के वर्ण, स्वाद, उत्पादकता, वनस्पति तथा जन्तुविशेषों के लक्षणों एवं शुभाशुभ फलों का निर्देश करके मन्दिर निर्माणार्थ भूमि के चयन से लेकर वास्तुपूजा के विधान को प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार अन्य विधानों का सङ्केत करते हुए कूर्मस्थापन भूमि के चयन से लेकर वास्तुपूजा के विधान को प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार अन्य विधानों का सङ्केत करते हुए कूर्मस्थापन एवं गणेशपूजनादि-सहित मन्दिर-निर्माणार्थ अत्यावश्यक निर्देशों के साथ भूमिलक्षणोपक्रम को उपसंहार प्रदान किया गया है।

मन्दिर-प्रासाद के निर्माण के लिए भूमि-चयन हेतु अपेक्षित तथ्यों को प्रस्तुत करने के पश्चात् तेरहवें पटल में मन्दिर-निर्माण की विधि को समुचित ढंग से निरूपित किया गया है। 87 श्लोकों के द्वारा प्रस्तुत पटल में सर्वप्रथम द्वार के दक्षिण भाग में प्रथमेष्टका-स्थापन के संस्कार का निरूपण करके गर्भाधान एवं गर्भपात्रस्थापन के निर्देश के साथ मन्दिर के शिलान्यास का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद यथाप्रस्तावित योजना के अनुरूप मन्दिर-निर्माण एवं साजसज्जा का स्पष्ट निर्देश है। मन्दिर के प्रत्येक अवयव के परिमाण आदि को बताते हुए मन्दिर-हेतु प्रस्तर, इष्टका, काष्ठ आदि की उपयुक्तता की चर्चा भी प्रस्तुत में की गयी है।

106 श्लोकों में प्रोक्त चौदहवें पटल में देवप्रतिमाओं के निर्माणद्रव्यों, उनके औचित्यों, द्रव्यों के ग्राह्याग्राह्य स्थलों एवं मूर्ति-विशेषों के आधार पर प्रजोज्य द्रव्य-विशेषों का निर्देश करके विभिन्न उपदानों यथा रत्न, धातु, प्रस्तर, काष्ठादि से निर्मित मूर्तियों के गुण-वैशिष्ट्यों के साथ मूर्ति-मान अर्थात् प्रतिमा-मान के विज्ञान को यथावश्यक रूप में विवेचित किया गया है।

अभिलषित प्रतिष्ठापञ्चक-निरूपक पन्द्रहवें पटल में स्थापना, आस्थापना, संस्थापना, प्रस्थापना एवं प्रतिष्ठापना सञ्ज्ञक पञ्चविध प्रतिष्ठा-विधि के निरूपण के उद्देश्य से स्थित, आसीन, शयनापन्न, यानगत एवं चल मूर्तियों की व्यवस्था का निर्देश करके प्रतिष्ठाकाल, अङ्कुरार्पण, भूतबलि आदि के निरूपण-पूर्वक प्रतिष्ठाविधि को विवेचित करने की पृष्ठभूमि तैयार की गयी है।

बिम्बशुद्धि के यथाक्रम व्याख्यान के उद्देश्य से प्रोक्त षोडश पटल में देवीदेवादि-प्रतिमाओं के शुद्धीकरण के उपक्रम को प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सर्वप्रथम जड एवं स्थावर देव-प्रतिमाओं की पूजा का निर्देश करके आचार्य के लक्षणों का प्रवचन किया गया है। इसके बाद शुद्धीकृत यजमान द्वारा शिल्पी से मूर्ति लेकर उसके नयनोन्मीलन, विविध विशुद्धीकरण जलाधिवास तथा अन्य आवश्यक क्रियाओं के पश्चात् अग्निहोम, कुम्भपूजा तथा कौतुकबन्ध सहित स्नान वस्त्राद्यलङ्करणों से मण्डन का विधान है। इसके बाद अलङ्करण, आरात्रिका, धूप, फल, आचमनीय जलादि समर्पण-पूर्वक मूर्ति को शयनासन प्रदान करने के विधान के साथ प्रस्तुत पटल सम्पन्न हो जाता है।

पूर्व अध्याय में प्रतिष्ठाप्य मूतियों के शयनासन के विधान के पश्चात् सत्रहवें पटल में मूर्तियों के अधिवासन-हेतु 115 श्लोक समर्पित है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सर्वप्रथम विशिष्ट प्रणव-प्रक्रिया का निर्देश करके विष्णु के ध्यानपूर्वक भावान्वित विष्णु के अधिवासन करने का विधान है। जिसके माध्यम से आचार्य द्वारा विविध सृष्ट्यात्मक शक्तियों यथा समस्त तत्त्वों, भूतों आदि की मूर्तियों में विन्यस्त कर दिया जाता है। इसके बाद अन्य विविध चरणों को सम्पन्न करते हुए प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान सञ्ज्ञक पञ्च वायु सहित यथाविहित अङ्गों में नागादि को न्यस्त करके मूर्ति के सजीवीकरण के उपक्रम को सम्पन्न करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार मूर्तियों की आराधना हेतु मन्त्रों की क्रमबद्ध प्रयोज्यता को स्थान प्रदान करते हुए पटल समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त प्रतिष्ठा उत्सव अर्थात् मूर्तिस्थापन-पूर्वायामों के पश्चात् दूसरे दिन वास्तुयात्रानन्तर मूर्तियों को यथास्थान स्थापित करने के प्रसङ्ग में नान्दीमुख तथा छह, आठ अथवा बारह वैष्णवब्राह्मणों के भोजन का विधान प्रस्तुत किया गया है। मुख्य मूर्ति की स्थापना के पश्चात् पञ्चोपनिषद् मन्त्र के द्वारा मूर्तियों में प्राण प्रतिष्ठा करके उनके अभिषेक-पूर्वक मन्त्रन्यास के साथ आचार्य द्वारा यथोचित मुद्रा-प्रयोगों द्वारा ईश्वर के प्रथम अर्चन का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद मन्दिर के द्वारपालों

एवं परिवार देवताओं को संस्थापित करके समस्त अन्य अधिष्ठातृ देव-देवियों को यथास्थान आहूत किये जाने का विधान है। एतदनन्तर विष्वक्सेनार्चन के साथ ही कर्मार्चा एवं बलिपीठ के विधान को प्रस्तुत किया गया है। पटल के अन्त में प्रतिष्ठान्तर समर्प्य सामग्री आदि में विनियोज्य विधियों एवं नियमाचरणों को प्रस्तुत करके प्रतिष्ठा के फल एवं कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण निर्देशों को विवेचित किया गया है।

विविध प्रतिष्ठान्तर-क्रियाओं के निर्देश हेतु प्रोक्त उन्नीसवें पटल में 60 श्लोकों द्वारा सर्वप्रथम समस्त दिशाओं में अनुष्ठेय होमादिकों का विधान प्रस्तुत करके समस्त दिग्देवताओं-सप्तमातृकाओं वीरभद्र, गणेश, ब्रह्मा, वराह, दुर्गा, विष्वक्सेन आदि के यथास्थान संस्थापन-मन्त्रादि का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् उपर्युक्त समस्त देवविभूतियों से बाह्यान्तर सर्व प्रदेश की रक्षा-हेतु प्रार्थना की गयी है। एतदनन्तर दण्ड-पादादि परिणामों में मन्दिरस्थ प्रधान प्रतिमा से विविध भागों के परिमाण-विशेषों को प्रस्तुत करके भद्रकाष्टक-निर्माण एवं मूर्ति के वस्त्रद्वयावेष्टन पूर्वक आठ ब्राह्मणों के द्वारा विधिवदर्चन की व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है। अन्त में मन्त्र-निर्देश-पूर्वक बलिप्रदान तथा ब्राह्मण-तर्पण एवं दक्षिणा के साथ भूतनायकार्चन-पुरस्सर आचार्य-मूर्तिपाल-दक्षिणादि का विधान प्रस्तुत करते हुए समस्त परिवार देवताओं के अभिषेकार्चन आदि का निर्देश किया गया है।

उत्सवविधि-निरूपक बीसवें पटल में देवस्थापना के पश्चात् अनुष्ठेय उत्सव-विधि के अशेष पक्षों को विस्तृत रूपेण प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सर्वप्रथम ईश्वर को प्रसन्न करने हेतु उत्सव के आयोजन का निर्देश करके मार्गशीर्ष से वैशाख-पर्यन्त छह महीने, तीन महीने, एक मास, अर्द्धमास, नव दिन, सात दिन अथवा 5 दिन पर इसके आयोजन का विधान बताया गया है। उत्सव के अवसर पर अङ्कुरार्पण तथा ध्वजारोहण सञ्ज्ञक अनुष्ठानांगों की अपरिहार्यता को बताकर श्रवण नक्षत्र में इस उत्सव की समाप्ति का विधान प्रस्तुत किया गया है। ध्वजस्तम्भस्थापन-सहित गरुडध्वजारोहण की विधि की विस्तार से चर्चा करने के पश्चात् अवभृतस्नान एवं ग्रामवीथीसम्मार्जन का विधिपूर्वक निर्देश प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद उत्सवानुष्ठान में प्रारम्भिक छह दिनों में आयोजित होने वाले ब्रह्मोत्सव में प्रयोज्य बलिदान क्रिया तथा अगले दो दिनों में सम्पन्न होने वाले कौतुकबन्ध, चूर्णाभिषेक एवं अन्य स्नपन क्रियाओं सहित पाँच वर्णों के पुष्पों से मण्डल-निर्माण की विधि बतायी गयी है। इसके बाद अन्य देवियों के लिए विविध पुष्पमण्डलों का निर्माण करके मुद्रा-न्यास एवं होम आदि के साथ विष्णुयाग का विधान प्रस्तुत किया

गया है। पटल के अन्त में उत्सव के विविध विशिष्ट दिवसों के नियमाचरणों एवं पूजन-वैशिष्ट्यों को निर्दिष्ट करते हुए नवम दिवस पर आयोज्य अवभृत स्नान के साथ उत्सव को समष्टि प्रदान की गयी है। इसके बाद दसवें दिन आयोजित किये जाने वाले तीर्थस्थान प्रक्रिया की तैयारी के रूप में पूर्वसंध्या पर आचरणीय क्रियाकलापों पर भी प्रकाश डाला गया है।

97 श्लोकों से मण्डित इक्कीसवें पटल मे तीर्थ आदि यात्रा-उत्सवों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्रस्तुत किया गया है। ग्रामप्रदेश से दो मील से भी दूर के स्थान को गन्तव्य मानकर प्रारम्भ तीर्थयात्रा के विस्तृत वर्णन को प्रस्तुत करके यथाविहित सरित् तट पर मण्डल-निर्माण पूर्वक भगवत्-प्रतिमा को आसनस्थ करने का निर्देश किया गया हे। पत्र-पुष्प समर्पणानन्तर प्रतिमा के स्नपन-विधि सहित अर्चकों के स्नान-विधान का निर्देश करते हुए प्रतिमा को वस्त्रादि से अलङ्कृत करके मन्दिर में वापस ले आने का विधान है। इसके बाद समस्त पूर्वाचरित क्रियाओं के पुनर्विधान के साथ मन्दिर के कपाटों को आवृत करके ब्राह्मण-भोज की व्यवस्था का निर्देश किया गया है। इसके बाद पटल के अर्धाधिकांश में प्रतिमा की पुनः प्रतिष्ठा करने हेतु अपेक्षित समस्त क्रियाओं की व्यापक चर्चा की गयी है।

85 श्लोकों से युक्त बलिदान-विधि नामक बाइसवें पटल में 'उत्सव' आदि में विशेषकर तीन बार प्रदान की जाने वाली नैमित्तिक बलि का निर्देश करके बलि अर्थात् भगवदादि भोज्य सामग्री को संस्कृत वह्नि आदि में पृथक्-पृथक् ढंग से तैयार करके तत्-तद् देवताओं का नाम लेते हुए 'मङ्गलं प्रदिशन्तु नः' इत्यादि प्रार्थना के साथ विष्णु, इन्द्र, वराह आदि विविध देवों को बलि प्रदान करने की व्यवस्था को विधिवत् प्रस्तुत गया है। इस प्रकार मुख्य देव सहित मन्दिर के बाह्य तथा अन्तःप्रदेशस्थ समस्त देवी-देवताओं गणपार्षदों आदि के लिए वलि-पाचन से लेकर समर्पण-पर्यन्त विधान को सविस्तार प्रस्तुत करने के बाद ज्ञानाज्ञान के हुए अपराधों एवं त्रुटियों-हेतु निश्चित प्रायश्चितों का प्रवचन करके प्रस्तुत पटल अवसान को प्राप्त हो गया है।

विष्णुसंहिता के 'विश्वार्चन' नामक तेइसवें पटल में ईश्वर के सार्वभौम स्वरूप की अर्चना के उद्देश्य से मन्दिर के समस्त देवताओं, विष्णु के समस्त आयुधालङ्करणों, प्रज्ञाबुद्धि आदि आठ शक्तियों, इन्द्र, यमादि लोकपालाष्टकों सहित समस्त उपास्यों को विष्णु रूप में मानकर इनकी अर्चना का निर्देश करते हुए इन सब से ही विष्णु के विराट्स्वरूप की परिकल्पना को प्रस्तुत किया गया है। इसी उद्देश्य से पटल के

प्रारम्भिक अर्धाधिकांश में उन विविध देवी-देवताओं एवं उपास्य शक्तियों का विवरण पूर्वक नामनिर्देश किया गया है जो ईश्वर के विश्वरूप को स्वरूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार मन्दिरार्चन में ही अखिल ब्रह्माण्ड के अर्चन को साकार करते हुए विष्णु की आराधना के फल के रूप में सालोक्य रूप मुक्ति का निर्देश किया गया है।

जीर्णोद्धारविधि नामक चौबीसवें पटल में सर्वप्रथम प्रत्येक प्रकार के बिम्ब के क्षत या भग्न हो जाने की स्थिति में सम्भावित ग्राम-राष्ट्रादि नाश का सङ्केत करके देह से देही की भाँति जीर्ण बिम्ब से नवीन बिम्ब में देवावस्थान का शाश्वत नियम बताया गया है। इसके पश्चात् शान्ति होम के निर्देश पूर्वक जीर्णमूर्ति को मन्दिर से लेकर चलने से प्रारम्भ करके नदी में उसके प्रवाह तथा यथोचित समय पर नवमूर्तिग्रहण से उसकी पुनः प्रतिष्ठापर्यन्त समस्त विधियों को यथाक्रम प्रस्तुत करके मरम्मत योग्य पुरानी मूर्ति के ही जीर्णोद्धार की विधि को बताया गया है। अन्त में रक्षोघ्न नारसिंह-सूक्त के जप का निर्देश करते हुए 'स्वस्तयेऽस्तु सदा विष्णुः' इत्यादि रूप में प्रसङ्गोपेत स्वस्तिवाचन करके नवबिम्ब स्नपन उत्सवादि के निर्देश को प्रस्तुत किया गया है।

देवप्रासाद एवं प्रतिमा के संशोधन क्रम में ही उत्पातों के निराकरण-हेतु प्रायश्चित्तादि विधानों सहित प्रासाद एवं प्रतिमा के विशुद्धीकरण के उद्देश्य से प्रस्तुत पच्चीसवें पटल में सर्वप्रथम उत्पात शब्द की व्युत्पत्ति बताकर पतन, चलन, उत्पाटनादि विविध उत्पातों का परिगणन किया गया है। इसके बाद खनन-हरण, दाह-पूरण, गोनिवासन, विप्रोच्छिष्ट तथा गव्य रूप सात स्थान-शुद्धि के तथा क्षालन, आप्लावन, स्नान, मार्जन, धारा, अवगाहन एवं अभिषेक रूप सात बिम्बशोधन के उपक्रमों को प्रस्तुत किया गया है। इसके विविध-द्रव्यों से परिपूर्ण पात्रों के सन्निधानोपक्रम को प्रस्तुत करके विविध प्रायश्चित्तों सहित तीन दिवसों में सम्पूर्ण होने वाली शुद्धि-संशोधन-क्रियाओं की समाप्ति का निर्देश एवं विधान बताकर पटल का अवसान हो गया है।

स्नपन-विधि के व्यापक वर्णन से युक्त छब्बीसवें पटल में सर्वप्रथम स्नपन-हेतुओं से समय का निर्देश किया गया है। प्रतिष्ठादि संस्कारों के चतुर्थ दिन आयोज्य स्नपनानुष्ठान में अपेक्षित मण्डप तथा एक सौ आठ कलशों की व्यवस्था सहित स्नपन-विधि को विस्तृत रूपेण विवेचित किया गया है।

नवीकरण को उद्दिष्ट करके विधीयमान प्रोक्षणादि विधि के आद्योपान्त वर्णन के लिए प्रोक्त सत्ताइसवें पटल में अन्तिम विशुद्धीकरण संस्कार के रूप में प्रोक्षणविधि

का यथावश्यक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मात्र एक दिन में ही सम्पद्यमान यह अन्तिम संशोधनपरिमार्जनात्मक संस्कार 'प्रोक्षण' ही इस पटल का विवेच्य हैं।

94 श्लोकों से अभिलषित अट्ठाइसवें पटल में उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त शेष अन्य कर्मानुष्ठानों का प्रवचन करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम लेपादि-दूषित बिम्ब के शुद्धि आदि पुरस्सर समस्त क्रियाओं को निर्दिष्ट करके कुछ शुद्धिपुष्ट्यर्थ प्रायश्चित्तों को बताया गया है। विविध लोगों के स्पर्श-मात्र में अशुद्धता को प्राप्त मूर्तियों के शुद्ध्यर्थ विहित उपायों को बताकर पवित्रारोहण संस्कार को मुर्हूतादि-सहित विवेचित करते हुए माल्यनिर्माणवूर्पक विहित प्रार्थनादि का प्रवचन किया गया है।

विष्णुसंहिता के उन्तीसवें पटल में उन आचार विचारों का निरूपण किया गया है जिन के योग से दीक्षित व्यक्तियों को समस्त सिद्धियों की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सर्वप्रथम समयी दीक्षित के गुण-वैशिष्ट्यों को निरूपित करके समयी दीक्षित के सात वर्गों का नामनिर्देश करते हुए शर्मा, वर्मा, गुप्त एवं दास-रूप चातुवर्ण्य विभाजन इस आधार पर किया गया है कि कौन सा व्यक्ति कितनी बार दीक्षा ले चुका है। एतदनन्तर वैष्णवों के सामान्य समयाचारों का स्पष्ट एवं व्यापक व्याख्यान किया गया है। स्त्री एवं शूद्रों के उपनयनादि का निषेध प्रस्तुत करके व्यक्ति की आश्रमाधृत संज्ञा-चतुष्टय, ब्रह्मचारी के विविध भेदों के लक्षण एवं स्वरूप सहित विवेचना के साथ गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा यति आदि के स्वरूप एवं भेदोपभेदों को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णनों के साथ ही स्त्री-संसर्ग-हेतु निषिद्ध दिवसों तथा विविध अनुष्ठेय नियमाचरणों एवं जप करने-हेतु मन्त्रों को निर्दिष्ट करके पटल को समष्टि प्रदान की गयी है।

भागवत योग के व्याख्यान से मण्डित तीसवें पटल में कुल 89 श्लोकों के द्वारा भागवत-योग को स्वरूप प्रदान किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सर्वप्रथम भागवत को परिभाषित करते हुए भागवतों के गुण-वैशिष्ट्यों को विस्तृत रूपेण विवेचित किया गया है। पञ्चकालों में विहित योगाभ्यासों, विशेषकर प्राणायम-प्रक्रिया रूप समाधि की सम्पूर्ण व्यवस्था को प्रस्तुत करके कर्माभ्यास एवं ज्ञानाभ्यास को पृथक्-पृथक् विश्लेषण-पूर्वक परिभाषित किया गया है। संहिता के अन्त में विष्णुसंहिता के कतिपय रहस्यमय ज्ञान पक्ष को सारगर्भित शब्दों में व्यक्त करके सुपात्र के लिए ही इसके उपदेश के निर्देश-हेतु सुपात्र की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत की यगी है। अन्त में विष्णुसंहिता के श्रवणाध्ययन के फल-निर्देश-पूर्वक इसकी अर्चना का निर्देश करके विष्णुसंहिता सम्पूर्ण हो जाती है।

श्रीप्रश्नसंहिता

तंजौर जनपद में स्थित कुम्भकोणम् के मंगल विलास प्रेस से 1904 ई. में सर्वप्रथम ग्रन्थ लिपि में प्रकाशित श्रीप्रश्नसंहिता का श्रीमती सीता पद्मनाभन् द्वारा सुसम्पादित देवनागरी संस्करण डॉ. वि. राघवन् की उत्कृष्ट भूमिका के साथ 1969 ई. में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से प्रकाशित हुआ। श्री द्वारा किये गये प्रश्नों के फलस्वरूप भगवान् द्वारा प्रोक्त श्री-भगवान् की संवाद-रूप में प्रस्तुत संहिता के आधार पर भगवदर्चन की विशेष व्यवस्था के दर्शन कुम्भकोणम् के शार्ङ्गपाणि मन्दिर में होते हैं। अधिकांश स्थलों पर पाद्मसंहिता से मिलती हुई प्रस्तुत संहिता में 53 अध्यायों में निम्नलिखित विषयों का प्रवचन किया गया है-

शास्त्रावतरण-विषयक प्रथम अध्याय में शास्त्रोपदेशक्रम को प्रस्तुत किया गया है। जिसके अनुसार ब्रह्मजिज्ञासु महर्षियों द्वारा ब्रह्मज्ञानप्रद शास्त्र एवं भगवदाराधन-विषयक प्रश्नों को सुनकर कहोल नामक महर्षि द्वारा उन ब्रह्मजिज्ञासुओं को मेरु-पर्वत के उत्तर में आश्रमस्थ एकत नामक महर्षि के पास भेज दिया जाता है। अभ्यागत महर्षियों का आतिथ्य करके एकत ऋषि उनके आगमन का कारण पूछते हैं। ब्रह्मज्ञानप्रदशास्त्र एवं भगवदाराधन-विषयक जिज्ञासा से युक्त होकर आये उन ऋषियों से सन्तुष्ट होकर एकत मुनि ने उनका परिचय प्राप्त करके नियमानुसार उन्हें श्री द्वारा प्राप्त श्रीप्रश्न-सञ्ज्ञक शास्त्र का उपदेश किया है। इसके अनुसार श्रीप्रश्नसंहिता का शुभारम्भ इस प्रकार होता है-

श्रीप्रश्नसंहिता के द्वितीय अध्याय के अनुसार मुक्तिशास्त्र का उपदेश करने के लिए श्री द्वारा भगवत्-प्रार्थना की जाती है जिसके फलस्वरूप भगवान् सृष्ट्यादि के क्रम का वर्णन करते हुए शास्त्र के सर्वगोप्यत्व का कथन करते हैं। श्री द्वारा उस रहस्यशास्त्रोपदेशार्थ किये गये अनुनय के फलस्वरूप भगवान् एकायन-सञ्ज्ञक उस शास्त्र के विषयों का कथन करते हुए उसके उपदेशक्रम के साथ पञ्चव्यूहविभागादि का वर्णन करते हैं।

श्रीप्रश्नसंहिता के तृतीय अध्याय में योगज्ञान-निरूपण क्रम के साथ ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करके मन्त्रलयहठयोगादि-पूर्वक योगसाधन के लिए अपेक्षित आहारादि नियमों एवं योगसिद्धि के फल का निरूपण किया गया है। इसके बाद घटावस्था का निरूपण करके शरीर में पञ्चभूतों के स्थानों एवं तत् तत् स्थानों में वायु धारण-व्यवस्था को फल-निर्देश पूर्वक विवेचित किया गया है।

प्रतिष्ठाविधि की पृष्ठभूमि के उद्देश्य से प्रोक्त चतुर्थ अध्याय में मन्दिर अथवा गृह में अर्चामूर्ति की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य के स्वरूप एवं लक्षणों का वर्णन करके उसकी वरण-प्रक्रिया को निरूपित किया गया है। इसके बाद मन्दिर-निर्माणार्थ भूमिसंग्रहण के क्रम मे भूपरिग्रह, भूप्रार्थना, शङ्कुस्थापन एवं वास्तुशान्त्यादि प्रतिष्ठा-चरणों का विधान प्रस्तुत किया गया है।

श्रीप्रश्नसंहिता के बालबिम्बप्रतिष्ठा नामक पञ्चम अध्याय में भूकर्षण-विधि, पुण्याहवाचन एवं कुम्भस्थापन-विधान को विस्तार से वर्णित करके सर्वविघ्नप्रशमनार्थ बालालय की स्थापना एवं बालबिम्ब की प्रतिष्ठा का व्यापक विधान प्रस्तुत किया गया है। शिलादि-परीक्षाविधि-परक इस अध्याय में मन्दिर निर्माण के लिए प्रस्तर, इष्टिका, काष्ठादि विविध द्रव्यों का सङ्केत करके शिलाओं के लिङ्ग भेद से स्थानादि का निर्णय करते हुए यथावश्यक पूजा, होम, बलिदानादि-विधि के साथ के साथ गर्भन्यास रूप प्रथमेष्टकारोपण का विधान प्रस्तुत किया गया है। प्रथमेष्टका-न्यास के पश्चात् गर्भन्यास-विधि को समग्रता प्रदान करते हुए सप्तम अध्याय में दसों स्थानों में गर्भोपयोगी मृत्तिका का संग्रह करके रत्नादि वस्तुओं के साथ मञ्जूषा में मिट्टी के समर्पण पूर्वक गर्भ में मञ्जूषान्यास का विधान प्रस्तुत किया गया है। प्रासाद-निर्माण की पूर्वपीठिका के रूप में प्रोक्त आठवें अध्याय में मन्दिर के परिमाण-सहित शिखर-पीठ आदि के मानों को बताकर मण्डपत्रय के निर्माण-हेतु उनके आकार प्रकार पर प्रकाश डाला गया है। प्रासाद-भेद वर्णनात्मक नवम अध्याय में मन्दिरों के विविध भेदों का वर्णन करते हुए वैजयन्त-श्रीविशाल-पुष्पकादि विविध विमानों के लक्षणों का वर्णन किया गया है। इसके बाद मूर्धेष्टिकादि की निर्माण-विधि के साथ विमान मूर्तियों की स्थापनविधि एवं मूर्तियों के विविध वर्णलेपन--क्रम अर्थात् वर्णव्यवस्था का वर्णन किया गया है। दूसरे शब्दों में अध्याय के बृहदुत्तरांश में मूर्तियों के वर्ण-वैशिष्ट्यों पर एकैकशः प्रकाश डाला गया है।

प्रासादादिप्रतिष्ठा-विधान नामक दशम अध्याय में सर्वप्रथम अर्द्ध, नृत्तार्द्ध एवं आस्थान मण्डप रूप त्रिविध मण्डपों की निर्माण की विधि के साथ प्राकार एवं गोपुरादि की निर्माण-प्रक्रिया को बताकर प्रतिष्ठारम्भकर्मादि के कथन-पूर्वक स्तूपी-प्रतिष्ठा का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद कुम्भस्थ-देवार्चन सहित देवता प्रतिष्ठापन का सम्यग् विधान प्रस्तुत किया गया है। बिम्बानुगुण शिला आदि के संग्रहण के उद्देश्य से प्रोक्त ग्यारहवें अध्याय में सर्वप्रथम स्थित यानादि भेदों से मूर्तियों के छह प्रकारों का कथन करके चतुरश्रादि पीठों में उनके स्थापन पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद बिम्ब-निर्माण के लिए उपयोगी रत्न-स्फटिकादि छह

प्रकार के पदार्थों के निर्देश के साथ बिम्बों के उत्तम-मध्यमाधम श्रेणियों एवं बिम्ब-योग्य शिला के परिग्रहण से पूर्व सम्पाद्यमान अङ्गक्रमों का निरूपण किया गया है। एतदनन्तर शिलाओं के पुंस्त्वादि का परीक्षण करके यथावश्यक चरणों पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में दारुसंग्रहण-विधि का वर्णन प्रस्तुत करते हुए, दारु-भेदों एवं वृक्ष-प्रार्थना के साथ दारुच्छेद, दारु-आनयन एवं बिम्बनिर्माण पर प्रकाश डाला गया है। मूर्ति-निर्माण-प्रक्रिया को गति प्रदान करते हुए द्वादश अध्याय में यथोक्त मानों के साथ मूल-प्रकृति के निर्माण-पूर्वक पूर्व वर्णित षड्विध मूर्तियों के निर्माण की विधि बतायी गयी है। इसके बाद पञ्चविध शयानबिम्ब के स्वरूपनिरूपण-पूर्वक प्रस्तुत करते हुए त्रिविक्रमबिम्ब-निर्माण की विधि-सहित विश्वरूप के स्वरूप को प्रकाशित किया गया है। इसी क्रम को तेरहवें अध्याय में मृण्मयमूर्ति-निर्माण की प्रक्रिया का विधिवत् वर्णन करते हुए क्रमशः हयग्रीव, नृसिंह, वराह, वैनतेय एवं वामन रूप बिम्बमानों पर पृथक्-पृथक् विस्तृत प्रकाश डाला गया है। चतुर्दश अध्याय में बिम्बों की षड्विध सञ्ज्ञाओं का उल्लेख करके पूजा के उत्तम-मध्यमाधमत्व का निर्णय किया गया है। इसके बाद स्थित एवं आसीन उत्सव-बिम्ब के पाद-पीठादि के स्वरूप का निर्णय करके कर्मार्चा में श्रीभूमि देवी के अविनाभाव के साथ उत्सव-प्रतिमा के निर्माण की विधि पर प्रकाश डाला गया है।

परिवारादिपूजोपकरणान्तकल्पात्मक पन्द्रहवें अध्याय में बहु-आवरणात्मक मन्दिर के अर्धमण्डपार्धहारादि द्वारों पर प्रतिष्ठेय चण्डादि-परिवार-देवों की प्रतिष्ठा का वर्णन करके वैनतेय विष्वक्सेनादि के दिङ् निर्णय के साथ एकावारणयुक्त मन्दिर में पूर्वोक्त चण्डादि-देवों के स्थानों का निर्णय किया गया हे। इसके बाद घण्टा एवं अर्घ्य धूप-दीपादि-पात्रों का वर्णन करते हुए स्नानासन भोज्यासनादि के स्वरूप के साथ नैवेद्य-बलिपात्रादि के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस प्रकार दीप-पात्र, छत्र, चामर, जल-द्रोणी आदि विविध पूजोपकरणों का एकैकशः वर्णन करते हुए नाना-विध वाद्यों का वर्णन करके अध्याय को समग्रता प्रदान की गयी है। दीक्षाविधि के निरूपण के उद्देश्य से प्रोक्त सोलहवें अध्याय में सर्वप्रथम आचार्य एवं भट्टाचार्यादि के लक्षणों का कथन करके दीक्षा के त्रैविध्य एवं चातुर्विध्य के साथ यागमण्डप निर्माण, वेदी-कुण्डस्वरूप, कुम्भ आदि के स्थान, अग्नि-मन्थन, आज्याहुति एवं पूर्णाहुति का निरूपण किया गया है। इसके बाद शिष्य-स्नपन एवं प्रतिसर बन्धादि का निरूपण करके शिष्य नामकरण एवं पंचसंस्कारादि के साथ अवभृथस्नान का निरूपण किया गया है। इस प्रकार दीक्षांश गुरुदक्षिणा-समर्पणादि का निरूपण करके

परार्थयजन दीक्षा में प्रयोज्य पूर्वोक्तस्नानादि समस्त कर्मों का विवेचन किया गया है। पञ्चकालविधि-विवेचक सत्रहवें अध्याय में अभिगमन-उपादान-इज्या-स्वाध्याय एवं योग सञ्ज्ञक पञ्चकाल विधियों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। प्रतिष्ठार्थ यागशालादि कल्पनात्मक अट्ठारहवें अध्याय में लक्ष्मी के लौहादिबिम्ब प्रतिष्ठा-विषयक प्रश्नों के उत्तर देते हुए सत्यादि लोकों में विविध-विध अप्राकृतादि बिम्ब प्रतिष्ठा विभागों का निर्णय करके दीक्षित के लक्षण एवं उसके वरण-विधान का वर्णन किया गया है। इसके बाद प्रतिष्ठा-काल का निर्णय करके मण्डप-वेदी कुण्डादि के निर्माण की विधि बताकर परिधि-मेखला-पद्मादि के परिकल्पन विधान पर प्रकाश डाला गया है। इसी क्रम में उन्नीसवें अध्याय मे द्वारतोरणादि सहित अष्टमङ्गल-लेखन का वर्णन करके भद्रपीठ, यज्ञपात्रादि के परिमाण एवं लक्षणादि को बताया गया है। एतदनन्तर यागोपयोगी अन्य वस्तुओं पर प्रकाश डालते हुए महाकुम्भ के स्वरूप एवं पालिका आदि के लक्षण-सहित प्रपा के निर्माण की विधि बतायी गयी है।

प्रतिष्ठा कर्म निरूपण-क्रम में ही प्रोक्त बीसवें अध्याय में मण्डपादि-शोधन-पूर्वक चित्राद्यलङ्करणों का वर्णन करके सर्वप्रथम निर्मित बिम्बों के नेत्रोन्मीलन की विधि बताते हुए अपेक्षित होम एवं दृढबन्धादि का निरूपण किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में तृतीय दिवस सम्पाद्यमान अङ्कुरार्पण का निर्देश करके ऋत्विगादि के विवरण-पूर्वक उनके देवालय में प्रवेश का विधान प्रस्तुत किया गया है। विविध मन्त्रों से सम्मार्जन, कुम्भस्थापनादि का वर्णन करके एकायनप्रोक्त पुण्याहकर्मों पर प्रकाश डालने के बाद पञ्चगव्य के लक्षण, परिमिति एवं प्राशनादि का वर्णन किया गया है। बालबिम्ब-कर्तृकानुज्ञाविधि के निरूपण हेतु प्रोक्त बाइसवें अध्याय में पहले बालबिम्बस्थापन से सम्बद्ध होमादि अनुष्ठानों के साथ यथावश्यक मृत्संग्रहण एवं उसके प्रत्यानयन का निरूपण करके पालिका घटिका-शरावादि का स्थान-निर्देश किया गया है। इसके बाद तपदेपक्षित अग्निप्रतिष्ठा एवं होमकर्म का वर्णन करके अध्याय को समग्रता प्रदान की गयी है। तेइसवें अध्याय के पूर्वार्द्ध में सूत्र-बन्धन से लेकर कुम्भस्थापन-पर्यन्त क्रियाओं का एकैकशः वर्णन करते हुए महाकुम्भस्थापनविधि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में अग्निस्थापन-विधि के साथ सप्तलोकों एवं सालोक्यादि वैकुण्ठों का वर्णन करते हुए तत् तद् देवी-देवताओं के ध्यान एवं आवाहन का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद करकादि की स्थापन-विधि के साथ चक्राब्जमण्डल में वासुदेवादि पच्चीस मूर्तियों के सायुध-आवाहन एवं अर्चनादि का एकैकशः निरूपण किया गया है।

श्रीप्रश्नसंहिता के चौबीसवें अध्याय में बिम्ब के कौतुक-बन्धन एवं नदी--तटानयनादि का वर्णन करते हुए अध्याय के प्रथम भाग में भगवन्मूर्तियों के स्नानमण्डपायन-पर्यन्त जलाधिवास विधि का निरूपण किया गया है। इस अध्याय के द्वितीय भाग में नित्य होम-अनुष्ठानों का फलश्रुति-पूर्वक व्यापक निरूपण किया गया है।

लक्ष्मी-प्रतिष्ठा विधि के निरूपण के उद्देश्य से प्रोक्त पच्चीसवें अध्याय में परिवार-देवों सहित लक्ष्मी आदि की प्रतिष्ठा विधि का निरूपण करके लक्ष्मी के उत्सव, दुर्वासा के शाप से पुरन्दर के राज्यभ्रंश एवं राज्यप्राप्त्यर्थ पुरन्दर-कृत लक्ष्मी-उत्सव का उत्सवकालादि-पूर्वक विवेचन किया गया है। अष्ट-लक्ष्मी-पूजा-विधि एवं अधिवासादि प्रोक्षणादि-विधि का विवेचन करके छब्बीसवें अध्याय में लक्ष्मी के उद्वाहोत्सव का साङ्ग निरूपण किया गया है। सत्ताइसवें अध्याय में विविध स्नपन-भेदों का एकैकशः व्यापक विधान प्रस्तुत करके इस अध्याय को समष्टि प्रदान की गयी है। अट्ठाइसवें अध्याय में आचार्य द्वारा करणीय स्नानादि कृत्यों, भगवत्-प्रबोधन, सुप्रातस्सेवा, पञ्चशुद्धि एवं पात्रादिशोधन के साथ पुण्याहवाचन एवं भूतशुद्धि-पूर्वक नित्ययागोपक्रम को प्रकाशित किया गया है। इसके बाद षडक्षरादि मन्त्रों की न्यास-विधि का विवेचन करके मानसार्चन के साथ भोगयागादि विविध अन्तर्याग-विधियों का पृथक्-पृथक् प्रकाशन किया गया है। इसी प्रकार उन्तीसवें अध्याय में भगवन्नित्यार्चन अर्थात् नित्यहोम-विधि का पूजनगत भूलों की प्रायश्चित्त-विधि सहित विस्तृत वर्णन किया गया है।

महोत्सवविधि-विषयक तीसवें अध्याय में उत्सव-शब्दार्थ-सहित, उत्सव के त्रैविध्य एवं कालादि का प्रवचन करते हुए भगवत्प्रार्थना-पूर्वक महोत्सव की पृष्ठभूमि निर्मित को गयी है। एकतीसवें अध्याय मे विष्वक्सेन-प्रार्थना पूर्वक यागशालाकल्पन-पर्यन्त विधियों का विस्तृत विवेचन करते हुए विष्वक्सेन के वीथीभ्रमण आदि का निरूपण किया गया है। प्रस्तुत क्रम के अन्तर्गत बत्तीसवें एवं तैंतीसवें अध्याय में लक्षण स्वरूपादि-निर्देश-पूर्वक गरुडध्वजप्रतिष्ठानन्तर चौंतीसवें अध्याय में कुम्भस्थापन, स्थापित कुम्भों में वासुदेवादि देवताओं के आवाहन, धान्य-पीठकल्पन, कालचक्रविलेखन, देववाहनपुरस्सर दीपस्थान, मड्डुकताडनपूर्वक सर्ववर्णक्षेपप्रार्थना, चण्डादि द्वारपालों के तत्तन्नियतरागतालवाद्यादि-सहित सवाहन आवाहन एवं वलिदानादि विषयों के साथ कतिपय आवश्यक गमनादि विषयक निषेधों का निर्देश करके मूल प्रतिज्ञा की समर्चन विधि को प्रस्तुत किया गय है।

महोत्सव-विधि-निरूपण प्रसङ्गों में ही प्रोक्त पैंतीसवें अध्याय में उपर्युक्त

आहूत चण्डादि के लिए वलिदान-व्यवस्था का निरूपण करके उत्सव-वाहनों के नामत: निर्देश सहित देवाधिदेव के वीथीभ्रमण क्रम का प्रकाशन किया गया है। वीथीभ्रमणानन्तर महापीठ के समक्ष उन देव के स्थापन एवं नीराजन के बाद भगवत्-प्रतिमा को वाहन से उतार कर यागमण्डप में लाकर वेद-मन्त्रों के द्वारा उसके परितोषण का वर्णन करके भगवत्-श्रमशान्त्यर्थ उनके शयन-विधान को प्रस्तुत किया गया है। छत्तीसवें अध्याय में महोत्सवांगरूप होमादि का एकैकश: निरूपण करते हुए नवम दिवस पर्यन्त उत्सवों का अलग-अलग निरूपण करके अवभृथस्नान का सम्यक् निरूपण किया गया है। महोत्सव विधि का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए श्रीप्रश्न-संहिता के सैंतीसवें अध्याय में महोत्सवप्रसङ्गोपेत ज्ञाताज्ञात त्रुटिस्खलनों-हेतु प्रायश्चित्त आदि विधानों के साथ अन्य अवशिष्ट अनुष्ठानों का शैत्योत्सवपर्यन्त विस्तृत वर्णन किया गया है।

श्रीप्रश्नसंहिता के 38 से 48वें अध्याय-पर्यन्त ग्यारह अध्यायों में क्रमश: वसन्तोत्सव, प्लवोत्सव, ज्येष्ठस्नपनोत्सव, कृष्ण-जन्मोत्सव, गङ्गोत्पत्त्युत्सव, नरकचतुर्दश्युत्सव, अग्निदीपोत्सव, डोलोत्सव, मोक्षोत्सव, पञ्चपर्वोत्सव एवं कल्हारोत्सव सञ्ज्ञक ग्यारह उत्सवों का पृथक्-पृथक् विस्तृत वर्णन किया गया है।

श्रीप्रश्नसंहिता के बृहत्तम उञ्चासवें अध्याय में संहिता में वर्णित विविध अनुष्ठनों, उत्सवों एवं अर्चनाओं के समस्त अङ्गोपाङ्गों के आयोजनों में हुए ज्ञाताज्ञात त्रुटि-स्खलनों से जायमान अनिष्टों के शान्त्यर्थ विविध प्रायश्चित्त-कर्मों का क्रमश: एक-एक करके व्यापक एवं विस्तृत निरूपण किया गया है। प्रायश्चित्त-विधि का प्रधानतया निरूपण करने के उद्देश्य से प्रोक्त इस अध्याय में प्रसङ्गोपेत अन्य उपयोगी क्रियमाण अवयवों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रायश्चित्त-विधि के साथ इस अध्याय में संप्रोक्षण-विधि, त्रैविध्य-निरूपण-पूर्वक संप्रोक्षण का लक्षण नित्यनैमित्तिकादि उत्सवों में बालबिम्ब-निर्माण एवं बालगृहस्थापनादि-विधि का निरूपण किया गया है। इस अध्याय के अन्त में सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य संहिताओं के दिव्यत्व एवं प्रामाण्य पर भी प्रकाश डाला गया हैं

मन्त्र-प्रतिपादन की पृष्ठभूमि निर्मित करते हुए श्रीप्रश्नसंहिता के पचासवें अध्याय में सर्वप्रथम वर्ण-चक्र का निरूपण किया गया हे। भगवदेकांशरूपा शक्ति के वर्णस्वरूपत्व एवं परमेश्वर से अव्यक्त अक्षराविर्भाव का निरूपण करके अकारादि वर्णों के सञ्ज्ञा, भेद एवं शक्ति आदि का निरूपण किया गया है इसके बाद इसमें केशवादि बारह एवं वासुदेवादि चार देवों के स्वरवर्णाधिष्ठातृदेवत्व का निरूपण करके ककारादि वर्णों के अधिष्ठातृ-देवताओं एवं उनकी शक्तियों का निरूपण किया गया है।

मन्त्र स्वरूपवर्णनात्मक इक्यावनवें अध्याय में शब्दब्रह्म विवर्त रूप मन्त्र के बीज, पिण्ड, सञ्ज्ञा एवं पद सञ्ज्ञक चारों रूपों के स्वरूप का वर्णन करके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसद्भाव अक्षर-विन्यास एवं ध्यानपूजनादि-पूर्वक वर्णमातृका रूप मन्त्र-देवताओं के पूजन का विधान प्रस्तुत किया गया है। वर्णों के नक्षत्र, राशि, योग के स्वरूप का निरूपण करते हुए अध्याय के उत्तरांश में मन्त्रों के लिङ्गधृत त्रैविध्य का निरूपण करके विविध कुण्डों के निर्माण की विधि, अग्नि के अवयवों एवं होम के फल तथा विधि का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय के अन्त में मन्त्रों की सिद्धि एवं असिद्धि के सूचक स्वप्नों का वर्णन किया गया है।

श्रीप्रश्नसंहिता के उपान्तिम अर्थात् बावनवें अध्याय में मन्त्रसिद्धि-सूचक दृष्टान्तों का सङ्केत करके मन्त्रोपासनान्तर्गत न्यास की आवश्यकता के साथ द्वादशाक्षर एवं अष्टाक्षर मन्त्रों की निरुक्ति एवं जप-विधि का निरूपण किया गया है। इसके बाद कुछ काम्य पूजाविधियों यथा निधिप्राप्ति, मणिकाञ्चन-लाभ, इष्ट कन्या-लाभ आदि के लिए विशेष अर्चन-होमादि का विधान प्रस्तुत किया गया है। एतदनन्तर-वश्यकर मन्त्र, नारीवशीकरण-प्रक्रिया, पातालसाधन, इन्द्रजाल-विधि, गुलिका-साधन एवं वेताल-साधनादि विविध उपायों को प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में सकलरोगोपशामक चक्राब्जमण्डल-लेखनादि का वर्णन करके नृसिंह-मूर्ति की उपासना के साथ कामनानुसार मन्त्राक्षर-व्यवस्था, फल-निर्देश-पूर्वक, राममन्त्र, षडक्षरमन्त्र के रूपचतुष्टय एवं रामगायत्री के स्वरूप आदि विषयों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

श्रीप्रश्नसंहिता के उपसंहारात्मक अन्तिम अध्याय में सर्वप्रथम संसारोद्धारक एकाधिक उपायों के साथ शरणागति रूप चरमोपाय का वर्णन करके वर्णचक्र-मन्त्रोद्धारक्रम का सम्यक् निरूपण किया गया है। इसके बाद अभिवादन-नमस्कृति, वह्निप्राकार, योग, योगसम्पुट एवं तत्त्वमुद्रा आदि विविध मुद्राओं के स्वरूप एवं उपयोग का वर्णन करके कालभेदानुसार-पूजन में प्रयोज्य पुष्पों का निरूपण किया गया है। अध्याय के अन्त में अष्टोत्तरशतसहस्रनामों के द्वारा भगवदर्चन के फल का प्रवचन करके प्रस्तुत शास्त्र की फलश्रुति का वर्णन करते हुए स्वार्थ एवं परार्थ निरूपण पूर्वक एकत ऋषि के परमपद-प्राप्ति के सङ्केत के साथ ही श्रीप्रश्नसंहिता समाप्त हो जाती है।

पञ्चम-अध्याय

पाञ्चरात्र-दीक्षा का स्वरूप

समस्त तान्त्रिक-सम्प्रदायों में दीक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन तान्त्रिक-सम्प्रदायों से सम्बद्ध साहित्य का बहुत बड़ा भाग दीक्षा, उसके स्वरूप, उसकी विधि आदि विषयों के प्रतिपादन के निमित्त समर्पित है। पाञ्चरात्र-आगमों में भी दीक्षा और दीक्षा-विधि की विशद चर्चा हुई है। पाञ्चरात्र-साहित्य अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है। प्रायः 250 पाञ्चरात्र-संहिताओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से कुछ नामतः उल्लिखित प्राप्त होती हैं, कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में हस्तलिखित ग्रन्थागारों में अथवा व्यक्तिगत संग्रहालयों में संरक्षित हैं तथा कुछ प्रकाशित हो चुकी हैं। स्वाभाविक है कि पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय से सम्बद्ध किसी भी चर्चा का आधार वही साहित्य होगा, जो प्रकाशित हो चुका है और सुलभ भी है।

समस्त पाञ्चरात्र-अनुष्ठानों में दीक्षित का ही अधिकार है।[1] अतः पाञ्चरात्र-संहिताएं दीक्षा और दीक्षा-विधि के निरूपण तथा प्रपञ्चन को अधिक महत्त्व देती हुई प्राप्त होती हैं, जो कि स्वाभाविक ही है। दीक्षा की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए भार्गव-तन्त्र का कथन है-

दीक्षया जायते योग्यस्त्रैविद्यो देवपूजने।।
....
दीक्षितो देवदेवस्य कर्षणादिक्रियां चरेत्।
नाधिकारी भवेद्यस्तु दीक्षाविरहितो द्विजः।।
तस्माद्धर्यर्चनाकाङ्क्षी दीक्षेत हरिसन्निधौ[2]।

---

1. शृणु दीक्षां प्रवक्ष्यामि शिष्याणां भावितात्मनाम्।
देवाग्निगुरुपूजासु अधिकारो यया भवेत्।। (जयाख्यसंहिता, 16.1)
2. भार्गवतन्त्र, 24.27, 29, 30

दीक्षा शब्द का अर्थ

अनेक तान्त्रिक–सम्प्रदायों में दीक्षा शब्द के विविध अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं, तथापि पाञ्चरात्र–दीक्षा की विवेचना के अवसर पर उनकी चर्चा प्रासंगिक नहीं है। पाञ्चरात्र–ग्रन्थों में ही यदि दीक्षा शब्द का अर्थ प्राप्त हो, तो वह हमारे लिए अधिक प्रासंगिक होगा। इस सन्दर्भ में लक्ष्मीतन्त्र की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

यद् द्यति क्लेशकर्मादीनीक्षयत्यखिलं पदम्।।
क्षपयित्वा मलं सर्वं ददाति च परं पदम्।
दीक्षेति तेन तत्त्वज्ञैर्वर्ण्यते वेदपारगैः[1]।।

इन पंक्तियों में दीक्षा शब्द का दो प्रकार से विवेचन किया गया है। प्रथम निर्वचन के अनुसार दीक्षा शब्द के अन्तर्गत आने वाला द् वर्ण 'दो' धातु की ओर संकेत करता है, जिसका अर्थ "अवखण्डन"[2] अथवा "छेदन"[3] है। तथा ईक्ष वर्ण "ईक्ष्" धातु की ओर संकेत करते हैं, जिसका अर्थ "दर्शन" है[4]। इन धातुओं के योग से दीक्षा शब्द का प्रथम निर्वचन करते हुए कहा गया कि जो क्लेश, कर्म आदि का खण्डन करे और समस्त पदों को दिखावें अथवा प्रकाशित करे, उसे दीक्षा कहते हैं। लक्ष्मीतन्त्र में प्रदर्शित द्वितीय निर्वचन के अनुसार दीक्षा शब्द के अन्तर्गत आने वाला "द" वर्ण "दा" धातु की ओर संकेत करता है, जिसका अर्थ "दान"[5] है तथा "क्ष" वर्ण "क्षप्" धातु की ओर संकेत करता है, जिसका अर्थ क्षान्ति[6] अथवा प्रेरण[7], अर्थात् दूर हटाना है। इन दो धातुओं के योग से दीक्षा शब्द का द्वितीय निर्वचन प्रस्तुत करते हुए लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि यह समस्त मलों को दूरोत्सारित करते हुए परम पद, अर्थात् मोक्ष को प्रदान करती है, इस कारण वेदों के पारङ्गत तत्त्वज्ञ लोग इसे दीक्षा कहते हैं।

इसी प्रकार विष्णुसंहिता में कहा गया है कि दीक्षा का दीक्षात्व यही है कि इसके द्वारा सभी सिद्धियाँ प्रदान की जाती हैं तथा ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं यथा–

---

1. लक्ष्मीतन्त्र, 41, 5–6
2. पाणिनीय धातुपाठ, दिवादि, 39
3. धातुरत्नाकर, दिवादि, 1148
4. पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादि, 405 : धातुरत्नाकर, भ्वादि, 882
5. पाणिनीय धातुपाठ, अदादि, 50, : धातुरत्नाकर, अदादि, 1137
6. पाणिनीय धातुपाठ, चुरादि, 86
7. धातुरत्नाकर, चुरादि, 1892

दीयन्ते सिद्धयः सर्वाः क्षीयन्ते ग्रन्थयोऽप्यतः।
दीक्षात्वमेवं दीक्षाया धर्माधर्महृदात्मनः[1]।।

आचार्य के लक्षण

पाञ्चरात्र-संहिताओं में दीक्षा आदि पाञ्चरात्रिक कृत्यों के लिए उपयुक्त आदर्श आचार्य के लक्षणों का विशद और विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है। यह निर्णय करना कठिन है कि किस संहिता में प्रपञ्चित आचार्य का लक्षण उदाहृत किये जाने योग्य है, क्योंकि इन सभी स्थानों पर दिये गये विवरण एक दूसरे से अधिक सुन्दर है। स्थालीपुलाकन्याय से लक्ष्मीतन्त्र में दिया गया विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। शक्र ने श्री से प्रश्न किया कि हे देवि! किस प्रकार का आचार्य तथा किस प्रकार का शिष्य होना चाहिए। मोक्ष प्राप्ति में कौन सा मन्त्र समर्थ होता है और उस मन्त्र का किस प्रकार से उपदेश किया जाना चाहिए। लक्ष्मीतन्त्र के ही शब्दों में–

आचार्यः कीदृशो देवि शिष्यस्तस्य च कीदृशः।
मन्त्रेषु कतमो मन्त्रः प्रभवेत् परमाप्तये।।
कथं स चोपदेष्टव्य एतद् ब्रूहि नमोऽस्तु ते[2]।

इस प्रकार शक्र के द्वारा पूछे जाने पर श्री ने आचार्य के लक्षणों का वर्णन किया है। श्री ने बताया है कि एक आचार्य को समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए, उसे एंक वैदिक अथवा वेदज्ञ ब्राह्मण होना चाहिये, उसे अध्ययन-अध्यापन आदि अपने लिये विहित [3]षट्कर्मों में निरत होना चाहिये, उसे शान्त, पञ्चकालपरायण, शुचि, पाञ्चरात्रविशारद तथा मन्त्राक्षरों की प्रकृति के ज्ञान के लिए कृतश्रम होना चाहिए, उसे स्थूल, कृश, ह्रस्व, काण, रोगी, अन्धा, क्रोधी, दुश्चर्मा, लोभी, अकुलीन, दुराचारी, शठ और कुटिल नहीं होना चाहिये, दया, दम और शम गुणों से सम्पन्न होना चाहिए, उसे भक्तिमान् तथा कर्मनिष्ठ होना चाहिये, सत्यभाषण और शील से सम्पन्न होना चाहिये, (यन्त्र आदि के लिए) रेखाकर्म में निपुण होना चाहिए, उसे जितेन्द्रिय, सुसन्तुष्ट, कारुणिक होना चाहिये, शुभ लक्षणों से और ऋजुता से सम्पन्न होना चाहिए

1. विष्णुसंहिता, 10.2; द्रष्टव्य–श्रीप्रश्नसंहिता, 16.18-19
2. लक्ष्मीतन्त्र, 21.29-30
3. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।। (मनुस्मृति, 1.88)

और चारुहास वाला होना चाहिए। वैष्णव गुरु को इस प्रकार के गुणगण से आकीर्ण समझना चाहिये। लक्ष्मीतन्त्र के शब्दों में–

सर्वलक्षणयुक्तो ब्राह्मणो वेदपारगः।।
षट्कर्मनिरतः शान्तः पञ्चकालरतः शुचिः।
पञ्चरात्रार्थविन्मौनी मन्त्राक्षरकृतश्रमः।।
न स्थूलो न कृशो ह्रस्वो न काणो नैव रोगवान्।
नान्धो न बधिरो मूढो न खल्वाटो न पङ्गुकः।।
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो न श्वित्री न च दाम्भिकः।
न क्रोधनो न दुश्चर्मा न लोभहतचेतनः।।
अकुलीनं दुराचारं शठं जिह्मं च वर्जयेत्।
दयाशान्तिशमोपेतं दृढभक्तिं क्रियापरम्।।
सत्त्ववाक्शीलसम्पन्नं रेखाकर्मसु कौशलम्।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं करुणापूर्णमानसम्।।
आर्यलक्षणसम्पन्नमार्जवं चारुहासिनम्।
एवं गुणगणाकीर्णं गुरुं विद्यात्तु वैष्णवम्[1]।।

प्रायः इसी प्रकार का वर्णन अन्य पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी उपलब्ध होता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में वैष्णन आचार्य के स्वरूप का सुन्दर निरूपण किया गया है[2], जो

---

1. लक्ष्मीतन्त्र, 21.30.-36
2. वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो विद्यास्थानविचक्षणः।
ऊहापोहविधानज्ञो दैवपित्र्यक्रियापरः।।
अवक्ता चापवादानामकर्ता पापकर्मणाम्।
अमत्सरी परोत्कर्षे परदुःखे घृणापरः।।
दयावान् सर्वभूतेषु हृष्टः परसुखोदये।
पुण्येषु मुदितायुक्त उपेक्षावान् कुबुद्धिषु।।
तपःसन्तोषशौचाढयो योगस्वाध्यायतत्परः।
पाञ्चरात्रविधानज्ञस्तन्त्रान्तरविचक्षणः।।
तन्त्राणामन्तरज्ञश्च मन्त्राणां कृत्यतत्त्ववित्।
पदवाक्यप्रमाणज्ञो हेतुवादविचक्षणः।।
सामान्यस्यापवादस्य वेत्ता यन्त्रविचक्षणः।
कुण्डमण्डलभेदज्ञः क्रियाकारविचक्षणः।।
अध्यात्मज्ञानकुशलः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः।
सदन्ववायसम्भूत आचार्यो नाम वैष्णवः।। (अहिर्बुध्न्यसंहिता, 20.2-7)

उपर्युदाहृत लक्ष्मीतन्त्र के निरूपण की भावना के अनुरूप ही है। इस प्रकार आचार्य के लक्षणों का वर्णन अनेक संहिताओं में यत्र तत्र उपलब्ध हो जाता है। सनत्कुमारसंहिता में प्राप्त होने वाला आचार्य की योग्यताओं का वर्णन अपने में कुछ विशेषताएँ लिये हुए है। यहाँ प्राप्त होने वाला वर्णन अत्यन्त व्यवस्थित और विस्तृत है। आचार्य की योग्यताओं का यह विवेचन मुख्यतः पाँच शीर्षकों में विभाजित किया है– 1. आचारशुद्धि, 2. बुद्धिशुद्धि, 3. जातिशुद्धि, 4. लक्षणशुद्धि और 5. देहशुद्धि। आचार शुद्धि के अन्तर्गत यह बताया गया है कि आचार्य को किस प्रकार का आचरण करना चाहिये और किस प्रकार का आचरण नहीं करना चाहिए[1]। बुद्धिशुद्धि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आचार्य को धन का लोभ तथा गुरु का अतिलंघन नहीं करना चाहिये। वैष्णवों के प्रति अशुभ तथा समस्त प्राणिवर्ग के प्रति नृशंस बुद्धि नहीं करनी चाहिये। परधन तथा परदार के प्रति निःस्पृह होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अहंकार, असूया, मान तथा अशुभ बुद्धि नहीं करनी चाहिए[2]। तीसरा शीर्षक है जातिशुद्धि। इसके अन्तर्गत यह विचार किया गया है कि वर्ण की दृष्टि से आचार्यत्व के योग्य कौन होगा। स्पष्ट कहा गया है कि द्विज, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही आचार्यत्व के योग्य होते हैं। किसी भी स्थिति में शूद्र आचार्य नहीं हो सकता–

आचार्यग्रहणे योग्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
आचार्यत्वं न शूद्रस्तु लभते जातुचित् क्वचित्[3] ।।

ब्राह्मण आचार्य के उपलब्ध न होने पर वैश्य और शूद्र वर्णों के लिये क्षत्रिय आचार्य हो सकता है तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों प्रकार के आचार्यों के अनुपलब्ध होने पर शूद्र के लिये वैश्य आचार्य हो सकता है–

चतुर्णामपि वर्णानामाचार्यो ब्राह्मणो भवेत्।
तदलाभे क्षत्रियस्तु आचार्यो वैश्यशूद्रयोः।।
ब्राह्मणक्षत्रियालाभे वैश्यः स्याच्छूद्रजन्मनः[4]।

इसके पश्चात् संकर जातियों का विशद वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि

---

1. सनत्कुमारसंहिता, इन्द्ररात्र, 9.1–9
2. तत्रैव, 9.9–12
3. तत्रैव, 9.13
4. सनत्कुमारसहिता, इन्द्ररात्र, 9. 14–15

उनमें कौन किसका आचार्य बनने के योग्य है[1]। जातिशुद्धि के अन्तर्गत वर्णों में तथा वर्णसंकरों में आचार्यत्व की योग्यता का निर्धारण करने के बाद ग्यारह श्लोकों में लक्षणशुद्धि का वर्णन है। इसके अन्तर्गत शारीरिक लक्षणों, अर्थात् सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से आचार्यत्व की अर्हता निर्धारित करते हुए कहा गया हैं कि जिसके पैरों में और हाथों में ऊर्ध्व रेखा हो, ललाट पर त्रिपताका हो, हस्ततल (हथेली) पर सिंह, मृग, कलश, तोरण और वेदि हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसके पैरों में और हाथ मे शंख, चक्र, मत्स्य और यव हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसकी हथेली पर पद्म, स्वस्तिक, भेरी और प्रणव का चिह्न हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसकी हथेली पर श्रीवृक्ष, अंकुश, शक्ति और वनमाला के चिह्न हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसके हस्ततल पर करक, मणिक, पालिका और वर्धमान हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसके पादतल और पाणितल रक्त वर्ण के हो और जिसकी जिह्वा दीर्घ हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसके पैरों तथा हाथों के नाखून रक्त वर्ण के हों, इसी प्रकार जिसके नेत्र रक्त वर्ण के हों वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसकी अंगुलियाँ समवृत्त हों, नासिका तुंग हो, शिर छत्राकार हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जो हीनांग न हो, अतिरिक्तांग और अतीन्द्रिय न हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है[2]। इस प्रकार लक्षणशुद्धि का

---

1. तत्रैव, 9. 15–50
2. पादयोरूर्ध्वरेखा तु यस्य हस्ते तु विद्यते।
   ललाटे त्रिपताका च स चाचार्यत्वमर्हति।
   सिंहो मृगश्च कलशस्तोरणे वेदिरेव च।।
   यस्य हस्ततले सन्ति स चाचार्यत्वमर्हति।
   यस्य शङ्खं च चक्रं च मत्स्यश्च यव एव च।।
   वर्तन्ते पादयोः पाणौ स चाचार्यत्वमर्हति।
   पद्मं च स्वस्तिकं चैव भेरी पणवमेव च।।
   यस्य हस्ततले सन्ति स चाचार्यत्वमर्हति।
   श्रीवृत्तश्चाङ्कुशं शक्तिर्वनमाला तथैव च।
   यस्य हस्ततले सन्ति च चाचार्यो भविष्यति।
   करकं मणिकं चैव पालिका वर्धमानकम्।।
   यस्य हस्ततले सन्ति स चाचार्यत्वमर्हति।
   रक्ते पादतले यस्य रक्ते पाणितले तथा।।
   जिह्वा यस्यास्ति दीर्घा च स चाचार्यत्वमर्हति।
   रक्ता पादनखाश्चापि तथा हस्तनखा अपि।।
   तथैव चक्षुषी चापि स चाचार्यत्वमर्हति।

विवेचन करने के पश्चात् देहशुद्धि का विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत यह बताया गया है कि सूतकान्त, प्रेतान्न, मांस, मधु का तथा पर्युषित अन्न का सेवन न करने वाला आचार्य शुद्धदेह होता है–

असूतप्रेतकान्नाशी न मांसमधुभोजनः।
आचार्यः शुद्धदेहः स्यादपर्युषितभोजनः[1]।।

उपर्युक्त विवरण में जातिशुद्धि के अन्तर्गत स्पष्ट कहा गया है कि शूद्र आचार्यत्व के योग्य नहीं होता। इस सन्दर्भ में भारद्वाजसंहिता का विवरण द्रष्टव्य है। इसके अनुसार स्त्री और शूद्र आचार्यत्व के अनर्ह हैं। अपकृष्ट वय और अपकृष्ट जाति वाला उत्कृष्ट वय और उत्कृष्ट जाति वाले का सामान्यतया आचार्य नहीं हो सकता। स्त्री, शूद्र, अन्तरोद्भव (प्रतिलोमजात) और पतित मन्त्रोपदेश करने के अयोग्य हैं। इस नियम का अपवाद भी है। ईश्वर-तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले योगी लोग सभी योनियों में जन्म लेते हैं, इस कारण इनके कुल आदि का विचार नहीं किया जाता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि हीन कुल में उत्पन्न ये योगिजन आचार्यत्व के अनर्ह हैं। वस्तुतः वे भी आचार्यता के योग्य हैं जैसा कि भारद्वाजसंहिता में प्रोक्त है–

आचार्यः कुलजातोऽपि ज्ञानभक्त्यादिवर्जितः।
न च हीनवयोजातिः प्रकृष्टानामनापदि।।

न जातु मन्त्रदा नारी न शूद्रो नान्तरोद्भवः।
नाभिशस्तो न पतितः कामकामोऽप्यकामिनः।।

स्त्रियः शूद्रादयश्चैव बोधयेयुर्हिताहितम्।
यथार्हं माननीयाश्च नार्हन्त्याचार्यतां क्वचित्।।

किमप्यत्राभिजायन्ते योगिनः सर्वयोनिषु।
प्रत्यक्षितात्मनाथानां नैषां चिन्त्यं कुलादिकम्[2]।।

समवृत्ताङ्गुलिर्यस्तु यश्च स्यात् तुङ्गनासिकः।।
छत्राकारशिराश्चापि स चाचार्यत्वमर्हति।
अनूनावयवश्चापि तथा चानतिरिक्तकः।।
अतीन्द्रियविहीनश्च च चाचार्यो भविष्यति। (तत्रैव, 9.50-60)

1. तत्रैव, 9.61
2. भारद्वाजसंहिता, 1.43

शिष्य के लक्षण

पाञ्चरात्र-आगमों में दीक्षा के योग्य शिष्य पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में बताया गया है कि श्रेयस् का इच्छुक, समाहित, विनयव्रतशाली, द्विज, संस्कृत, शुचि, ब्रह्मचारी, धीमान्, स्वदार-निरत, बिना छल के अपने द्वारा कृत और अकृत कर्म का निवेदन करने वाला शिष्य गुरु का आश्रयण करे[1] और इस प्रकार निवेदन करे–

संसाराङ्गारमध्यस्थः पच्यमानः स्वकर्मभिः।
भवन्तं शरणं प्राप्त उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः[2]।।

अर्थात् संसाराग्नि के मध्य में स्थित अपने कर्मों से जीर्ण होता हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ, मुझे आप उपदेश कीजिये। इस प्रकार सम्प्रतिपन्न, सत्यवादी, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष उपाधियों से अनेक प्रकार से शोधित, एक रूप, रहस्याम्नाय-रक्षक, अशठ, अनसूय, लोभ-मोह आदि से रहित शिष्य की एक वर्ष तक परीक्षा करके उसके निष्कम्प रहने पर, अर्थात् परीक्षोत्तीर्ण होने पर विद्योपदेश करना चाहिए[3]।

इसी प्रकार लक्ष्मीतन्त्र में भी कुछ विशेषताओं के साथ शिष्य के लक्षण उपलब्ध होते हैं। वहीं के शब्दों में–

शिष्यश्च तादृशो ज्ञेयः सर्वलक्षणलक्षितः।
क्षान्तिशीलं सुधीमन्तं क्रोधलोभविवर्जितम्।।
स्नानार्चनरतं नित्यं गुरुशुश्रूषणोद्यतम्।
विप्राग्निदेवपितृषु भक्तं तर्पणशीलिनम्।।
कुलीनं च तथा प्राज्ञं शास्त्रार्थनिरतं सदा।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं वा भगवत्परम्।।
ईदृग्लक्षणसंयुक्तं शिष्यमार्जवसंयुतम्।
वर्णधर्मक्रियोपेतां नारीं वा सद्विवेकिनीम्।।
विद्यादनुमते पत्युरनन्यां पतिमानिनीम्।
एवं लक्षणकं शिष्यमाचार्यो भगवन्मयः।।

---

1. अहिर्बुध्न्यसंहिता, 20.8-9
2. तत्रैव, 20.10
3. तत्रैव, 20.11-14

ज्ञापयेद्विधिवन्मन्त्रान् गुरुदृष्ट्या समीक्ष्य तु[1]।।

अर्थात् आचार्य के समान ही शिष्य को भी सर्वलक्षणयुक्त होना चाहिये। शिष्य को क्षान्तिशील, बुद्धिमान्, लोभ-क्रोध से विवर्जित, स्नान-अर्चन आदि में निरत होना चाहिये। उसे सदा गुरुशुश्रूषा के लिये उद्यत रहना चाहिये। उसे ब्राह्मण, अग्नि, देव और पितृगण के प्रति भक्तिमान् होना चाहिये और तर्पणशील होना चाहिये। उसे कुलीन, प्राज्ञ और शास्त्रार्थचिन्तन में निरत होना चाहिये। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणों की समीक्षा करके भगवत्स्वरूप आचार्य उसे तथा वर्णधर्म-क्रिया में परायण, सदसद् का विवेक रखने वाली, पतिव्रता नारी को भी पति की अनुमति से विधिवत् मन्त्रोपदेश करे।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वैष्णवी दीक्षा में शूद्र और स्त्री का भी अधिकार है। इनका अलग से उल्लेख करने का प्रयोजन यह है वैदिक अनुष्ठानों में त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है, स्त्री और शूद्र का नहीं। इस वैदिक परम्परा से पाञ्चरात्र-परम्परा के अन्तर को दर्शाना भी आवश्यक है। अन्यथा ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि वैदिक कृत्यों के समान ही पाञ्चरात्र-अनुष्ठानों में भी स्त्री का अधिकार नहीं है। शूद्र के लिए 'भगवत्परम्[2] विशेषण से यह स्पष्ट होता है कि वही शूद्र, जिसकी भगवद्भक्ति के विषय में आचार्य आश्वस्त है, वैष्णवी दीक्षा का अधिकारी है। स्त्री भी वही अधिकारिणी है, जो सदाचारिणी है, सद् और असद् का विवेक रखती है, पतिपरायणा है तथा दीक्षा के विषय में जिसने पति से अनुमति पूर्व ही प्राप्त कर ली है[3]।

लक्ष्मीतन्त्र में दीक्षाविधि के अन्तर्गत इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ दीक्षा के योग्य शिष्यों के साथ ही कन्या तथा स्त्रियों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यथा-

आनीय दृढसङ्कल्पं चिरकालपरीक्षितम्।।
आचार्यः प्रणतं शिष्यं संसारानलतापितम्।

....

सुस्नातान् धौतवस्त्रांश्च पवित्रीकृतविग्रहान्।।
आनीय भगवद्भक्तान् शुभाः कन्याः स्त्रियस्तथा[4]।

---

1. लक्ष्मीतन्त्र, 21.37-41
2. तत्रैव, 21.39
3. तत्रैव, 21.40-41
4. तत्रैव, 41.10-13

यहाँ दीक्षा के अधिकारियों के अन्तर्गत "शुभाः कन्याः स्त्रियस्तथा" कह कर कन्याओं तथा स्त्रियों के तान्त्रिक दीक्षा में अधिकार को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया है।

दीक्षायोग्य स्थान

दीक्षायोग्य स्थान का संक्षिप्त विवरण प्रायः सभी संहिताओं में प्राप्त होता है। परमसंहिता में समुचित स्थानों का उल्लेख इन शब्दों में प्राप्त होता है–

नदीसंगमतीर्थेषु देवतायतनेषु च।
पर्वताग्रेषु गोष्ठेषु स्थाने वा सुमनोहरे[1]।।

अर्थात् नदियों के परस्पर संगम-स्थल एवं नदी और समुद्र के संगम रूपी तीर्थ स्थानों पर, देवालयों में, पर्वत शिखरों पर, गोशाला के किसी प्रकोष्ठ में अथवा सुमनोरम स्थान में दीक्षाविधि सम्पन्न की जाती है। इसी प्रकार आगे चलकर यही संहिता दीक्षायोग्य स्थानों का विस्तृत विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करती है–

तत्रैव कल्पिते स्थाने निश्छिद्रे निरुपद्रवे।
नगरग्रामयोर्दूरे सर्वतः परिवारिते।।

सर्वोपकरणैर्युक्ते पूजाद्रव्यैश्च संयुते।
वैष्णवैरभ्यनुज्ञातः कुशलैर्दीक्षितः पुरा।।

आदर्शतलसंकाशे वितानाम्बर–भूषिते।
पुष्पौषधिफलाद्यैश्च कलशैर्दिक्षु शोभिते।।

अदीक्षितजनास्पृष्टे सन्निकृष्टे जलस्य च।
आचार्यः कारयेद् दीक्षां वैष्णवस्य मनस्विनः[2]।।

अर्थात् उस क्षेत्र में निश्चित स्थान पर, जो दोष तथा उपद्रवों से रहित है, नगर और ग्राम से दूर होते हुए भी सब ओर से घिरा हुआ है, जो सभी प्रकार के उपकरणों से तथा पूजाद्रव्यों से संयुक्त है, जहाँ यागशाला का भूतल तर्पणतल के समान निर्मल है, जो वितान से अलंकृत है, जो पुष्प, ओषधि और फलों से तथा कलशों से दिशाओं में शोभित है, जो अदीक्षित जनों स अस्पृष्ट है, जहाँ जल सन्निकृष्ट है, (ऐसे स्थान पर) आचार्य मनस्वी वैष्णव को दीक्षा प्रदान करें।

---

1. परमसंहिता, 7.4
2. तत्रैव, 7.17–20

इसी से मिलता-जुलता वर्णन सात्वतसंहिता में प्राप्त होता है-

पुण्ये देशेऽनुकूले च मनोज्ञे साधुसेविते।
मृद्वारिफलपुष्पाढ्ये समित्कुशसमन्विते।।
गोसस्यशालिसुभगे क्षुद्रप्राणिविवर्जिते।
तत्र वर्णानुरूपां क्ष्मां गच्छेत् पूर्वोक्तलक्षणाम्
सर्वदोषविनिर्मुक्ता सत्पक्षिमृगसेविताम्।
या शुभायतनोद्देशैर्मठैर्गोष्ठापणैर्गृहैः।।
तोयाशयाश्रमैः क्षेत्रे सद्वृत्तैरन्तरीकृता।
जलौघभयनिर्मुक्ता बलाद्भुक्ता च सज्जनैः।।
वनैरुपवनैर्ग्रामैर्नगराङ्गैः समावृता[1]।

अर्थात् पुण्य, अनुकूल, मनोज्ञ, साधुजनों से सेवित, मृत्तिका, जल, फल और पुष्पों से समृद्ध; समित् और कुश से समन्वित; गाय, सस्य और शालि से सुभग; क्षुद्र प्राणियों से रहित क्षेत्र में वर्णों के अनुरूप भूमि पर लाना चाहिए, जो सर्व दोषों से विनिर्मुक्त हो, सुन्दर पक्षियों और मृगों से सेवित हो, जो शुभ भवनों, जलाशय से युक्त आश्रमों से परिवारित हो, जो जलौघ के भय से निर्मुक्त हो, जहाँ सज्जनों का बाहुल्य हो तथा जो वन, उपवन, ग्राम और नगरों से घिरी हुई हो।

इसी प्रकार अन्य संहिताओं में भी दीक्षायोग्य देश का वर्णन हुआ है, किन्तु उन सभी वर्णनों में उपरि प्रस्तुत वर्णन की भावना के साथ एकरूपता ही है[2]।

दीक्षायोग्य काल

दीक्षा के लिए किसी ऋतुविशेष का उल्लेख पाञ्चरात्र-संहिताओं में नहीं प्राप्त होता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उपनयन और अग्न्याधान के निमित्त त्रैवर्णिकों के लिये जिन ऋतुओं का विधान किया गया है, पाञ्चरात्र-परम्परा में उन ऋतुओं को उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है। अग्न्याधान के लिये तैत्तिरीय-ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है-

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः"[3], अर्थात्

---

1. सात्वतसंहिता, 18.5-9
2. द्रष्टव्य-समुद्रगाभिः सरिद्भिः सङ्गमं यन्मनोरमम्।
   महोदधितटं रम्यं यत्र वा रमते मनः।। (नारदीयसंहिता, 7.11)
3. तैत्तिरीयब्राह्मण, 1.12.6

वसन्त में ब्राह्मण को, ग्रीष्म में क्षत्रिय को तथा शरद् ऋतु में वैश्य को अग्न्याधान करना चाहिए। उपनयन संस्कार के लिए भी यही क्रम उपनाया गया है। यथा–

"वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्"[1]।

इसी परम्परा का पालन करते हुए पाञ्चरात्र-परम्परा में भी ब्राह्मण के लिए वसन्त ऋतु, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म तथा वैश्य के लिए शरद् ऋतु निर्धारित कर दी गयी है। वैदिक अनुष्ठानों में शूद्र तथा स्त्री का अधिकार न होने के कारण उपर्युक्त उद्धरणों में इनका उल्लेख नहीं है। पाञ्चरात्र-परम्परा के अन्तर्गत शूद्र तथा स्त्री को भी दीक्षा का अधिकार प्राप्त है। इस कारण शूद्र के लिये हेमन्त तथा स्त्री के लिये वर्षा ऋतुओं का निर्धारण किया गया है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित उद्धरण महत्त्वपूर्ण है–

वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च।
शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च।
स्त्रियं च वर्षाकाले तु पाञ्चरात्रविधानतः[2]।।

अर्थात् पाञ्चरात्र-विधान के अनुसार वसन्त में ब्राह्मण को, ग्रीष्म में क्षत्रिय को, शरद् में वैश्य को, हेमन्त में शूद्र को तथा स्त्री को वर्षा काल में दीक्षित करें। यह उद्धरण सात्वतसंहिता के अलशिंगभट्ट-विरचित भाष्य में महाभारत के शन्तिपर्व के नाम से उदाहृत किया गया है, किन्तु ये श्लोक महाभारत में दिखायी नहीं देते। अलशिंगभट्ट के द्वारा इसे प्रमाण के रूप में उदाहृत किये जाने से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि वर्णों के लिये उपर्युक्त ऋतुओं का निर्धारण सर्वसम्मत है।

तत्तत् संक्रान्तियों की दृष्टि से दीक्षायोग्य शुभ-काल का विचार करते हुए विश्वामित्रसंहिता का कथन है–

दीक्षां वक्ष्ये तु संक्षेपात् तच्छृणु द्विजपुङ्गव।
आदित्ये मीनमेषेषु वृषनक्रेषु संस्थिते।।
पूर्वपक्षे शुभे ऋक्षे एकादश्यां तथा निशि[3]।

अर्थात् मीन, मेष, वृष और मकर राशियों में सूर्य के स्थित होने पर पूर्व (शुक्ल) पक्ष तथा शुभ नक्षत्र में एकादशी तिथि में होने पर रात का समय ग्राह्य है।

---

1. आपस्तम्बीय धर्मसूत्र, 1.1.1.19
2. सात्वतसंहिता, 39.39-46 (अलशिंगभट्ट-कृत भाष्य में उद्धृत, पृ. 385)
3. विश्वामित्रसंहिता, 9.2-3

सामान्यतया सूर्य मीन राशि में 14 मार्च से 13 अप्रैल तक रहता है। इसी प्रकार मेष राशि में 14 अप्रैल से 13 मई तक, वृष राशि में 14 मई से 13 जून तक तथा मकर राशि में 14 जनवरी से 13 फरवरी तक रहता है। इन्हीं दिनों में शुक्ल पक्ष में शुभ नक्षत्र तथा शुभ तिथि (द्वादशी) में दीक्षा कार्य करना चाहिए। यह मत विश्वामित्रसंहिता का है। अन्य प्रमुख पाञ्चरात्र-संहिताओं राशियों के विषय में मौन है। सामान्यतया सभी अग्नि-कार्यों के लिए पाञ्चरात्र-संहिताओं में भिन्न-भिन्न तिथियाँ और उनके फल बताते गये हैं। जयाख्यसंहिता के अनुसार-

शुभे ग्रहे सुनक्षत्रे शुक्लपक्षे तिथिष्वपि।
द्वादश्यां धर्मकामार्थानग्निस्थः कुरुते विभुः।।
सौभाग्यं तु त्रयोदश्यामेकादश्यां ध्रुवं जयः।
पञ्चम्यां द्रव्यसिद्धिं च नवम्यां कीर्तिदः प्रभुः।।
तिथयः शुक्लपक्षे तु प्रोक्ताः सौभाग्यकर्मणि।
यथाकामं तु मोक्षार्थी पक्षयोरुभयोरपि[1]।।

इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि अग्निकार्य के लिए ग्रह और नक्षत्र शुभ होने चाहिये। यहाँ यह उल्लेख नहीं किया गया है कि वे शुभ ग्रह और शुभ नक्षत्र कौन से हैं। अतः यह सहज निष्कर्ष है कि ज्योतिषशास्त्र में जिन्हें शुभ ग्रह और शुभ नक्षत्र कहा गया है, उन्हीं का निर्देश उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है। इन कार्यों के लिये शुक्ल पक्ष को उपयुक्त माना गया है। तिथियों में द्वादशी, त्रयोदशी, एकादशी, पञ्चमी और नवमी का विधान किया गया है। फलप्राप्ति की दृष्टि से तत्तद् अनुष्ठानों के लिये तिथियों का विधान किया गया है। यथा सौभाग्य के लिये त्रयोदशी, जय के लिये एकादशी, द्रव्यसिद्धि के लिए पञ्चमी तथा कीर्ति के लिये नवमी। शुक्ल पक्ष में ये तिथियाँ भी हो सकती हैं। मोक्षार्थी की इच्छानुसार दोनों पक्षों की तिथियाँ भी हो सकती हैं। ये तिथियाँ सामान्यतया शुभ हैं, किन्तु दीक्षाकार्य के लिये विशेष रूप से द्वादशी तिथि को ही उपयुक्त माना गया है। जैसा कि जयाख्यसंहिता में ही स्पष्टतया कहा गया है-

यद्यप्युक्ता मया विप्र तिथयः पूजने पुरा।
तथापि द्वादशी श्रेष्ठा दीक्षायां पूजने हरेः[2]।।

---

1. जयाख्यसंहिता, 15.215-218
   द्रष्टव्य- वसन्तग्रीष्मयोर्दीक्षा कार्या वा कार्तिकादिषु।
   शरदाषाढयोश्चोक्तो वर्णजानामनुग्रहः।। (विष्णुसंहिता, 10.2)
2. तत्रैव, 16.89

परमसंहिता में दीक्षायोग्य शुभ काल का उल्लेख करते हुए कहा गया है-

आचार्यः कारयेद् दीक्षां वैष्णवस्य मनस्विनः।
द्वादश्यां पौर्णमास्यां वा विषुवत्यायनेऽपि वा।।
श्रोणायां वा प्रयुञ्जीत दीक्षामस्य यथाविधि[1]।।

इस उद्धरण में मनस्वी वैष्णव की दीक्षा के लिए द्वादशी या पूर्णिमा तिथि, विषुवत् (जब दिन रात समकालिक हो), अयन (मकर तथा कर्क संक्रान्ति) तथा श्रवण नक्षत्र को शुभ माना गया है। तिथियों के विषय में सभी संहितओं में प्रायः मतैक्य है। दशमी की तिथि सम्भार-संग्रह के लिए निश्चित की गई है। यथा-

दशम्यां सम्भरेत् सर्वान् समिदादीन् समाहितः[2]।

अथवा

सर्वं दशम्यामाहृत्य यागोपकरणं तु वै[3]।

दशमी के दिन सम्भार-संग्रह के पश्चात् दूसरा दिन, अर्थात् एकादशी का दिन अधिवास-दीक्षा के लिए निश्चित किया गया है-

एकादश्यां तिथौ स्नातः शुद्धे वासोयुगे दधत्।
....
सायंकाले तु सम्प्राप्ते कुर्याच्चैवाधिवासनम्[4]।।

तीसरे दिन, अर्थात् द्वादशी के दिन मुख्य दीक्षा दी जाती है। इस द्वादशी तिथि के विधान का उल्लेख पहले किया जा चुका है[5]। इस सन्दर्भ में विष्णुसंहिता का वचन भी द्रष्टव्य है-

द्रव्याण्यानाय्य संशोध्य पूर्वेद्युरधिवास्य च।।
द्वादश्यां दीक्षयेच्छिष्यानिष्ट्वा देवं विधानतः[6]।।

यहाँ द्वादशी के दिन दीक्षा, पूर्व दिन अर्थात् एकादशी के दिन अधिवास और पूर्व दशमी के दिन द्रव्यसंग्रह का उल्लेख किया गया है।

---

1. परमसंहिता, 7.20-21
2. तत्रैव, 9.9
3. जयाख्यासंहिता, 16.90
4. विश्वामित्रसंहिता, 9.10-12
5. जयाख्यसंहिता, 16.89
6. विष्णुसंहिता, 10.8

शिष्य की परीक्षा

दीक्षार्थ उपस्थित हुए शिष्य की परीक्षा का भी विधान पाञ्चरात्र-संहिताओं में प्राप्त होता है। यह परीक्षा चिरकाल तक चलने वाली होती है।

आनीय दृढसङ्कल्पं चिरकालपरीक्षितम्।
आचार्यः प्रणतं शिष्यं.............[1]।।

इस परीक्षा से शिष्य के अन्य गुणों की परीक्षा के साथ ही साथ उसके दृढ निश्चय का भी ज्ञान हो जाता है। लक्ष्मीतन्त्र में परीक्षा की अवधि चिरकाल कही गई है। इस चिरकाल को परिभाषित करते हुए अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहा गया है--

भवन्तं शरणं प्राप्त उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः।।
इत्येव प्रतिपद्येत शिष्य आचार्यसत्तमम्।
इत्येवं सम्प्रपन्नाय शिष्यायाच्छलवादिने।।
प्रत्यक्षाभिः परोक्षाभिरुपाधिभिरनेकधा।
शोधितायैकरूपाय रहस्याम्नायगोपिने।।
अशठायानसूयाय लोभमोहाद्यसेविने।
संवत्सरं परीक्ष्यैवं परितः परितो धिया।।
निष्कम्पाय वदेद्विद्यां यावती यादृशी च सा[2]।

अर्थात् जब शिष्य आचार्य की शरण में आवे और निवेदन करे कि मैं आपकी शरण में आया हूँ, तब आचार्य शरणागत, निश्छल, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उपाधियों से अनेक प्रकार से शोधित, एक रूप, एकायन-श्रुति अथवा सात्वतशास्त्र की रक्षा करने वाले, सज्जन, अनसूय, लोभ ओर मोह से रहित शिष्य की एक वर्ष तक परीक्षा करके निष्कम्प शिष्य को विद्योपदेश करे। यहाँ पर लक्ष्मीतन्त्रोक्त चिरकाल परीक्षा का अर्थ "संवत्सर-परीक्षा" किया गया है। संवत्सर-परीक्षा, अर्थात् एक वर्ष-तक चलने वाली इस परीक्षा की पुष्टि अन्य संहिताओं में भी हो जाती है। यथा-

उपासितगुरोर्वर्षं विष्णोर्दास्यमभीप्सतः।
विहिताः पञ्च संस्कारा युक्तस्यैकान्त्यहेवः[3]।।

---

1. लक्ष्मीतन्त्र, 41.10-11
2. अहिर्बुध्न्यसंहिता, 20.10-14
3. भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट, 2.1

गुरु की एक वर्ष तक सेवा करने वाले, विष्णु के दास्य के इच्छुक शिष्य के लिये पञ्चसंस्कारों का विधान किया गया है।

इस प्रकार शिष्य की एक वर्ष तक परीक्षा करनी चाहिए और उसके सुयोग्य सिद्ध हो जाने पर उसे दीक्षा दी जानी चाहिए।

दीक्षा के भेद

पाञ्चरात्र–संहिताओं में दीक्षा की विविधता चर्चित और प्रपञ्चित हुई है। मुख्य रूप से दीक्षा के दो प्रकार प्राप्त होते हैं। लक्ष्मीतन्त्र और जयाख्यसंहिता में इन विषय में मतों की समानता दिखाई देती है। इन दोनों संहिताओं में किया गया विवेचन इस प्रकार है–

लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि दीक्षा तीन प्रकार की होती है– 1. स्थूल 2. सूक्ष्म और 3. पर। वहीं के शब्दों में–

"दीक्षा सा त्रिविधा तावत् सूक्ष्मस्थूलपरात्मना"[1]।।

इन तीनों विधाओं के अलग-अलग स्वरूप का विवेचन लक्ष्मीतन्त्र में प्राप्त नहीं होता। जयाख्यसंहिता में इन्हीं संज्ञाओं से मन्त्रों के त्रैविध्य का उल्लेख किया गया है–

स्थूलं सूक्ष्मं परं चान्यद् व्याप्य तत्त्वत्रयं स्थितम्।

....

त्रिविधे मन्त्रराशौ तु त्रिधा चैव व्यवस्थितः[2]।।

अतः कहा जा सकता है कि इन त्रिविध मन्त्रों के उपदेश को ध्यान में रख कर ही लक्ष्मीतन्त्र में दीक्षा का त्रैविध्य कहा गया है। दीक्ष्य शिष्यों के आधार पर इस त्रिविध दीक्षा में प्रत्येक के चार चार भेद होंगे। चारों प्रकार के दीक्ष्य शिष्यों के नाम हैं– 1. समयी, 2. पुत्रक, 3. साधक और 4. आचार्य।

पुनर्दीक्ष्यविभेदेन त्रिविधा सा चतुर्विधा।
समयी पुत्रकश्चैव तृतीयः साधकस्तथा।।
आचार्यश्चेति दीक्ष्यास्ते तेषामन्यत्र विस्तारः[3]।

1. लक्ष्मीतन्त्र, 41.17
2. जयाख्यसंहिता, 16.12, 16
3. लक्ष्मीतन्त्र, 41.7-8
   तुलनीय– दीक्षा सा त्रिविधा प्रोक्ता स्थूला सूक्ष्मा परा तथा।

इन चारों प्रकार के दीक्ष्य शिष्यों का स्वरूपविवेचन लक्ष्मीतन्त्र में प्राप्त नहीं होता। "तेषामन्यत्र विस्तरः" से सम्भवतः अन्य संहिताओं में किया गया इनका विवेचन अभिप्रेत है। जयाख्यसंहिता का सत्रहवाँ अध्याय इन्हीं के स्वरूप-विवेचन के निमित्त समर्पित है। अन्य संहिताओं में भी इन चारों के स्वरूप का विशद विवेचन प्राप्त होता है। किन्तु सनत्कुमारसंहिता में इन चारों का किया गया स्वरूपविवेचन संक्षिप्त और स्पष्ट होने के कारण द्रष्टव्य है। समयी संज्ञक दीक्षित का स्वरूप इस संहिता में इन शब्दों में बताया गया है–

दीक्षामात्रं प्रविष्टा ये केवलं समये स्थिताः।
अतन्त्रज्ञा अदेवाश्च ते वै समयिनः स्मृताः[1]।।

अर्थात् जिन्होंने दीक्षामात्र ग्रहण की है और जो केवल समय (सिद्धान्त नियम) में स्थित हैं, किन्तु जिन्हें तन्त्रों का ज्ञान नहीं है और जो देवालयों में पूजा करने के अधिकारी नहीं हैं, वे समयी कहे गये हैं। पुत्रक का लक्षण करते हुए संहिता का कथन है–

दीक्षितानां तु सर्वेषां पुत्रवद् ये प्रतिष्ठिताः।
दीक्षां प्रविष्टा निर्ग्रन्थाः पुत्रकास्ते प्रकीर्तिताः[2]।।

अर्थात् जिन्होंने दीक्षा में प्रवेश प्राप्त कर लिया है, जो निर्ग्रन्थ है, अर्थात् ग्रन्थज्ञान से रहित हैं, उन दीक्ष्यों को पुत्रक कहा गया है। उन्हें पुत्रक संज्ञा देने का कारण यह है कि ये दीक्षा प्रदान करने वाले आचार्यों के पुत्र के रूप में प्रतिष्ठित होते है। दीक्ष्यों का तीसरा प्रकार है– साधक। सनत्कुमारसंहिता में साधक दीक्ष्यों का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है–

साधको मन्त्रतन्त्रज्ञस्तन्त्रपाठे विचक्षणः।
देवताराधने सक्तः सर्वदा तत्परायणः।।

पुनर्दीक्षाविभेदेन त्रिधा सापि चतुर्विधा।
समयी पुत्रकश्चैव तृतीयः साधकः स्मृतः।।
आचार्यश्चेति विज्ञेयाश्चत्वारोऽपि च दीक्षिता।। (श्रीप्रश्नसंहिता, 16.23–25)

1. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, 5.120
2. तत्रैव, 121

कर्माणि साधयेन्नित्यं देवपूजाभिरेव च।
स साधक इति प्रोक्तस्तन्त्रमन्त्रविशारदः[1]।।

अर्थात् साधक मन्त्र और तन्त्र का ज्ञाता होता है, तन्त्रपाठ में विचक्षण होता है, देवता की आराधना में लगा रहता हैं और सदा देवताराधन-परायण रहता है। इन्हें देवालय में आराधना का अधिकार होता है। दीक्ष्यों का चतुर्थ और अन्तिम प्रकार है- आचार्य। आचार्य का लक्षण बताते हुए संहिता का कथन है-

व्याख्याता तन्त्रमन्त्राणां संहितानां च सर्वतः।
संस्कर्तापि च शिष्याणामार्चः सोऽभिधीयते[2]।।

अर्थात् आचार्य उसे कहते हैं जो तन्त्र, मन्त्र और संहिताओं का कुशल व्याख्याता होता है। वही शिष्यों का संस्कार भी करता है, उन्हें दीक्षा प्रदान करता है। समयी और पुत्रक संज्ञक दीक्ष्यों से साधक दीक्ष्य विशिष्ट होता है और आचार्य इनमें सबसे श्रेष्ठ होता है-

सर्वेषां समयस्थानां साधकस्तु विशिष्यते।
साधकानां तु सर्वेषामाचार्यस्तु विशिष्यते[3]।।

इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और पर संज्ञक त्रिविध दीक्षा के प्रत्येक उपर्युक्त समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य संज्ञक चार-चार भेद होते हैं।

लक्ष्मीतन्त्र और जयाख्यसंहिता में अन्य प्रकार से भी दीक्षा के त्रैविध्य का प्रतिपादन किया गया है। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार-

महामण्डलयागेन हवनाद् वाऽथ केवलात्।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः।।
वित्ताढ्यस्याल्पवित्तस्य द्रव्यहीनस्य च क्रमात्[4]।।

अर्थात् यह दीक्षा पुनः तीन प्रकार की होती है- 1. महामण्डल-यागेन, 2. केवलाद् हवनात् और 3. केवलया वाचा। इनमें महामण्डलयाग से दी जाने वाली दीक्षा ही मुख्य है। इसी का समस्त पाञ्चरात्र-संहिताओं में विस्तार सें प्रतिपादन हुआ है। किन्तु यह दीक्षा वित्त-साध्य होने के कारण सार्वजनीन नहीं है। इस दीक्षा में

---

1. तत्रैव, ब्रह्मरात्र, 122-123
2. तत्रैव, ब्रह्मरात्र, 124
3. तत्रैव, 125
4. लक्ष्मीतन्त्र, 41.9-10

वित्ताढ्य का ही अधिकार है। दूसरी, अर्थात् केवल हवन से दी जाने वाली दीक्षा में अल्पवित्त का अधिकार है। इसी प्रकार तीसरी, अर्थात् केवल वाणी से दी जानी वाली दीक्षा में द्रव्यहीन, अर्थात् निर्धन का अधिकार होता है। जयाख्यसंहिता में भी यही बात इन शब्दों में कही गयी है-

महामण्डलयागेन वित्ताढ्यनां तु कारयेत्।।
वित्तयोगविमुक्तस्य स्वल्पवित्तस्य देहिनः।
संसारभयभीतस्य विष्णुभक्तस्य तत्त्वतः।।
अग्नौ चाज्यान्वितैर्बीजैः सतिलैः केवलैस्तथा।
द्रव्यहीनस्य वै कुर्याद् वाचैवानुग्रहं गुरुः[1]।।

सात्वतसंहिता में दीक्षा के अन्य प्रकार से भी भेदों का उल्लेख किया गया है। यहाँ भी दीक्षा के तीन ही भेद बताये गये हैं, किन्तु उनके नाम भिन्न हैं। यथा- 1. विभव, 2. व्यूह और 3. सूक्ष्म। सात्वतसंहिता के ही शब्दों में-

"विभवव्यूहसूक्ष्माख्यां दीक्षां कुर्यादनन्तरम्[2]।।

ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मीतन्त्र स्थूल, सूक्ष्म और पर इन तीन दीक्षाभेदों के लिये ही सात्वतसंहिता ने इन दूसरी संज्ञाओं का प्रयोग किया है। इन तीनों प्रकार की दीक्षाओं के फलों की चर्चा भी सात्वतसंहिता में की गई है। यथा-

कैवल्यफलदाप्येका भोगकैवल्यदा परा।
भोगदैव तृतीया च प्रबुद्धानां सदैव हि[3]।।

अर्थात् प्रथम प्रकार की दीक्षा का फल कैवल्य है, दूसरी का भोग और कैवल्य और तीसरी का मात्र भोग।

दीक्षा-विधि

समस्त शुभ लक्षणों से विशिष्ट आचार्य दीक्षा प्राप्त करने क उद्देश्य से आये हुए लक्षणों से युक्त शिष्य को पाकर उसकी एक वर्ष तक सम्यक् परीक्षा करे। परीक्षा में उसके निष्कम्प रहने पर पाञ्चरात्र-विधि के अनुसार उसकी दीक्षा की व्यवस्था करें। एतदर्थ उसे दीक्षा के योग्य काल और स्थान का विचारपूर्वक निश्चय कर लेना चाहिये। जैसा कि इसके पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है, दीक्षा के लिये द्वादशी

---

1. जयाख्यसंहिता, 16.4-6
2. सात्वतसंहिता, 16.4-6
3. तत्रैव, 19.4

तिथि सामान्यतया शुभ होती है। दीक्षा की प्रक्रिया तीन दिन तक चलती है। यह प्रक्रिया दशमी से आरम्भ होकर द्वादशी के दिन पूर्णता को प्राप्त करती है। अतः यहाँ दशमी, एकादशी और द्वादशी के दिन होने वाले कृत्यों का पृथक्-पृथक् वर्णन करने का क्रम ही स्वीकार किया गया है।

1. दशमी के कृत्य

सर्वलक्षणसम्पन्न आचार्य दीक्षा के लिये उपस्थित हुए शिष्य की अर्हता, दीक्षा के योग्य काल और स्थान का निश्चय कर लेने के पश्चात् दशमी तिथि से ही दीक्षा-कार्य का उपक्रम करता है। एतदर्थ सर्वप्रथम मण्डप का निर्माण किया जाता है। पूर्व दिशा में निर्मित मण्डप पुष्टि और श्रीवर्धक होता है, दक्षिण दिशा में निर्मित मण्डप सभी विघ्नों को शान्त करने वाला तथा यशस्कर होता है, पश्चिम दिशा में जय देने वाला और उत्तर दिशा में धन देने वाला होता है। इसी प्रकार आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य तथा ईशान दिग्भागों में भी मण्डप का निर्माण किया जा सकता है। इनमें से पूर्व-पूर्व दिशा में किया गया मण्डप-निर्माण उत्तर-उत्तर से श्रेष्ठ होता है[1]।

मण्डप तीन प्रकार के होते हैं- 1. हीन, 2. मध्यम और 3. उत्तम[2]। ये तीन मण्डप क्रमशः हीन, मध्यम और उत्तम अधिकारियों के लिये होते हैं[3]। इस प्रकार सर्वलक्षणसम्पन्न, चार द्वारों से युक्त, वितान आदि से अलंकृत मण्डप का निर्माण कर के[4] मण्डप के मध्य में अनुरूप वेदि का निर्माण करे। वेदि पकी हुई ईंटों से निर्मित होनी चाहिये। वेदि का प्रमाण चार हाथ होना चाहिये[5]। वेदी के पश्चिम भाग में विधानपूर्वक कुण्ड का निर्माण करना चाहिये। ब्राह्मण के लिये कुण्ड का आकार चौकोर तथा परिमाण दो ताल (14 अंगुल) होना चाहिए। क्षत्रिय के लिये वृत्ताकार तथा दो गोकर्ण परिमाण का, वैश्य के लिये धनुषाकार तथा दो वितस्ति परिमाण का और शूद्र के लिये त्रिकोणात्मक तथा दो प्रादेश परिमाण का कुण्ड होना चाहिए। कुण्ड को त्रिमेखला से युक्त तथा पश्चिम की ओर योनि से मण्डित होना चाहिए।[6]

---

1. मण्डपं पूर्वदिग्भागे पुष्टिश्रीवर्धनं भवेत्।
   सर्वविघ्नोपशमनं याम्ने चैव यशस्करम्।।
   जयदं वारुणे भागे धनदं चोत्तरे दिशि।
   आग्नेये नैर्ऋते वापि वायव्यैशे शचीपते।।
   कल्पयेन्मण्डपे चैवं पूर्वपूर्वा गरीयसी। (विष्वक्सेनसंहिता, 2.3-5)
2. मण्डपं त्रिविधं प्रोक्तं हीनं मध्यममुत्तमम्। (तत्रैव, 2.6)
3. तत्रैव, 2.7
4. तत्रैव, 8.17
5. विश्वामित्रसंहिता, 9.4
6. तत्रैव, 6.9

वेदि-निर्माण के पश्चात् संभारार्जन (सामग्री-संग्रह) करना चाहिये। सात्वतसंहिता में संगृहीत की जाने वाली सामग्री की विस्तृत सूची दी गयी है[1]। इस सूची में आने वाली मुख्य सामग्री इस प्रकार है- लाजा, सिद्धार्थक (श्वेत सर्षप), फल, श्रीफल (बिल्व), चन्दन, रोचना (गोरोचन) श्वेत दूर्वा, पुष्प, महीरुहमंजरी (तुलसी), हरित कुश (अग्रभाग सहित), रत्न, स्वर्ण, सर्वौषधि, त्वग् (लवङ्ग), एला आदि (ताम्बूल आदि सुगन्धित वस्तुएँ), पद्मक (कमल केशर), सप्त धान्य (सप्त ग्राम्य तथा सप्त आरण्य धान्य)[2], बड़ बीज, शालि, श्यामाक, नीवार, तण्डुल, पञ्च गोसम्भव (दुग्ध, दधि, घृत, गोमय, गोमूत्र), औदुम्बर पात्र, अनेक उदुम्बर या कोमल पत्तों के पुट, पाण्डर (श्वेत) दुकूल, नवीन वस्त्रद्वय, यज्ञोपवीत, उत्तरीय वस्त्र, दो श्वेत धोतियाँ, कुश से निर्मित पवित्रियाँ, कङ्कण, अङ्गुलीयक, स्फटिकमाला, गणित्रकपत्राक्ष, पञ्चलोह से निर्मित द्वादश अरों वाला चक्र, पञ्चलोह से निर्मित शङ्ख, कुतुप, योगपट्ट (वस्त्र), नेत्रवस्त्र, मृगचर्म, बृसीकाशांशुक, पट्ट, पादुका, उपानह, दण्ड, प्रतिग्रह (पात्रविशेष), छत्र, पूर्णगोधूमकाष्ठक (गोधूम से पूर्ण काष्ठपात्र), चार वर्णों वाली मालाएँ, सुन्दर पवित्र नील घास से मिश्रित हरे पत्ते, गुग्गुल, मृष्टधूप, दीपक, तैल, वर्तिकाएँ, दर्पण, धूमपात्र, घण्टा, अर्घ्यादि-पात्र, रज, करणीयुग्म, पालिका, सित घटिका (श्वेत घटी), पञ्च अङ्गुल परिमाण की स्वर्ण आदि (रजत-ताम्र आदि) की शलाका, कुशपंचक, अलक्तरञ्जित सूत्र, सफेद कच्चा सूत्र, कर्तरी, क्षुर, मयूरपंख से युक्त रंगी हुई कुल्लिकाएँ (कुल्हड़) तथा जलकुम्भ, भृङ्गार (स्वर्णनिर्मित जलपात्र), करवी, असमय उत्पन्न कुश की जड़, आधारयुक्त कलश, स्थाली कमण्डलु, दर्वीविधान (ढक्कन), चुल्लिका (चूल्हा), शुष्कगोमय संयुक्त अरणि, अग्निज मणि, पलाश और दूर्वा की अग्रभाग सहित समिधाएँ, प्रभूत इन्धन, आज्याक्त तिल और तण्डुल, स्रुक्, स्रुवा आदि होमोपकरण तथा पक्ष्मकपर्यन्त बृहत्पात्रद्वय।

यह सामग्री सात्वतसंहिता में बताई गई है। अन्य संहिताओं में भी सामग्री का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार इस सूची में संशोधन-परिवर्धन का पूर्ण अवकाश है। इस सारी सामग्री का संग्रह दशमी के दिन ही कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् मध्याह्न के समय स्नान करके पवित्र होकर दीक्ष्य एक बार भोजन करे-

---

1. सात्वतसंहिता, 18.27-47
2. शालिमुद्गयवा माषा गोधूमाश्च प्रियङ्गवः।।
तिलाः सप्त इमे ग्राह्या ग्राम्या वै चरुकर्मणि।
वेणुश्यामाकनीवारा जर्तिलाश्च गवीधुकाः।।
मर्कटाः कनकाः सप्त विज्ञेयास्तु नवोद्भवाः। (पारमेश्वरसंहिता, 8.134-136)

मध्यन्दिने शुचिः स्नात एकभुक्तेन वर्तयेत्[1]।

2. एकादशी के कृत्य

दूसरे दिन, अर्थात् एकादशी के दिन प्रातः स्नान करके शुद्ध दो वस्त्रों को धारण करते हुए श्वेत गन्ध (चन्दन) से अनुलिप्त तथा श्वेत माल्य से विभूषित होकर यथोपलब्ध आभूषणों से आचार्य को समलंकृत होना चाहिए[2]। तदनन्तर सायंकाल के उपस्थित होने पर अधिवासन करना चाहिए। अधिवासन के लिये पूर्वोक्त मण्डप के चारों द्वार-देशों में प्रत्येक द्वार के दोनों पार्श्वों में दो-दो (कुल आठ) कलश स्थापित करने चाहिये। इन आठ कलशों से सम्बद्ध आठ देव हैं। पूर्व द्वार के कलशों के पूर्ण और पुष्कर देवता हैं। इसी प्रकार दक्षिण द्वार के कलशों के आनन्द और नन्द, पश्चिम द्वार के वीरसेन और सुषेण तथा उत्तर द्वार के सम्भव और प्रभव देवता हैं। यथा-

द्वारेषु कलशानष्टौ न्यसेन्मन्त्रविचक्षणः।
पूर्वद्वारे तु कलशौ द्वौ तयोः पूर्णपुष्करौ।।
दक्षिणद्वारघटयोरानन्दं नन्दमेव च।
वीरसेनसुषेणौ च पश्चिमद्वारकुम्भयोः।।
सम्भवप्रभवौ द्वौ तु उत्तरद्वारकुम्भयोः[3]।

तदनन्तर वेदिका के मध्य भाग से वस्त्र पर मण्डल का निर्माण करना चाहिए[4]।

मण्डल-निर्माण

दीक्षाविधि में मण्डल का बहुत महत्त्व है। प्रायः संहिताओं में इस कार्यहेतु चक्राब्जमण्डल का विधान किया गया है। लक्ष्मीतन्त्र तथा जयाख्यसंहिता में चक्राब्ज मण्डल का ही महामण्डल नाम से प्रतिपादन किया गया है। यथा-

महामण्डलयागेन वित्ताढ्यानां तु कारयेत्[5]।

तथा-

महामण्डलयागेन हवनाद् वाऽथ केवलात्।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः[6]।।

---

1. विश्वामित्रसंहिता, 9.10; द्रष्टव्य-
सम्भारग्रहणं कृत्वा दशम्यामेव मन्त्रवित्।
एकादश्यामुपोष्याथ निशायामधिवासयेत्।। (नारदीयसंहिता, 23.35)
2. विश्वामित्रसंहिता, 10.11
3. नारदीयसंहिता, 23.37-39
4. विश्वामित्रसंहिता, 9.12, 13
5. जयाख्यसंहिता, 16.4
6. लक्ष्मीतन्त्र, 41.9

नारदीयसंहिता में चक्राब्ज मण्डल तथा भद्रक मण्डल में विकल्प का प्रतिपादन किया गया है। इसी संहिता के शब्दों में-

एवं तु मण्डलं कृत्वा चक्राब्जं भद्रकं तु वा[1]।

तथा-

शुष्कगोमयसम्मृष्टां भूमिं दर्पणसन्निभाम्।
कृत्वा तत्र लिखेद् विद्वान् मण्डलं भद्रकं शुभम्।
चक्राब्जं वा सुविस्तीर्णं सर्वलक्षणसंयुतम्[2]।।

नारदीयसंहिता में इन मण्डलों में कौन सा मण्डल किस कार्य के लिए होना चाहिए, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है-

एतेषु मण्डलेष्वेकं दीक्षायां च यथारुचिं।।
प्रतिष्ठायां तथा ब्रह्मन् शान्तिके पौष्टिके तथा।
प्रायश्चिते तु चक्राब्जमभिचारे तथैव च।।
व्याध्यनिष्टविनाशाय भद्रकं तु विधीयते[3]।

दीक्षा के लिए यथारुचि कोई एक अर्थात् प्रतिष्ठा, शान्तिक, पौष्टिक और प्रायश्चित के लिए चक्राब्ज तथा अभिचार और व्याधि या अनिष्ट के विनाश के लिए भद्रक का विधान किया गया है।

यहाँ क्रमशः इन दोनों मण्डलों, अर्थात् चक्राब्ज मण्डल तथा भद्रक मण्डल के निर्माण की विधि प्रस्तुत की जा रही है।

चक्राब्ज-मण्डल

चन्दन से आर्द्र सूत्र को पश्चिम से पूर्व की ओर और दक्षिण से उत्तर की ओर सत्रह सत्रह बार निक्षिप्त करे। ऐसा करने पर दो सौ छप्पन (253) कोष्ठ बन जायेंगे-

प्राञ्चि तिर्यञ्चि सूत्राणि सप्त दश च पातयेत्।
षट् पञ्च द्वे च कोष्ठानि सन्ति..............[4]।।

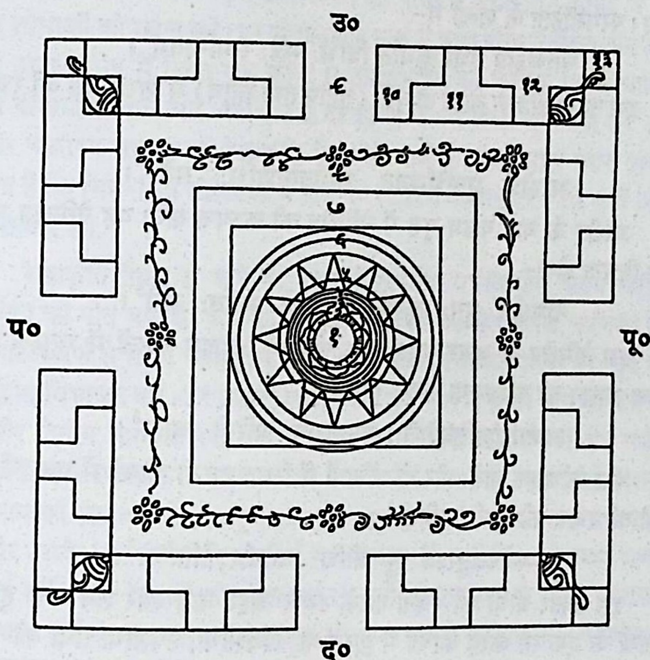
इन दो सौ छप्पन कोष्ठों में मध्यवर्ती छत्तीस कोष्ठों की रेखाओं को मिटाकर

1. नारदीयसंहिता, 9.2
2. तत्रैव, 7.106
3. तत्रैव, 8.74-76
4. भार्गवतन्त्र, 13.5

उसके मध्य में शंकु को स्थापित करें। उस शंकु को आधार बनाकर सूत्र की सहायता से घुमा कर समान पाँच वृत्तों की रचना करें–

.... मध्येऽथ षट्त्रिषु।।
मध्ये शङ्कुं स्थापयित्वा भ्रामयित्वाऽथ पञ्चधा।
भुवं विभज्य सूत्रेण..........................[1]।।

चक्राब्जमण्डलम्



1. कर्णिकाक्षेत्रम्, 2. केसरक्षेत्रम्, 3. दलक्षेत्रम्, 4. नाभिक्षेत्रम, 5. अरक्षेत्रम्, 6. नेमिक्षेत्रम्, 7. पीठम्, 8. वीथिः, 9. द्वारम् 10. अर्धशोभा, 11. शोभा, 12. उपशोभा, 13. शंख।

इस प्रकार निर्मित पाँच वृत्तों में मध्यवर्ती क्षेत्र कर्णिका क्षेत्र होगा–

मध्यमं कर्णिकापदम्[2]।

इस कर्णिका क्षेत्र के बाहर द्वितीय वृत्त को तीन भागों में विभाजित करे। इस

1. तत्रैव, 5-6
2. तत्रैव, 13.6

प्रकार द्वितीय वृत्त के निर्मित तीन भागों में प्रथम में केसर, द्वितीय में दल तथा तृतीय में नाभि की परिकल्पना करें[1]। दल–भूमि में द्वादश अम्बुज रेखाओं का निर्माण करें। इसी प्रकार दिग्विदिग् भाग में चौबीस अम्बुज रेखाओं का निर्माण करना चाहिए–

द्वादशाम्बुजरेखाश्च दलभूमौ प्रकल्पयेत्।
दिग्विदिग्भागकलिताश्चतस्रो विंशतिस्तथा[2]।।

नाभिक्षेत्र को सूत्र की सहायता से पुनः तीन भागों में विभाजित किया जाना चाहिए। परमसंहिता के शब्दों में–

नाभिक्षेत्रं तथा कुर्यात् त्रिभिः सूत्रैः समन्वितम्[3]।

इस नाभि–क्षेत्र के बाहर दो वृत्तों (तृतीय तथा चतुर्थ) में बारह अरों की रचना करे–

अरक्षेत्रं पुनर्भिन्द्याद् भागैर्द्वादशभिः समैः[4]।

अरक्षेत्र के बाद पञ्चम वृत्त में नेमिक्षेत्र की कल्पना करे। यह नेमिक्षेत्र पुनः द्विधा विभक्त होगा–

नेमिक्षेत्रे पुनः कुर्याद् द्वे वृत्ते सर्वतः समे[5]।

इस नेमिक्षेत्र के बाहर सर्वतः एक पंक्तिस्थ अट्ठाइस कोष्ठों में चतुरस्र पीठ अथवा आसन की परिकल्पा करनी चाहिए–

अष्टाविंशतिकोष्ठैः स्यादसनं परितो बहिः[6]।

पीठ के बाहर चारों ओर दो पंक्तियों में स्थित अस्सी कोष्ठों में एक चौकोर वीथी की रचना की जानी चाहिए–

सम्भवेच्चतुरस्रं तु वीथिः कोष्ठैरशीतिभिः[7]।

इस प्रकार वीथी की रचना करके उसके बाहर चारों ओर शेष बची हुई दो पंक्तियों के एक सौ बारह कोष्ठों में द्वारशोभा, अर्धशोभा, उपशोभा तथा कोण की रचना करनी चाहिये। प्रत्येक दिशा में दोनों पंक्तियों के मध्यवर्ती चार चार कोष्ठों के चार द्वारों की रचना की जानी चाहिये–

---

1. विभाजयेत् त्रिधा तेषां प्रथमा केसरावनी।
दलक्षेत्रं द्वितीयं स्यान्नाभिक्षेत्रं तृतीयकम्।। (विश्वामित्रसंहिता, 15.9)
2. भार्गवतन्त्र, 13.14
3. परमसंहिता, 7.38
4. तत्रैव, 7.38
5. परमसंहिता, 7.41
6. विश्वामित्रसंहिता, 15.11
7. तत्रैव, 15.12

बहिः पङ्क्तियुगेन स्याच्चतुरस्रं च तद्बहिः।।
कोष्ठद्वादशकं चोर्ध्वं शतं पङ्क्त्योर्द्वयोर्भवेत्।
प्रतिदिक्केषु कोष्ठेषु कुर्याद् द्वारचतुष्टयम्।।
पृथक्कोष्ठचतुष्केण पङ्क्तियुग्मेन काश्यप[1]।

इन द्वारों के दोनों ओर बाहर की पंक्ति के दो कोष्ठ और अन्दर की पंक्ति के एक कोष्ठ से चारों ओर अर्धशोभाओं की रचना करे। इन अर्धशोभाओं के पार्श्व में बाह्य पंक्ति में स्थित एक कोष्ठ और अन्दर की पंक्ति में स्थित तीन कोष्ठों में चारों ओर शोभाओं की रचना करें। इन शोभाओं के पार्श्व में बाह्य पंक्ति में स्थित तीन कोष्ठ और अन्तः पंक्ति में स्थित एक कोष्ठ से उपशोभाओं की कल्पना करनी चाहिये। दोनों पंक्तियों में चारों ओर अवशिष्ट दो दो कोष्ठों में चार शंखों की रचना करें[2]। इस प्रकार चक्राब्ज मण्डल की रेखाकृति तैयार हो जाती है। यहाँ इतना ध्यान अवश्य रखना है कि भिन्न-भिन्न संहिताओं में दिये गये विवरण के अनुसार इसमें कहीं अन्तर आ सकता है।

रेखाकृति तैयार हो जाने पर उसमें विधिपूर्वक वर्णविन्यास करना चाहिए। कर्णिका को पीत वर्ण से, कर्णिका में स्थित बिन्दुओं को श्वेत वर्णसे, कर्णिका रेखा को पाटल वर्ण से भरना चाहिए। केशर क्षेत्र को द्विधा विभाजित करके पुनः पूर्व भाग का द्विधा विभाजन करें। इन प्रकार द्विधा विभक्त पूर्व भाग के प्रथम भाग को पीत वर्ण से और द्वितीय भाग को रक्त वर्ण से रंजित करें। इसके अन्तर्भाग में श्वेत वर्ण से बिन्दुओं की रचना करें। इसके पश्चात् रक्त वर्ण से दल की रेखाओं को, दल के अग्रभाग को रक्त वर्ण से, दलमूल को शुक्ल वर्ण से, उनके अन्तराल को श्याम वर्ण से और उसके अन्तर्वलय को रक्त वर्ण से कल्पित करें। नाभिरेखा को श्याम वर्ण से चित्रित करें। अर-रेखाओं को कृष्ण वर्ण से, अरों को रक्त वर्ण से, उनके अन्तरालों को श्याम वर्ण से और उसके अन्तर्वलय को कृष्ण वर्ण से कल्पित करें। नेमिक्षेत्र को

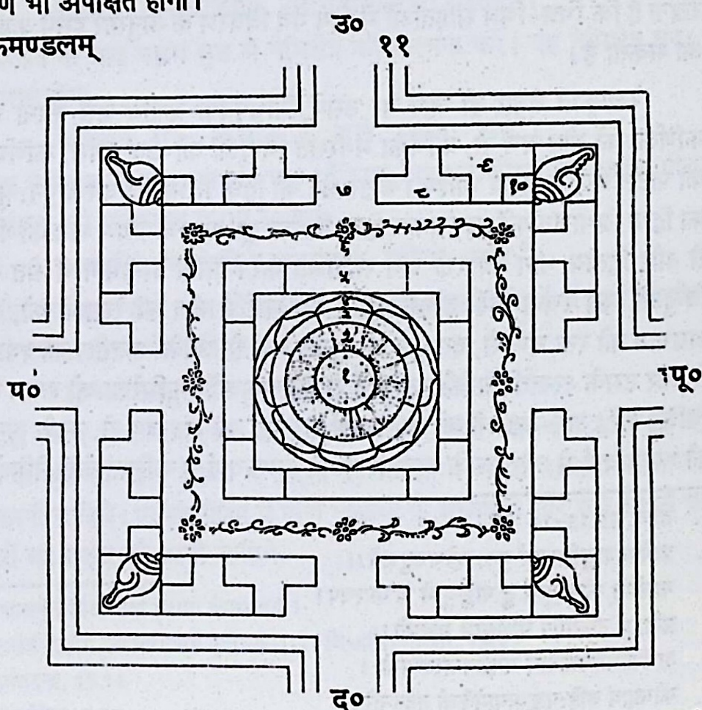
1. तत्रैव, 15.13-14
2. प्रत्येक शङ्खविध्यर्थं पुनः कोणचतुष्टये।।
मार्जयेत् कोष्ठयुग्मं तु पङ्क्तियुग्मे च काश्यप।
प्रतिद्वारं तत्समीपे पार्श्वयुग्मे महामते।।
अर्धशोभाविधानाय बाह्यानन्तररथ्ययोः।
कोष्ठद्वयं बहिःपङ्क्त्यामेकैकं तदनन्तरे।।
मार्जनीयं तु शोभार्थमेकैकं चान्यतो बहिः।
कोष्ठत्रयं मार्जनीयं प्रत्येकं द्विजसत्तम।।
व्यत्यासेनोपशोभार्थमन्तरेकं बहिस्त्रयम्।
समार्जनीयं कोष्ठानां विनियोगः प्रदर्शितः।। (विश्वामित्रसंहिता 15.14-18)

दो भागों में विभाजित करके प्रथम भाग में कृष्ण वर्ण तथा द्वितीय भाग में शुक्ल वर्ण भरें। इसके पश्चात् पीठ को पीत वर्ण से, वीथी को शुक्ल वर्ण से, उसमें लताप्रतानादि को हरे रंग से, शोभाओं को रक्त वर्ण से, उपशोभाओं को पीत वर्ण से, अर्धशोभाओं को श्याम वर्ण से रंगे। पूर्वादि चारों द्वारों को क्रमशः शुक्ल, रक्त, पीत और कृष्ण वर्ण से, कोणों को कृष्ण वर्ण से तथा कोणों में रचित शंखों को श्वेत वर्ण से कल्पित करें[1]। वर्ण–विन्यास के विषय में यह ध्यातव्य है कि पाञ्चरात्र–संहिताओं में वर्णों (रंगों) की कल्पना के विषय में परस्पर पर्याप्त भिन्नता है।

भद्रक–मण्डल

दीक्षा–विधि में चक्राब्ज–मण्डल का विकल्प भद्रक–मण्डल हो सकता है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अतः भद्रक मण्डल की रचना का संक्षिप्त विवरण भी अपेक्षित होगा।

भद्रकमण्डलम्



1. कर्णिकाक्षेत्रम् 2. केसरक्षेत्रम, 3. दलसन्धिक्षेत्रम्, 4. दलाग्रक्षेत्रम्, 5. पीठम्, 6. वीथिः, 7. द्वारम्, 8. शोभा, 9. उपशोभा, 10. कोणः 11. बहिरावरणरेखाः।

1. द्रष्टव्य–परमसंहिता, 7; भार्गवतन्त्र, 13, ईश्वरसंहिता, 11 आदि।

चक्राब्ज-मण्डल के समान ही सूत्र के द्वारा दो सौ छप्पन कोष्ठों का निर्माण किया जायेगा। मध्यवर्ती छत्तीस कोष्ठों का पद्म की रचना के लिये मार्जन कर ले। इसके बाहर चारों ओर एक पंक्ति में शोभा और उपशोभा से युक्त द्वारों की रचना होगी। नारदीयसंहिता के अनुसार-

ततः षोडशधा दिक्षु लाञ्छयित्वा समन्ततः।
प्रसार्यास्फाल्य यत्नेन समं सूत्राणि साधकः।
कोष्ठानां द्विगतं तत्र षट्पञ्चाशत्तथोत्तरम्।।
षट्त्रिंशद्भिर्लिखेन्मध्ये कोष्ठकैः पङ्कजं शुभम्।
बहिः पङ्क्त्या भवेत् पीठं ततो द्वाभ्यां तु वीथिका।।
शोभोपशोभयुक्तानि द्वाराणि च ततः परम्[1]।

इसके पश्चात् पद्मरचना की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि पद्म के लिए निश्चित क्षेत्र में चार वृत्तों की कल्पना करें। प्रथम कर्णिका क्षेत्र, द्वितीय केसर क्षेत्र, तृतीय दलसन्धि क्षेत्र और चतुर्थ दलाग्र क्षेत्र होगा-

विभज्य भ्रामयेच्छेषं चतुःक्षेत्रं तु वर्तुलम्।
प्रथमं कर्णिकाक्षेत्रं केसराणां द्वितीयकम्।।
तृतीयं दलसन्धीनां दलाग्राणां चतुर्थकम्[2]।।

निर्दिष्ट विधि से आठ या बाहर दल वाले पद्म का निर्माण करना चाहिए[3]। पीठ क्षेत्र में चारों ओर कोण के तीन तीन, बीच के चार-चार कोष्ठों में पीठ की परिकल्पना करें-

व्योमरेखा बहिः पीठं तत्र कोष्ठानि योजयेत्।
त्रीणि कोणेषु पादार्धद्विद्विकान्यपराणि च[4]।।

इसके पश्चात् दो पंक्तियों का वीथिका के लिये मार्जन करे। चारों दिशाओं में चार द्वार, उनके पार्श्व में आठ शोभा, उनके पार्श्व में आठ उपशोभा तथा उपशोभाओं के पार्श्व में चारों ओर कोण की रचना की जानी चाहिए। चारों ओर प्रथम पंक्ति के मध्य के दो-दो कोष्ठ और द्वितीय (बाह्य) पंक्ति के चार-चार कोष्ठों से चार द्वारों का निर्माण होगा। इन द्वारों के पार्श्वों में चारों ओर प्रथम (अन्तर) पंक्ति के तीन-तीन और बाह्य पंक्ति से एक-एक कोष्ठ से आठ शोभाओं की रचना होगी। इन शोभाओं

1. नारदीयसंहिता, 8.8-11
2. तत्रैव, 8.12-13
3. तत्रैव, 8.14-20
4. नारदीयसंहिता, 8.21

के पार्श्वों में प्रथम पंक्ति के एक एक और बाह्य पंक्ति के तीन-तीन कोष्ठों से आठ उपशोभाओं का निर्माण होगा। चारों ओर शेष कोष्ठों में कोष्ठों की रचना होगी[1]।

इस भद्रक-मण्डल की कल्पना करके उसमें वर्णविन्यास करना चाहिए। नारदीयसंहिता में ही वर्णविन्यास का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि कर्णिका को पीत वर्ण से तथा सभी रेखाओं को श्वेत वर्ण से रंजित करना चाहिए। दलसन्धियों को कृष्ण वर्ण से भरना चाहिये। केसर मूल में श्वेत, पृथु स्थल पर रक्त, मध्य तथा अग्र भाग में पीत, उसके अग्र भाग में श्वेत वर्ण के होंगें तदनन्तर द्वार क्षेत्रों को श्वेत वर्ण से भरे। शोभा को रक्त वर्ण से, उपशोभा को पीत वर्ण से, नील (कृष्ण) वर्ण से कोणों को भरें। कोणों में श्वेत वर्ण से शंखों को चित्रित करे। इस प्रकार भद्रक-मण्डल सुसज्जित हो जाएगा[2]।

अधिवासन

अधिवासन विधि के अन्तर्गत मण्डल के द्वारदेशों में कलश-स्थापन और

---

1. द्वाराण्याशासु कुर्वीत चत्वारि चतसृष्वपि।
द्वाराणां पार्श्वतः शोभा अष्टौ कुर्याद्विचक्षणः।।
तत्पार्श्वे उपशोभास्तु तावत्यः परिकीर्तिताः।
समीप उपशोभानां कोणास्तु परिकीर्तिताः।।
चतुर्दिक्षु ततो द्वे द्वे विलिम्पेन्मध्यकोष्ठके।
चत्वारि बाह्यतो मृज्याद् एकैकं पार्श्वयोरपि।।
शोभार्थं पार्श्वयोस्त्रीणि विलिम्पेन्मण्डलस्य तु।
तद्वद् विपर्ययात् कुर्यादुपशोभास्ततः परम्।।
कोणस्यान्ते बहिस्त्रीणि विलिम्पेन्निर्विभेदतः।
द्वारशोभोपशोभानाम् एवं भेदः प्रकीर्तितः।। (तत्रैव, 8.23-27)

2. कर्णिका पीतवर्णा स्याद् रेखाः सर्वाः सिताः समाः।
श्यामेन वाथ कृष्णेन दलसन्धींस्तु पूरयेत्।
केसरास्तु तले मूले सिताः स्युः पृथवोऽरुणाः।।
मध्ये चाग्रे तथा पीतास्तदग्रे सितभूषणाः।
वर्णश्रेष्ठेन रक्तेन कोणान् सम्पूर्य साधकः।
भूषयेद् योगपीठं तु यथेष्टं सर्ववर्णकैः।।
लतावितानपत्राद्यैर्वीथिकामुपशोभयेत्।
पीतेनापूर्य रजसा द्वारं शुक्लेन पूरयेत्।।
रक्तेन शोभामापाद्य पीतेनाप्युपशोभिकाः।
नीलेन कोणान् संच्छाद्य लिखेच्छङ्खान् समुज्ज्वलान्।।
भद्रकस्य विनिर्दिष्टम्................। (तत्रैव, 8.47-53)

वेदिका के मध्य में चक्राब्ज-मण्डल अथवा भद्रक-मण्डल का निर्माण करने के पश्चात् श्रीवैष्णव आचार्य को मण्डलस्थ देवताओं का षोडशोपचार-पूर्वक पूजन करना चाहिये। इस क्रम के अन्तर्गत कर्णिकाओं में मन्त्राध्व, केसरों में तत्त्वाध्व, दलों में वर्णाध्व, नाभि में पदाध्व, अरों में कलाध्व तथा नेमि में भुवनाध्व की अर्चना और तत्पश्चात् कर्णिका में स्थित द्वादश बिन्दुओं में द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) के अक्षरों का पूजन करे। तदनन्तर कर्णिका में भगवान् वासुदेव का आवाहन तथा अभ्यर्चन विधिपूर्वक करना चाहिये। तत्पश्चात् केसरों में श्री आदि आठ देवियों (श्री, सरस्वती, रति, शान्ति, प्रीति, कीर्ति, पुष्टि और तुष्टि) का, दलभूमि में श्रीवत्स आदि द्वादश शक्तियों का (श्रीवत्स, वनमाला, योगयामा, वैष्णवी, विमला, सृष्टिशक्ति, उत्कर्षिणी, ज्ञानशक्ति, सत्यशक्ति, ईशान्या, अनुकम्पा, पितामहा[1]), दलान्त वलय में व्याप्ति आदि चामरधारिणी शक्तियों (व्याप्ति, कान्ति, तृप्ति, श्रद्धा, विद्या, दया, क्षमा, शक्ति[2]) का, नाभि में विष्णु का, द्वादश अरों में विष्णु आदि (केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाथ, दामोदर) का, अरान्त वलय में मत्स्य आदि (मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कृष्ण कल्कि) का, प्रथम नेमि वलय में शंख आदि (शंख, चक्र, गदा, खड्ग, शार्ङ्ग, मुसल, बाण और पाश) का, आग्नेय आदि पीठकोण-चतुष्क में वराह, नरसिंह, अनन्त और हयग्रीव का, लतावीथिका में इन्द्र आदि द्वारपालों का, द्वारों में चण्ड आदि (चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, जय, विजय, धाता, विधाता) का, वीथि में विष्वक्सेन, वैनतेय, पद्म, गदा, शंख का विधिपूर्वक आवाहन और सोपाचार पूजन करें[3]।

इस प्रकार मण्डल-पूजन के पश्चात् गालित जल से पूर्ण स्वर्णादि से निर्मित कुम्भ में रत्न, स्वर्ण आदि और कूर्च (कुशमुष्टि) डालकर सूत्र से वेष्टित करके वस्त्रयुगल से लपेट कर चन्दन और माला से अलंकृत करना चाहिए। जिस द्रव्य से कुम्भ का निर्माण किया गया हो, उसी स्वर्ण आदि द्रव्य से कर्करी (करक-छिद्रयुक्त पात्र) का निर्माण करना चाहिए। सौ बार अस्त्र मन्त्र से कर्करी को अभिमन्त्रित करके गुरु को अविच्छिन्न धारा से वेदि के चारों ओर सिंचन करना चाहिये। वेदि की प्रदक्षिणा करते हुए करक और उसके कुम्भ को लाकर चक्राब्ज-मण्डल के ईशान

---

1. विश्वामित्रसंहिता, 10.124-126
2. तत्रैव, 10.127
3. भार्गवतन्त्र, 13.31-41, क्रियाकैरवचन्द्रिका, पृ. 26

कोण में शुभ धान्यराशि पर उसकी स्थापना करनी चाहिए। कुम्भ के अन्दर फल और उसके चारों ओर फलों का विन्यास करना चाहिए। कुम्भ के दक्षिण पार्श्व में कलश और वाम पार्श्व में करक की स्थापना करनी चाहिए। कुम्भ में मूल मन्त्र से हरि का आवाहन और पूजन करके चक्राब्ज-मण्डल में उपचार-पूर्वक देवतार्चन करना चाहिए।

विधिपूर्वक परिवार के साथ मण्डल के पश्चिम में लक्ष्मीदेवी तथा भूदेवी से युक्त हरि शयन कर रहे हैं, ऐसी परिकल्पना करके उनकी षोडशोपचार पूर्वक अभ्यर्चना करनी चाहिए। तदनन्तर अष्टाक्षर मन्त्र के द्वारा अग्नि-मन्थन करके कुण्ड में उसकी स्थापना करनी चाहिए। वहीं पर शुद्ध तण्डुलों से चरु को पकाकर उसके चार भाग करने चाहिये। उसका एक भाग मण्डल में स्थित भगवान् विष्णु को, एक भाग कुम्भ में स्थित हरि को निवेदित करके, एक (तीसरा) भाग अग्नि में हवन करके अन्तिम एक (चतुर्थ) भाग का गुरु स्वयं भक्षण करे। अग्नि में मूल मन्त्र के द्वारा एक सौ आठ समिधाओं और उतनी ही आज्याहुतियों से हवन करके तथा उतनी ही संख्या (108) में पुरुषसूक्त से चरु का हवन करके पूर्णाहुति करे।

तदनन्तर स्नान किये हुए, जितेन्द्रिय, नये शुभ्र वस्त्रयुगल धारण किये हुए, उत्तम आभूषणों से भूषित, चन्दनादि से अनुलिप्त अंगों वाले नूतन वस्त्र से नेत्र मन्त्र का जप करते हुए बाँध दे। उसे अपने दक्षिण पार्श्व में पूर्वाभिमुख बैठाकर उससे कुशपुंज से संस्पृष्ट होकर आज्य, समिधा, चरु, पुष्प और तिल से पुण्डरीकाक्ष मन्त्र[1] अथवा द्वादशाक्षर मन्त्र[2] के द्वारा द्वादश आहुतियाँ दें। इसके पश्चात् गुरु तीन बार प्रदक्षिणा करते हुए शिष्य के शिर का स्पर्श करते हुए मूल मन्त्र से कुण्डाग्नि की भस्म से ऊर्ध्व-पुण्ड्र का विधान करे। तदनन्तर अस्त्र मन्त्र से दक्षिण हाथ में प्रतिसर (रक्षासूत्र) को बाँध कर उसे पञ्चगव्य (गाय का दूध, दही, घृत, गोमूत्र, गोबर) और चरु का प्राशन कराये। इसके बाद दन्तकाष्ठ से दाँतों का शोधन करा कर फेंक दे।

गुरु उस दन्तकाष्ठ के अग्र भाग के पतन-स्थान का सम्यक् निरीक्षण करे और उससे शुभाशुभ का विचार करे। अनेक संहिताओं में इस प्रकार के शुभाशुभ के विचार का विवरण प्राप्त होता है। परमसंहिता के अनुसार न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष, दर्भ, वेणु, आत्माकर, अपामार्ग, मज्जन, धातकी, शमी आदि से निर्मित दन्तकाष्ठ से दन्तधावन कराना चाहिए। दन्तकाष्ठ को द्वादश अंगुल परिमाण का सीधा और ग्रन्थियों से रहित होना चाहिए। विद्वान् को चाहिए कि जल से धोकर मूल

---

1. श्रीप्रश्नसंहिता, 16.60
2. क्रियाकैरवचन्द्रिका, पृ. 26

से दन्तकाष्ठ को चबाये। चबाते समय ब्राह्मण को उत्तर, क्षत्रिय को पूर्व, वैश्य को पश्चिम तथा शूद्र को दक्षिण दिशा की ओर देखना चाहिए। दन्तकाष्ठ से दाँतों को ऊपर नीचे से शोधित करके बीच से तोड़कर पुनः जल से धोकर बाहर फेंक दे और उसके पतन का अच्छी प्रकार से निरीक्षण करे[1]। दन्तकाष्ठ का अग्र भाग गिरने पर किस दिशा की ओर है, इस आधार पर शुभ और अशुभ का विवेचन परमसंहिता के ही शब्दों में इस प्रकार है–

पूर्वाग्रे तु भवेद् वृद्धिराग्नेयाग्रे तपो बलम्।
दक्षिणाग्रे भवेन्मृत्युर्नैर्ऋत्याग्रे धनक्षयः।।
वारुण्याग्रे परा शान्तिर्वायव्याग्रे रुजागमः।
उत्तराग्रे धनावाप्तिरैशान्यग्रे परं सुखम्।।
ऊर्ध्वाग्रे तु स्थिते तस्मिन् महती वृद्धिरिष्यते।
इत्येतानि निमित्तानि जानीयाद् दन्तधावने[2]।।

अर्थात् दन्तकाष्ठ का अग्र भाग पूर्व दिशा की ओर हो तो वृद्धि, आग्नेय दिशा की ओर तप और बल, दक्षिण दिशा की ओर मृत्यु, नैर्ऋत्य दिशा की ओर धनक्षय, पश्चिम दिशा की ओर परम शन्ति, वायव्य दिशा की ओर रोगप्राप्ति, उत्तर दिशा की ओर धन की प्राप्ति, ईशान दिशा की ओर परम सुख तथा ऊपर की ओर स्थित होने पर महती वृद्धि का सूचक होता है।

इस प्रकार दक्षिण, नैर्ऋत्य और वायव्य दिशा की ओर दन्तकाष्ठ के अग्र भाग का पतन अशुभ है तथा अन्य दिशाओं में शुभ। दन्तकाष्ठ का पतन यदि अशुभ को सूचित कर रहा है, तो अशुभ की शान्ति के लिये नृसिंह मन्त्र (ॐ ट्र्रों ट्र्झ नमः

---

1. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थान् प्लक्षान् दर्भांश्च वैणवान्।
आत्माकरमपामार्गं मज्जनं धातकीं शमीम्।।
अन्यानि च पवित्राणि कारयेद् दन्तधावनम्।
द्वादशाङ्गुलमात्रं तदवक्रं ग्रन्थिवर्जितम्।
मूलतो भक्षयेद् विद्वान् अद्भिः प्रक्षाल्य वाग्यतः।
उत्तरां दिशमैन्द्रीं च प्रतीचीं दक्षिणं तथा।।
पश्यन्तः क्रमशो वर्णाः खोदयुर्दन्तधावनम्।
शोधयित्वा क्रमेणैव तेन दन्तानुपर्यधः।।
भञ्जनं मध्यतः कृत्वा जलैः प्रक्षाल्य तत्पुनः।
बहिरेव क्षिपेद् विद्वान् पतनं तस्य लक्षयेत्।। (परमसंहिता, 9.3-7)
2. तत्रैव, 9.8-10

ज्चलनायुतदीप्तये नृसिंहाय स्वाहा) से एक सौ आठ आहुतियों से हवन करे। तदनन्तर गुरु आचमन किये हुए शिष्य का हाथ पकड़ कर भगवान् को प्रणाम करके इस गाथा का पाठ करे–

संसारपाशबद्धानां पशूनां पाशमोक्षणे।
त्वमेव शरणं देव गतिरन्या न विद्यते।।
पाशमोक्षणहेतुर्यस्त्वत्समाराधनात्मकः ।
तेनेमान् जन्मपाशेन पाशितान् पशुजन्मनः।।
विपाशयामि देवेश तदनुज्ञातुमर्हसि[1]।

श्रीप्रश्नसंहिता में "पशूनां पाशमोक्षेणे" के स्थान पर "नृपशूनां विमोक्षणे" पाठ प्राप्त होता है।

इस प्रकार भगवान् को निवेदन करके शिष्य को सूत्र से वेष्टित करें। शुक्ल, रक्त और कृष्ण वर्ण के तीन सूत्रों को तीन बार मोड़कर पुनः तीन बार मोड़कर इस मायासूत्र से शिष्य के शरीर को पैर से लेकर शिर पर्यन्त तत्त्वसंख्या, अर्थात् पच्चीस बार मूल मन्त्र से वेष्टित करें। इसी मन्त्र से घी से 108 बार आहुति दें। इस प्रकार पूर्णाहुति करके स्वप्नदर्शन की सिद्धि के लिये गुरु स्वप्नाधिपति मन्त्र से एक सौ आठ बार आहुति देकर भूतों के लिये माष और ओदन की बलि देकर शिष्य के नेत्र के बन्धन को और मायासूत्र को खोल दें। मायासूत्र को एक शराव (प्याले) में रखकर दूसरे शराव से उसे ढक कर कुम्भ के पास रख दें। इसके बाद वहाँ भूमि पर कुशों को बिछाकर उस पर शिष्य को सुला दें। उस समय गुरु मण्डल और कुण्ड में स्थित देवताओं का उद्वासन न करें। गुरु अन्य दीक्षितों के साथ जागते हुए शिष्य के क्षेम का अनुस्मरण करते हुए वैष्णवी कथाएँ करें।

द्वादशी के कृत्य

प्रातःकाल स्नान तथा नित्य कर्म करने के बाद गुरु मण्डप में आकर स्नान किये हुए शिष्य से स्वप्न का विवरण पूछे। स्वप्न के शुभ होने पर उसकी तत्काल दीक्षा करनी चाहिये। दुःस्वप्न का दर्शन होने पर पहले शान्तिहोम करना चाहिये।

स्वप्न-विचार

परमसंहिता का कथन है कि प्रथम याम में देखा गया स्वप्न एक वर्ष बाद फल

1. विश्वामित्रसंहिता, 9.35–36; श्रीप्रश्नसंहिता, 16.66–68

देता है, द्वितीय याम का स्वप्न आठ महीने बाद, तृतीय याम का स्वप्न तीन महीने बाद, चतुर्थ याम का स्वप्न एक महीने बाद तथा प्रभात में देखा गया स्वप्न तत्काल फल देता है[1]। इसके पश्चात् शुभ स्वप्नों का विवरण देते हुए कहा है कि रश्मियों से युक्त सूर्य, तारों से घिरा हुआ चन्द्रमा, अग्निहोत्र की प्रदीप्त अग्नि, माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भाई, सुहृद्, मनुष्य के कच्चे मांस का पैरों से ऊपर की ओर भक्षण, दूध, सोम, सुरा, रक्त, शर्करा, दधि, घृत, सागर या नदी के जल का पान, पायसभक्षण, मनुष्य, हाथी, प्रासाद, शिबिका, फलयुक्त वृक्ष, शकट, आसन और शय्या पर सुखपूर्वक अधिरोहण करना, समुद्र तथा नदी आदि का तरण, देव, गुरु, द्विज, प्राज्ञ और साधुओं का समागम; शंख, चक्र, ध्वजा आदि, गन्धर्वनगर, वृष, छत्र, इन्द्रध्वज, वर्षा, आदर्शरत्न, चामर, तालवृन्त, कुम्भ, रुधिर, आमिष, विष्ठा से अनुलेपन, पुण्य शब्द का श्रवण, अगम्यागमन, सर्प और वृश्चिक आदि का दर्शन सम्पूर्ण शरीर का बन्धन तथा बन्धुओं के द्वारा घर्षण आदि को शुभ स्वप्न समझना चाहिए[2]।

इसी प्रकार अशुभ स्वप्नों की भी एक सूची इसी संहिता में दी गयी है। तदनुसार नग्न रूप में, चेष्टाहीन, भग्न यान पर अधिरूढ, भग्न ध्वजा, छत्र और आयुध से युक्त स्वयं को, चाण्डाल, रजक, चित्री, म्लेच्छ, गुप्तचर और पाषण्डियों को जो देखे, उसका शुभ नहीं होता। इसके साथ ही खर, उष्ट्र, महिष, व्याघ्र और वल्मीक पर अधिरोहण तैल से अनुलिप्त होकर इन पर आरूढ होकर दक्षिण दिशा की ओर जाना, चाँदी और सोने का लाभ, मधु और तैल का पान, पङ्क से दिग्ध शरीर से नर्तन, विवाह करना, प्रवाह में बहना, पके हुए मांस का भक्षण, दाँतों का गिरना, शिरोमुण्डन, पानी में डूबना, कष्टपूर्वक सूखे वृक्ष पर चढ़ना, आतप अथवा अन्य अमांगलिक दृश्यों को स्वप्न में देख कर मनुष्य शुभ प्राप्त नहीं करता। कुछ अन्य स्वप्नों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो स्वप्न में घृतयुक्त पायस का भक्षण करता है, पर्वत पर स्थित होकर जो वृक्ष पर चढ़ता है, प्रासाद में स्थित होकर जो स्वयं समुद्रतरण करता है अथवा जो भूमि का भक्षण करता है, वह राज्य प्राप्त करता है। देव, ब्राह्मण, गो, लिंगी, पितृगण तथा नृप स्वप्न में जो कहते हैं, वैसा ही सत्य होता है[3]।

---

1. स्वप्नं तु प्रथमे यामे कुर्यात् संवत्सरात् फलम्।
   अष्टमासाद् द्वितीये तु तृतीये त्रिभिरेव च।।
   मासेनैव भवेदन्त्ये प्रभावे त्वरया फलम्। (परमसंहिता, 9.13–14)
2. तत्रैव, 9.5–23
3. तत्रैव, 9.24–33

इस प्रकार गुरु को स्वप्न-विचार करना चाहिए। शुभ स्वप्न होने पर तत्काल दीक्षा दे देनी चाहिए। अशुभ स्वप्न की शान्ति पूर्ववत् शान्तिहोम से करके, स्नान करके और पवित्र होकर गुरु शिष्यसहित याग-सम्भार से युक्त मण्डप में प्रवेश करे। वहाँ पूर्ववत् ध्वज, तोरण और कुम्भ का पूजन करके मण्डल और कुण्ड में स्थित देवता की भक्तिपूर्वक पूजा करके पायस आदि अन्न का निवेदन करके प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करके पूर्ववत् शिष्य का नेत्रबन्धन करके उसे अपने पास बैठाये। तत्तश्चात् गुरु मन्त्र से पृथक्-पृथक् समिधा, घृत और तिलों की 108 बार आहुति देकर पूर्णाहुति करे। उस मायासूत्र को लेकर तत्त्वों का स्मरण करके, 108 अथवा केवल 8 बार हवन करे। तत्पश्चात् गुरु अपने हृदयकमल की कर्णिका में स्थित परम पुरुष का ध्यान करते हुए उसमें शिष्य के जीव का संहार-क्रम से संहार करके तथा शिष्य के देह का शोषण आदि करके तत्त्वसृष्टि के क्रम से होमपूर्वक शिष्य के स्थूल शरीर की सृष्टि करके अपने हृदय में स्थित देव का मण्डल में चिन्तन करके मण्डलस्थ देव का शिष्य में ध्यान करके उसके शरीर का स्पर्श करके मूल मन्त्र से कुम्भ-जल से प्रोक्षण करके शिष्य का नेत्रबन्ध खोल देना चाहिए। फिर दूसरे वस्त्र पहना कर चरणों को धुलाकर आचमन करवा कर दूसरे वस्त्र से नेत्रों को बाँध कर शिष्य को अपने पास बैठावे। एतदनन्तर षडध्वशोधन करके महाव्याहृति मन्त्र से एक सौ आठ आज्याहुतियाँ दे। अवशिष्ट आज्य से आहुति देकर गुरु शिष्य के चरणों का स्पर्श करे। इसके पश्चात् तिलों से उतनी ही संख्या में आहुति देकर हुतशेष से उसकी नाभि का, पद्मों से 108 आहुतियाँ देकर हुतशेष से शिष्य के शिर का स्पर्श करे। इसके पश्चात् गुरु को शिष्य का दाहिना हाथ अपने दाहिने हाथ से पकड़ कर कुम्भ-मण्डल में स्थित भगवान् का ध्यान करे हुए प्रदिक्षणा करनी चाहिए।

तदनन्तर मण्डल के चारों द्वारों में से किसी भी द्वार पर स्थित होकर गुरु शिष्य की अंजलि मे रत्न अथवा फूल भर दें। शिष्य गुरु की आज्ञा से अंजलि में स्थित रत्न अथवा पुष्पों को मण्डल में अर्पित करें। मण्डल के जिस भाग पर वह रत्नाञ्जलि अथवा पुष्पाञ्जलि गिरे, उसके अधिपति का नाम (केशव आदि) शिष्य को प्रदान करना चाहिये। नाम के अन्त में गुरु स्वयं 'भागवत' अथवा "भट्टारक" पद का निर्देश कर दें। क्षत्रिय क नाम के अन्त में "देव", वैश्य के नाम के अन्त में "पाल" तथा शूद्र के नाम के अन्त में "दास" शब्द लगाना चाहिये। नामकरण के पश्चात् गुरु शिष्य का नेत्र-बन्धन खोल दें तथा उसे चक्राब्ज-मण्डल का दर्शन कराते हुए उसके साथ भगवान् का ध्यान करते हुए गुरु शिष्य को मन्त्रोपदेश करें। शिष्य के दक्षिण कर्ण में सप्रणव, ऋषि, छन्द और देवता सहित अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर आदि मन्त्रों का

उपदेश करना चाहिए। स्त्री, शूद्र तथा अनुलोमज शिष्यों को नमः, स्वाहा, हूँ, फट् आदि से रहित, प्रणव से वर्जित चतुर्थ्यन्त विष्णु नाम का ही उपदेश करना चाहिए।

इसके पश्चात् शिष्य कुम्भ-मण्डल में स्थित देव की आराधना करें। अपने हाथ में चक्राब्ज-मण्डल का ध्यान करके उसे विष्णुहस्त के रूप में प्राञ्जलि शिष्य के शिर पर रख कर आचार्य शिष्य को समस्त आचारों और नियमों का उपदेश करें।

दीक्षित शिष्य के नियम

भिन्न-भिन्न पाञ्चरात्र-संहिताओं में दीक्षित शिष्य के लिए नियमों और आचारों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। कुछ स्थलों को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र एक ही प्रकार के नियम इन संहिताओं में विभिन्न शब्दावलियों में प्रतिपादित किए गए हैं। मुख्य मुख्य नियम इस प्रकार हैं- 1. किसी अन्य को मन्त्र नहीं बताना चाहिए, 2. अक्षमाला किसी को नहीं दिखानी चाहिए, 3. किसी को मुद्रा नहीं दिखानी चाहिए, 4. स्वयं अपनी मन्त्रसिद्धि का कथन नहीं करना चाहिए, 5. अपने गुरु का नाम नहीं कहना चाहिए, 6. गुरु के आदेशों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, 7. गुरु के दोषों को नहीं कहना चाहिए, 8. गुरु का अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिए, 8. गुरु के शयन आदि का लंघन नहीं करना चाहिए, 10. गुरु के पुत्र और पत्नी आदि में गुरु के समान ही भक्ति रखनी चाहिए, 11. मन्त्र, गुरु और देवता की समान बुद्धि से पूजा करनी चाहिए, 12. नास्तिकों का स्पर्श तथा उनके साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए, 13. गुरु, देवता तथा अग्नि के सामने पैर नहीं फैलाना चाहिए, 14. देवपूजा किए बिना कुछ भी भक्षण नहीं करना चाहिए, 15. सन्ध्या के समय मन्त्र का जप, स्तोत्रपाठ और प्रणाम आदि कृत्यों का आचरण करना चाहिए, 18. वैष्णवों और यतियों को देखकर पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए तथा 17. जाते हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए तथा स्वप्न की अवस्था मे भी तद्गत अन्तरात्मा से नारायण देव का ध्यान करना चाहिए, इत्यादि।

इस प्रकार गुरु शिष्य को नियमों का उपदेश करके शान्तिहोम करता हुआ पूर्णाहुति का आचरण करें। अग्नि का विसर्जन करके तथ' कुम्भ और मण्डल में स्थित देवों का उद्वासन करके गुरु प्रणत शिष्य को आशीर्वचनों से संवर्धित करें। इसके पश्चात् शिष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु को गाय, भूमि, आभूषण, हाथी, घोड़े, पालकी, दासी और दासों को समर्पित करें। वित्तशाठ्य न करता हुआ वह शिष्य गुरु के प्रति स्वयं को भी निवेदित कर दें। इसके पश्चात् अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणों को भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा से सन्तुष्ट करें। वहीं अवशिष्ट

अन्न का भक्षण करके बैठा रहे। सूर्य के अस्त हो जाने पर चन्दन आदि से अनुलिप्त तथा अलंकृत होकर गुरु की आज्ञा से बन्धुओं के साथ अपने घर को जाय। इस प्रकार विधिपूर्वक दीक्षित व्यक्ति को एकान्ती, पाञ्चरात्रिक, सूरि, भागवत, सात्वत, पाञ्चकालिक-इन नामों से सम्बोधित करना चाहिए, प्राकृत जनों की भाँति अन्य नामों से नहीं।

षष्ठ-अध्याय

मुद्रानिरूपण

विशेष प्रकार की प्रतीकात्मक अथवा सङ्केतात्मक भाषा ही 'मुद्रा' शब्द का अभिप्रेतार्थ है। 'मुद्रा' नाम की यह भाषा सम्भवतः प्रसिद्ध रूढ भाषाओं से भी प्राचीन है तथा भावाभिव्यक्ति की प्रबल समर्थ साधन है। अपने भावों तथा अभिप्रायों की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार हाथों और अंगुलियों का प्रचुर उपयोग करता रहा है। कभी वह मुख से भाषा का प्रयोग करते हुए तथा कभी मूक रह कर भाषा-प्रयोग न करते हुए भी अर्थाभिव्यक्ति-सौकर्य-हेतु हाथों और अंगुलियों का सहारा लेता है। इस प्रकार इनकी सहायता से मनुष्य की भाषा में आश्चर्यमयी सम्प्रेषणीयता-शक्ति आ जाती है। यह प्रक्रिया सार्वकालिक और सावभौम है। हाथों और अंगुलियों की इसी भङ्गिमा-विशेष को 'मुद्रा' शब्द से अभिहित किया जाता है।

भारत में मुद्राओं के स्वरूप, प्रयोग आदि विषयों पर गम्भीर चिन्तन तथा मनन हुआ है, और उन्हें शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया है। मुद्राओं का विशद शास्त्रीय विवेचन मुख्यतया दो विशिष्ट विधाओं मे उपलब्ध होता है। प्रथम-कला की मुद्राओं को 'हस्त' तथा 'हस्ताभिनय' भी कहा गया है। द्वितीय-यौगिक तथा तान्त्रिक पूजा और साधना पद्धतियों में। तान्त्रिक तथा यौगिक साधना पद्धतियों में प्रयुक्त होने वाली मुद्राएँ ही यहाँ विवेचनीय विषय हैं।

मुद्राशब्दार्थ

सर्वप्रथम इस बहुचर्चित और बहुप्रयुक्त 'मुद्रा' शब्द के अर्थ का अनुशीलन प्रसंगतः प्राप्त आवश्यक हो जाता है। इस विषय पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है- 1. कोशप्रोक्तार्थ, 2. व्युत्पत्ति-लभ्यार्थ तथा 3. निर्वचनलभ्यार्थ।[1]

---

1. विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य-पाञ्चरात्रागम, पृ. 96-97

1. कोश-प्रोक्तार्थ

संस्कृत के परम्परागत कोश-ग्रन्थ (अमरकोश आदि) मुद्रा-शब्द के अर्थ के विषय में मौन हैं। किन्तु 'शब्दकल्पद्रुम' तथा बोथलिंग-रॉथ-कृत 'संस्कृत-जर्मन शब्दकोश' में मुद्रा के अर्थ का विचार किया गया है।[1] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार मुद्रा शब्द इन प्रमुख अर्थों में प्रयुक्त होता है- 1. अङ्गुलीयक (अंगूठी), 2. चिह्न 3. लिपि-विशेष, 4. पंचमकार-गत द्रव्य-विशेष, 5. शरीर में धारण करने योग्य भगवदायुध के चिह्न-विशेष (शङ्ख-चक्र) तथा अंगुलि-निर्मित भङ्गिमाएँ।

बोथलिंग ताथ रॉथ के अनुसार :- 1. सील, 2. मुद्रा-यन्त्र, 3. अंगूठी, 4. अङ्कन, 5. मुहर, 6. प्रतिलिपि, प्रतिमा , चिह्न, टोकन, 7. रहस्य, गूढ 8. ताल सील, तथा 9. अलङ्कार (साहित्यिक) 'मुद्रा' शब्द के मुख्य अर्थ हैं।

2. व्युत्पत्तिलभ्यार्थ

'मुद्रा' शब्द औणादिक है। औणादिक शब्दों को कुछ आचार्य अव्युत्पन्न अर्थात् रूढ मानते हैं। इसी प्रकार कुछ आचार्य इन्हें व्युत्पन्न अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न मानते है। यहाँ मुद्रा शब्द को व्युत्पन्न (प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न) मान कर विचार किया जा रहा है। "मुदि हर्षे" यह एक भ्वादिगण में परिगणित धातु है। एतदनुसार "मुद" धातु का अर्थ है- हर्ष को प्राप्त होना। इस मुद् धातु में उणादि "रल्" प्रत्यय का योग करने से मुद्र शब्द बनता है। इसके पश्चात् स्त्रीत्व की विवक्षा में "टाप्" प्रत्यय करने पर मुद्रा शब्द की निष्पत्ति होती है। भट्टोजिदीक्षित ने इस शब्द के अर्थ के विषय में कहा है- 'मुद्रा प्रत्ययकारिणी'।[2] शब्दकल्पदुम में इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न होने वाले 'मुद्रा' शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा है- मोदते अनयेति। मुद्+स्फायितञ्चीत्यादि उणा. 2/13। इति रक् अतः टाप्।" अर्थात् जिसके द्वारा प्रसन्न किया जाय उसे मुद्रा कहते हैं।

3. निर्वचनलभ्यार्थ

तान्त्रिक ग्रन्थों में अनेकत्र मुद्रा शब्द के विविध-निर्वचन उपलब्ध होते हैं। इन सभी ग्रन्थों में 'मुद्रा' शब्द गत 'मुद' का अर्थ हर्ष या प्रसन्नता ही किया गया है। इस

---

1. "स्फायि-ता च-वा च-शक्ति-क्षिपि-क्षुदि-सूपि-तृपि-दृपि-वन्धुन्दि-पदि-मदि-खिदि-छिपि-मिदि-मन्दि-चन्दि-दहि-दसि-दम्भि-वसि-वाशि-शीङ्-ही-सिधि-शुमिभ्यो रल"-सिद्धान्तकौमुदी, उणादिसूत्राङ्क-170
2. तत्रैव।

'मुद्र' शब्द के साथ 'द्रु', 'द्रा' अथवा 'रा' धातुओं के योग से 'मुद्रा' शब्द की निष्पत्ति मानी गयी है। 'द्रु गतौ' धातु में णिच् प्रत्यय के योग से अथवा 'द्रा कुत्सितगतौ' के योग से मुद्रा शब्द के 'मुदं द्रावयति' अर्थ की कल्पना की गयी है। इसी प्रकार "रा दाने" धातु के योग की कल्पना करके 'मुदं राति ददाति' इस अर्थ को भी स्वीकार किया गया है। 'रा' धातु के योग से मुद्रा शब्द निष्पत्ति में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु 'द्रु' या 'द्रा' धातुओं से निष्पत्ति मानने पर 'मुद्‌द्रा' इस प्रकार का शब्द रूप निष्पन्न होगा। इस प्रकार तन्त्रों के अनुसार मुद्रा उसे कहेंगे जिसके द्वारा मुद् अर्थात् हर्ष को द्रवित या दूर किया जाय अथवा मुद् या हर्ष को प्रदान किया जाये। 'रा' धातु के योग से प्राप्त होने वाले अर्थ की ओर संकेत करते हुए शारदातिलक का कथन है–

आवाहन्यादिका मुद्राः प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्।
याभिर्विरचिताभिस्तु मोदन्ते सर्वदेवताः।।[1]

यहाँ 'मोदन्ते सर्वदेवताः' इन शब्दों के आधार पर 'मुदं राति ददातीति मुद्रा' इन निर्वचन का उल्लेख करते हुए टीकाकार राघवभट्ट का कथन है–

'रा दाने' मुदं राति ददातीति मुद्रेति निर्वचनम्। इदमेव 'मोदन्ते सर्वदेवताः' इत्यनेन सूचितम्। अतएव तद्दर्शनेन हर्षोत्पत्तिः।"[2]

इसी प्रकार उपर्युल्लिखित दोनों निर्वचनों को कुलार्णवतन्त्र के इन शब्दों मे भलीभाँति प्रदर्शित किया गया है–

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्या सुरेश्वरि।।[3]

पाञ्चरात्र आगमों में मुद्रा शब्द का निर्वच्चनः-

पाञ्चरात्र आगमों के अनुसार मुद्राएँ आराधन-प्रयोग की अपरिहार्य अंग हैं। यही कारण है कि अधिकांश पाञ्चरात्र-संहिताएँ मुद्रा के अर्थनिरूपण तथा उसके लक्षण आदि के विषय में अधिक मुखर हैं। सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्य इन रत्नत्रय संहिताओं में मुद्रा-लक्षण पर तो पर्याप्त चर्चा की गयी है, किन्तु मुद्रा शब्द के निर्वचन के विषय में मौन हैं। अनुवर्ती संहिताएँ इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालती

1. शारदातिलकम्-23.106
2. तत्रैव।
3. कुलर्णवतन्त्रम्, 17.57

हैं। इन संहिताओं में प्राप्त होने वाले एतद्विषयक सन्दर्भों पर दृष्टिपात करना अवश्य समीचीन होगा। इस सन्दर्भ में 8 संहिताओं के मन्तव्य विचारणीय हैं। मुद्रा शब्द का निर्वचन करते हुए पाद्म संहिता का कथन है–

1. पाद्मसंहिता के अनुसारः–

अङ्गुलीरचनाभेदो मुद्रा यस्मात् प्रदर्शितात्।
हिंसकानामशेषाणां मुदं द्रावयति क्षणात्।।
ततो मुद्रा निरसनं तेषां तस्याः प्रयोजनम्।
प्रीणनं चापि देवानां कर्मणा सापि दर्शिता।।[1]

2. विश्वामित्र-संहिता के अनुसारः–

अङ्गुलीनां समावेशभेदो मुद्रेति कथ्यते।
मुदं द्रावयते यस्मात् दुष्टानां दर्शनात् क्षणात्।।
ततो मुद्रेति कथिता मन्त्रतन्त्रविशारदैः।
हिंसकानां निरसनं देवानां प्रीणनं भवेत्।।[2]

3. इसी प्रकार का अर्थ श्रीप्रश्नसंहिता के इन शब्दों में द्रष्टव्य है–

मुद्रा नाम पिशाचानामसुराणां च रक्षसाम्।
यस्मान्मुदं द्रावयति तस्मान्मुद्रेति कीर्त्यते।।[3]

4. ईश्वरसंहिता के शब्दों मेंः–

मुदं कर्मात्मतत्त्वानां ददात्यमलयाजिनाम्।।
द्रावयन्ति च दोषाणां बाह्याभ्यन्तरचारिणाम्।
तेन मुद्रा समाख्याता कृतस्यापि च मुद्रणात्।।[4]

5. विष्वक्सेनसंहिता का कथन हैः–

---

1. पाद्मसंहिता, 22.2, 3
2. विश्वामित्रसंहिता, 13.2, 3
3. श्रीप्रश्नसंहिता, 53.63, 64
4. ईश्वरसंहिता, 24.1, 2

लब्धया तु यथा यस्मात् साधको देववैरिणाम्।
द्रावयीत मुदं तस्मात् मुद्रा (ल्लक्षणं शृणु)।।[1]

6. परमसंहिता में कहा गया है:-

हिंसकानां मुदं यस्मात् द्रावयन्तीति दर्शिताः।
तेन मुद्राः स्मृता ब्रह्मन् देवतानां मनोहराः।।[2]

7. विष्णुसंहिता की उक्ति भी इस सन्दर्भ में द्रव्टव्य है–

मुदं कुर्वन्ति देवानां राक्षसान् द्रावयन्ति च।
इत्येवं सर्वमुद्राणां मुद्रात्वं तान्त्रिका विदुः।।[3]

8. तथा पुरुषोत्तसंहिता में भी इसी प्रकार मुद्रा शब्द का निर्वचन किया गया है–

मुदं समस्ततत्त्वानां तत्क्षणाद् द्रावयिष्यति।
तस्मादन्वर्थनामाभूदेषा गोप्या चतुर्मुख।।[4]

यदि उपर्युदाहृत आठों संहिताओं के उद्धरणों की मीमांसा की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा (1) अङ्गुली-रचना विशेष है, (2) असुरों, पिशाचों अथवा हिंसकों के मुद् का द्रावण करती है, तथा (3) देवताओं को मुद् प्रदान करती है। इन्हीं तीनों घटकों के आधार पर निष्कष्यार्थ-संग्रह करते हुए मुद्रा शब्द का डा. ड. शङ्करभट्ट द्वारा किया गया यह लक्षण अत्यन्त सटीक है–

"असुर-मुद्-द्रावणपूर्वकं देवप्रीतिजनकः अङ्गुलि-समावेशविशेषो मुद्रेति पाञ्चरात्रिणां मतम्।"[5]

'मुद्रा' शब्द के निर्वचन के उपर्युक्त समग्र विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यह लक्षण केवल पाञ्चरात्र-सम्मत न होकर सर्वतन्त्र-सम्मत है। अतः 'पाञ्चरात्रिणां मतम्' के स्थान पर 'तान्त्रिकाणां मतम्' कहा जाय तो कोई हानि न होगी।

---

1. विष्वक्सेनसंहिता, 29.9, 10
2. परमसंहिता, 14.2
3. विष्णुसंहिता, 7.43, 44
4. पुरुषोत्तमसंहिता, 33.2, 3
5. विश्वामित्रसंहितायाः तुलनात्मकमध्ययनम्, पृ. 60

मुद्रा-प्रयोग : देश और काल

पाञ्चरात्रागमों में निरूपित मुद्राओं का मन्त्रों के साथ सीधा सम्बन्ध है। मन्त्रों के समूह को मन्त्रकोश तथा मुद्राओं के समूह को मुद्राकोश कहा गया है तथा मुद्राओं के ज्ञान-मात्र से मन्त्रों की सिद्धि मानी गयी है। इस सम्बन्ध में जयाख्यसंहिता की यह उक्ति द्रष्टव्य है:-

अस्यैव मन्त्रवृन्दस्य क्रमेण तु यथाक्रमम्।
मुद्राकोशं प्रवक्ष्यामि येन सन्निहितस्सदा।।[1]

इसी प्रकार के अभिप्राय को लक्ष्मीतन्त्र में इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है:-

मुद्राकोशं प्रवक्ष्यामि मन्त्रकोशस्य वासव।
येन विज्ञातमात्रेण मन्त्रसिद्धिर्महीयसी।।[2]

मन्त्र-प्रयोग हेतु देश-काल का निरूपण करते हुए जयाख्यसंहिता का कथन है-

'मुद्रा' बन्धयेन्मन्त्री स्नानकाले जलान्तरे।
आत्मनो न्यासकाले तु पूजान्ते मण्डलावनौ।।
अर्चासु मन्त्रविन्यासे अर्घ्यपात्रेऽम्बुभाजने।
पूर्णाहुत्यवसाने च मन्त्रे वह्न्यन्तरस्थिते।।
हिंसकानां विघाताय सर्वविघ्नोपशान्तये।
सर्वकार्यार्थसिध्यर्थं मुद्राकोश इहोदितः।।[3]

अर्थात् मन्त्र-साधक को आत्म-न्यास के समय स्नान के अवसर पर जल के अन्दर मण्डल-रचना के समय पूजा के अन्त में, अर्चा में मन्त्रविन्यास के समय अर्घ्यपात्र और अम्बुभाजन में, तथा पूर्णाहुति के अवसान के समय वह्न्यन्तर में मन्त्र में मुद्रा-बन्धन करना चाहिए। यहाँ हिंसकों के विनाश, समस्त विघ्नों की उपशान्ति तथा सर्वकार्यसिद्धि-हेतु इस मुद्राकोश के प्रयोग की आवश्यकता निरूपित की गयी है। लक्ष्मीतन्त्र में भी इन्हीं शब्दों तथा भावों की अनुवृत्ति देखी जा सकती है।[4]

---

1. जयाख्यसंहिता, 8.1
2. लक्ष्मीतन्त्र, 34.1
3. जयाख्यसंहिता, 8.3, 5
4. "मुद्रां बन्धयेन्मन्त्री स्नानकाले जलान्तरे।
   आत्मनो न्यासकाले च पूजान्ते मण्डलाविधौ।।

मुद्राओं की संख्या

पाञ्चरात्र-संहिताएँ मुद्राओं की किसी निश्चित संख्या की ओर संकेत नहीं करती हैं। तथापि इनमें आराधनोपयोगिनी मुद्राओं के लक्षणों का विशद निरूपण किया गया है। उपलब्ध संहिताओं में अट्ठारह संहिताओं में मुद्रा-लक्षणों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इनमें विवेचित मुद्राओं की संख्या भिन्न-भिन्न है। तदनुसार अधोलिखित विवरण से पाञ्चरात्र-संहिताओं में विवेचित मुद्राओं की संख्या स्पष्ट हो सकेगी:-

संहिता-नाम	मुद्राओं की संख्या
1. अगस्त्य-संहिता	17
2. ईश्वर-संहिता	34
3. कपिञ्जल-संहिता	23
4. जयाख्य-संहिता	61
5. नारदीय-संहिता	44
6. परम-संहिता	22
7. पाद्म-संहिता	58
8. पुरुषोत्तम-संहिता	41
9. मार्कण्डेय-संहिता	63
10. लक्ष्मीतन्त्र	45
11. विश्वामित्र-संहिता	77
12. विष्णु-तन्त्र	41
13. विष्णुतिलक-संहिता	18
14. विष्णु-संहिता	37
15. विष्वक्सेन-संहिता	8
16. श्रीप्रश्न-संहिता	39

अर्चायां मन्त्रविन्यासे ह्यर्घ्यपात्रेषु भोजने।
पूर्णाहुत्यवसाने च मन्त्रे ह्यभ्यन्तरस्थिते।।
हिंसकानां विघाताय सर्वविघ्नोपशान्तये।' (लक्ष्मीतन्त्र, 34.2-4)

17. सनत्कुमार-संहिता 84

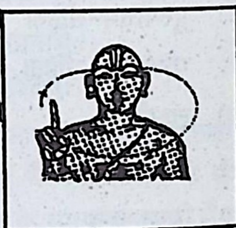
18. सात्वत-संहिता 8

प्रमुख पाञ्चरात्र-मुद्राएँ

प्रायः सभी प्रमुख पाञ्चरात्र-संहिताओं में मुद्राओं के लक्षणों का सविस्तर प्रतिपादन किया गया है। यों तो इन मुद्राओं की संख्या 250 के आस पास है। तथापि इस विवेचन को केवल पुरुषोत्तम-संहिता में प्रतिपादित 41 मुद्राओं के सचित्र लक्षणों की प्रस्तुति तक ही सीमित किया जा रहा है। डॉ. उ. शङ्करभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'विश्वामित्र-संहितायाः तुलनात्मकमध्ययनम् के तृतीय अध्याय में मुद्राओं का विस्तृत विवेचन किया है। इसमें (पृ. 64-105) उन्होंने मुद्राओं के स्वरूप को विशदतया प्रकाशित करने में समर्थ सुन्दर रेखाचित्र भी उपन्यस्त किये हैं। इसी प्रकार श्रीमति सीतापद्नाभन तथा वी. वरदाचार्य द्वारा सम्पादित 'पाद्मसंहिता' के द्वितीय भाग में परिशिष्ट के अन्तर्गत (पृ. 577-596) मुद्राओं के चित्र उपनिबद्ध किये है। अनुवर्ती मुद्राओं के स्वरूप-निरूपण के सन्दर्भ में इन्हीं दोनों पुस्तकों से आवश्यकतानुसार मुद्राओं के चित्रों को साभार ग्रहण किया जा रहा है।

1. अग्निप्राकार-मुद्रा

अङ्गुष्ठाग्रेण संस्पृश्य तर्जनीं मध्यपर्वकम्।
(पु. 33-35)



अँगूठे के अग्रभाग से तर्जनी के बीच के पौरुवे को छूने से अग्निप्राकार-मुद्रा होती है।

2. अनन्त-मुद्रा

............................कथ्यतेऽनन्तमुद्रिका।।
सर्वाङ्गुलीभिराकुञ्च्य फणिवत्क्रियते यदि।।
(पु. 33,11, 12)



यदि सभी अंगुलियों को (मिलाकर उनके पोरुओं को) साँप के फन के समान झुका दिया जाय तब उसे अनन्त मुद्रा कहते हैं।

3. अस्त्र-मुद्रा

स्फोटनं चैव सर्वत्र अस्त्रमुद्रेति कीर्तिता।
अङ्गन्यासमुद्राणां विनियोगः प्रदर्शितः।।

(पु. 33, 41, 42)

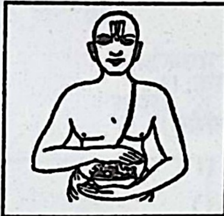


सर्वत्र स्फोटन करने को ही अस्त्र-मुद्रा कहा गया है।

4. आप्यायन-मुद्रा

नव्यहस्ते तथा पद्मं षोडशच्छद-संयुक्तम्।
तस्मिन् चन्द्रं स्थितं ध्यात्वा पीयूषस्त्राविणं तथा।
अवाङ्मुखेन हस्तेन द्रव्याणामुपरि न्यसेत्।।
आप्यायनस्य मुद्रैषा द्रव्यपारणकारिणी।।

(पु. 33. 26, 27)



दाहिने हाथ में सोलह पंखुड़ियों से युक्त पद्म का तथा उसमें अमृत बरसाने वाले चन्द्रमा का ध्यान कर अधोमुख बाँए हाथ को द्रव्य के ऊपर रखे तब यह आप्यायन मुद्रा होती है।

5. आभरण-मुद्रा

कनिष्ठिकाग्रपर्वं तु स्पृशेदङ्गुष्ठकेन तु।
मुद्रा चाभरणं ज्ञेयम् अलङ्कारासने मतम्।।

(पु. 33. 20)



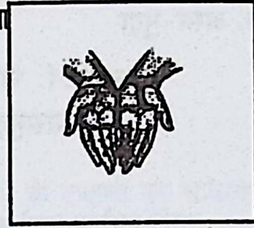
कनिष्ठिका के अगले पर्व को जब अँगूठे से छुआ जाए तब अलङ्कार, आसन आदि में प्रयुक्त होने वाली आभरण-मुद्रा होती है।

6. आवाहन-मुद्रा

विरलाञ्जलिबद्धस्तु मुद्रा चावाहनाख्यका।

(पु. 33. 30)

दोनों हाथों से अञ्जलि बाँध कर अलग-अलग करना आवाहन नामक मुद्रा होती है।



7. कवच-मुद्रा

करयोरुभयोंगुष्ठौ सङ्कुच्याङ्गुलिभिस्तथा।।
भुजप्रभृतिपादान्तं न्यसेत्कवचमुद्रिका।

(पु. 33, 39, 40)



दोनों हाथों के अंगूठों को सभी अँगुलियों से सिकोड़ कर उनसे कंधे से लेकर पगथली तक छूने पर कवच मुद्रा होती है।

8. किरीट-मुद्रा

अङ्गुष्ठाभ्यां च करयोस्सम्पुटीकृत्य देशिकः।।
अनामिके च तर्जन्यौ सङ्कोच्य शिरसि न्यसेत्।
किरीटे कथिता मुद्रा..............................।।

(पु. 33 30, 31)

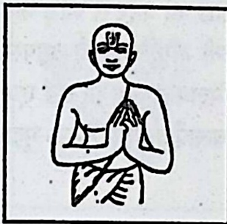


दोनों अँगूठों से दोनों कनिष्ठिकाओं को ढँक कर तथा दोनों अनामिकाओं और तर्जनियों को संकुचित कर सिर पर रखने से किरीट मुद्रा होती है।

9. कौस्तुभ-मुद्रा

दक्षिणस्य च हस्तस्य तर्जन्या तु कनिष्ठिकम्।
स्वयहस्तकनिष्ठेन बध्वा तत्तर्जनीं नयेत्।।
पूर्वाङ्गुलित्रयं देशं कौस्तुभं परिकीर्तितम्।

(पु. 33, 33, 34)



दाहिने हाथ की तर्जनी से कनिष्ठिका को सव्य हाथ की कनिष्ठिका से बाँध कर उससे तर्जनी का स्पर्श करने पर पूर्व अङ्गुलित्रय-देश को कौस्तुभ-मुद्रा कहा गया है।



10. खड्ग-मुद्रा

तर्जनी-मध्यमा-हीना
मुष्टिः खड्गेति कीर्तिता।।

(पु. 33. 9)

तर्जनी और मध्यमा से हीन (अर्थात् इनको तान देने पर) मुष्टि को खड्ग मुद्रा कहा गया है।

11. गदा-मुद्रा

मुष्टिं बध्वा तु हस्ताभ्यां संश्लिष्टौ मध्यमाङ्गुली।।
कूर्परौ तु समौ कृत्वा गदामुद्रेयमीरिता।

(पु. 33. 6)



दोनों हाथों से मुट्ठी बाँध कर, मध्यमा अँगुलियों को संश्लिष्ट करके दोनों कोहनियों को भी एक सा कर देने (मिलाने) पर गदा मुद्रा कही गयी है।

12. गरुड-मुद्रा

हस्तयोरुभयोः स्पृष्ट्वा संश्लिष्टा च कनिष्ठिकौ।।
तथा च तर्जनीयुग्मं बध्वांगुष्ठौ समौ कृतौ।
पक्षवच्चलनं कुर्यादितराङ्गुलिभिस्तथा।।

(पु. 33. 12, 13)

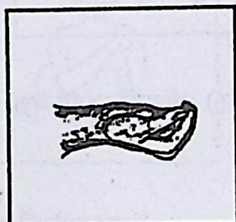


दोनों हाथों के पंजों को पीछे की ओर से जोड़ कर उन दोनों की कनिष्ठिका व तर्जनी अँगुलियों को आपस में गूथ लें तथा दोनों अँगूठों को मिलकार एक सा रखें एवं शेष अँगूलियों को पंख के समान चलाएँ तब उसे गरुड-मुद्रा कहते हैं।

13. ग्रास-मुद्रा

अङ्गुलीनां तु पञ्चानाम् अग्रं संयोज्य यत्नतः।
दक्षिणेन करेणैव मुद्रा सा ग्राससंज्ञिका।।

(पु. 33. 34)



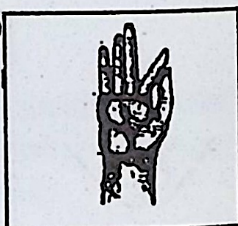
दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियों को यत्नपूर्वक आगे से मिला देने वर वह ग्रासमुद्रा होती है।

14. ज्ञान-मुद्रा

तर्जन्यङ्गुष्ठयोरेव संयोगे ज्ञानमुद्रिका।।

(पु. 33. 34)

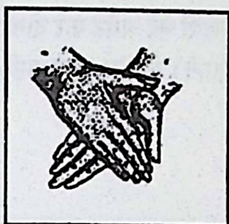
तर्जनी और अँगूठे के संयोग को ज्ञान-मुद्रा कहते हैं।



15. चक्र-मुद्रा

अधोमुखं करं कृत्वा दक्षिणं वामहस्तके।
उत्ताने मणि-बंधे तु मणिबन्धं तु योजयेत्।।
चक्रवद् भ्रमणादेवं चक्रमुद्रेति कीर्तिता।।

(पु. 33. 5, 6)

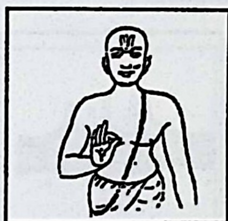


(ऊर्ध्वमुख) बाँए हाथ (की हथेली पर) अधोमुख दहिने हाथ (की हथेली) को रखकर ऊपर उठे हुए (बाँए) मणिबन्ध (कलाई) से (दाहिने) मणिबन्ध को जोड़े, तब (उन दोनों पंजों को उनके सीधे) चक्र के समान घुमाने पर निर्मित मुद्रा को चक्र-मुद्रा कहा गया है।

16. तत्त्व-मुद्रा

सैव श्रीवत्समुद्रा स्यात्तत्त्वमुद्रा प्रकीर्तिता।

(पु. 33. 35)

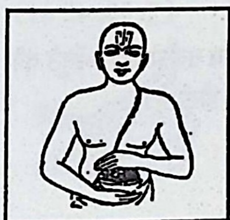


पूर्वोक्त श्रीवत्स-मुद्रा को ही तत्त्व-मुद्रा कहा गया है।

17. दहन-मुद्रा

वामहस्ते त्रिकोणाग्निं ध्यात्वा द्रव्योपरि न्यसेत्।
एषा दहनमुद्रा स्यात्सर्वद्रव्यविशोधिनी।।

(पु. 33, 25, 26)

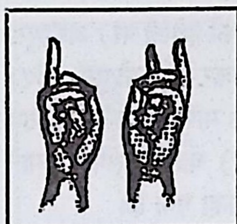


बाँए हाथ में त्रिकोणाग्नि का ध्यान कर द्रव्य छोड़े-यह सर्व-द्रव्य-विशोधिनी दहन-मुद्रा है।

18. दीप-मुद्रा

सर्वाङ्गुलीश्च संहृत्य मध्यमे द्वे प्रदर्शयेत।
हस्तायोरुभयोश्चापि दीपमुद्रा प्रकीर्तिता।।

(पु. 33. 22)

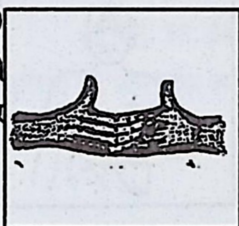


दोनों हाथों की सभी अँगुलियों को समेट कर दोनों मध्यमा अँगूलियों को दिखाने (तानने) से दीप-मुद्रा कही गयी है।

19. धूप-मुद्रा

सच्छिद्रमङ्गुलीनां तु समाश्लिष्टाग्रबन्धनम्।
ऊर्ध्वांगुष्ठौ तथा कृत्वा धूपमुद्रा प्रकीर्तिता।।

(पु. 33, 21)



दोनों हाथों की सभी अँगुलियों को फैला कर आगे की ओर से आपस में बाँध लें तथा दोनों अँगूठों को ऊपर की ओर खड़ा रखे तब इसे धूप-मुद्रा कहा गया है।

20. नेत्र-मुद्रा

शिखामुद्रामधः कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निवेशयेत्।।
नेत्रमुद्रेति कथिता तर्जन्यङ्गुष्ठयोस्तथा।

(पु. 33. 40 41)

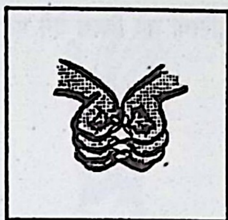


नीचे शिखा मुद्रा करके तब तर्जनी और अँगूठे को भौहों के बीच रखने पर नेत्रमुद्रा होती है।

21. पद्म-मुद्रा

अङ्गुलीः विरलाः कृत्वा करयोरुभयोरपि।
संश्लिष्टकूर्परौ यत्तत्पद्ममुद्रा निगद्यते।।

(पु. 33. 10)

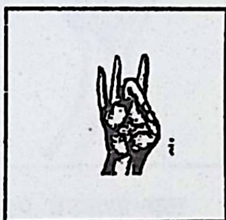


जहाँ दोनों हाथों की सभी अँगुलियाँ फैली हों और कोहनियाँ मिली हों उसे पद्म-मुद्रा कहा जाता है।

22. पुष्प-मुद्रा

पुष्पमुद्रा सर्वांगुलीनां सङ्कोचः विमुक्ता मध्यमा च सा।
पुष्पमुद्रेति कथिता पुष्पाणां च समर्पणे।।

(पु. 33. 18)

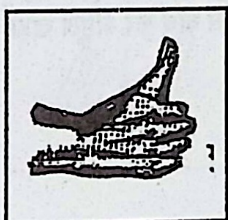


सभी अंगूलियों को सिकोड़ कर मध्यमा को छोड़ देने पर उसे पुष्पमुद्रा कहा गया है।

23. प्रतिमा-मुद्रा

सोर्ध्वाङ्गुष्ठे तु या मुष्टी मुद्रा सा प्रतिमा स्मृता।

(पु. 33. 24)



ऊपर की ओर उठे हुए अँगूठे से युक्त मुष्टि-मुद्रा को ही प्रतिमा-मुद्रा कहा गया है।

24. ब्रह्ममुद्रा

सर्वाङ्गुलीनां संसृष्टिरुभयोः करयोरपि।
ब्रह्ममुद्रेति कथिता ....।।

(पु. 33. 14, 15)



दोनों हाथों की सभी अंगुलियों को मिला देने पर ब्रह्ममुद्रा होती है।

25. मुष्टि-मुद्रा

मुष्टिमुद्रेति कथिता मुष्टिं बध्वा बलिं क्षिपेत्।

(पु. 33. 17)

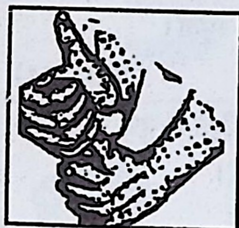


मुट्ठी बाँध कर बलि छोड़ने को मुष्टि-मुद्रा कहा गया है।

26. मुसल-मुद्रा

सोर्ध्वाङ्गुष्ठां वाममुष्टिं दक्षिणेन तु मुष्टिना।।
आबाध्यांगुष्ठमूर्ध्वं तु न्यस्ता चेन्मुसलं भवेत्।।

(पु. 33.8, 9)



बाँए हाथ से मुष्टि बाँध कर उसके ऊपर उठे हुए अँगूठे को दाहिने हाथ की मुष्टि से बाँध कर अँगूठा खड़ा रखने पर मुसल-मुद्रा होती है।

27. यज्ञोपवीतमुद्रा

अङ्गुष्ठस्याग्रपर्वं तु मध्यमाङ्गुलिना स्पृशेत्।
यज्ञोपवीत-मुद्रा स्याद् देवदेवस्य प्रीतिदा।।

(पु, 33. 19, 20)



अँगूठे के आगे के पर्व को मध्यमा अंगुलि से छूने पर देव-देव की प्रीतिदा यह यज्ञोपवीत-मुद्रा होती है।

28. रुद्र-मुद्रा

अङ्गुष्ठद्वयसंसृष्टिः रुद्रमुद्रा प्रकीर्तिता।

(पु. 33. 15)

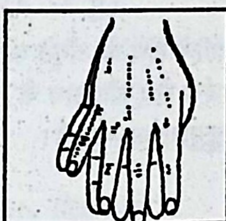


दोनों अँगूठों का मिलाने से उसे रुद्रमुद्रा कहा गया है।

29. वनमाला-मुद्रा

संश्लिष्टाश्चाङ्गुलीः कृत्वा करयोरुभयोरपि।
लम्बयेद्वनमाला स्यात्......................।।

(पु. 33. 11)



दोनों हाथों की सभी अंगुलियों को आपस में गूँथकर (हाथों को नीचे की ओर) लम्बा लटका देने पर उसे वनमाला-मुद्रा कहते हैं।

30. विष्णुमुद्रा

..............................विष्णुमुद्रा निगद्यते।।
अनामिका-मध्यमाभ्यां विमुक्ता सैव पद्मजा।

(पु. 33. 15, 16)



उपर्युक्त ब्रह्ममुद्रा में से अनामिका और मध्यमा को मुक्त कर देने पर उसे विष्णुमुद्रा कहते हैं।

31. विष्वक्सेनमुद्रा

विमुक्ततर्जनी-मुष्टिर्विष्वक्सेनस्य प्रीतिदा।

(पु. 33. 14)



जब मुष्टि में से तर्जनी मुक्त कर दी जाए तब वह प्रीतिदा विष्वक्सेनमुद्रा होती है।

32. शङ्ख-मुद्रा

मुष्टिना वामहस्तस्य नव्याङ्गुष्ठं निबन्ध्य च।
अङ्गुष्ठतर्जनीयोगश्शङ्खमुद्रेति कीर्तिता।।

(पु. 33. 4)

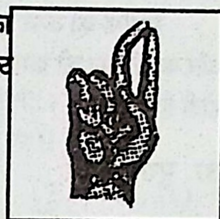


बाएँ हाथ की मुष्टि से दाहिने हाथ के अँगूठे को बाँध कर (दाहिने हाथ की) तर्जनी से (बाँए हाथ के) अँगूठे को मिला देने पर उसे शङ्खमुद्रा कहा गया है।

33. शार्ङ्ग-मुद्रा

अग्रेण मध्यमाङ्गुल्यास्तर्जन्यग्रं स्पृशेद्यदि।।
शार्ङ्गमुद्रेति कथिता सर्वदुष्टभयङ्करी।

(पु. 33. 7, 8)



यदि मध्यमा अंगुली के अग्र भाग को तर्जनी का अग्रभाग भीतर की ओर से स्पर्श करे, तब उसे सर्वदुष्ट भयंकरी शार्ङ्ग-मुद्रा कहते हैं।

34. शिखा-मुद्रा

अङ्गुष्ठं मध्यतः कृत्वा मुष्टिं बध्वा हृदि न्यसेत्।
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन शिरसि न्यसनं भवेत्।।
पश्चाच्छिखायां संस्पृशेदूर्ध्वाङ्गुष्ठेन मुष्टिना।।

(पु. 3. 38, 39)



अँगूठे को हथेली के बीच में रख मुट्ठी बाँध कर उसे हृदय पर रखे, फिर तर्जनी और अंगूठे को मिलाकर उसे सिर पर रखे, उसके बाद तने हुए अँगूठे वाले मुष्टि हस्त से शिखा को छुएँ तब यह शिखामुद्रा होती है।

35. श्रीवत्समुद्रा

.... श्रीवत्सं कथ्यतेऽधुना।
उत्तानं वामहस्तं च कृताङ्गुष्ठेन संस्पृशेत्।।

(पु. 33. 32)

बाँए हाथ को ऊपर उठाकर अँगूठे से छुएँ। इसे श्रीवत्स-मुद्रा कहते हैं।

36. संहार-मुद्रा

मध्यममामूर्ध्वतः कृत्वा तर्जन्यी वेष्टयेत्क्रमात्।
अनामिकां कनिष्ठां च तथाङ्गुष्ठेन देशिकः।।
संहारमुद्राभिहिता तत्त्वसंहरणं मता।

पु. 33. 35, 32



मध्यमा को ऊपर की ओर खड़ा करके तर्जनी से वेष्टित करते हुए अनामिका और कनिष्ठिका को क्रमशः अँगूठे पर रखे तब यह तत्त्व-संहरण-कारिणी संहारमुद्रा होती है।

37. सुरभि-मुद्रा

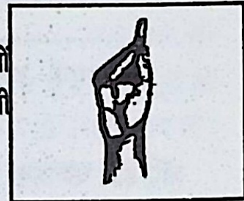
अनामिका-मध्यमयोः कनिष्ठा-तर्जनीक्रमात्।।
संस्पृष्टिश्चेत्तथान्योन्य-करयोरुभयोरपि।
मुद्रैषा सुरभिर्ज्ञेया सर्वकामार्थसिद्धिदा।।
(पु. 33. 27, 29)



जब दोनों हाथों की अनामिका और मध्यमा अंगुलियाँ क्रम से कनिष्ठिका और तर्जनी को आपस में छुएँ तब उसे सर्वकामार्थसिद्धिदा सुरभि-मुद्रा जानें।

38. सृष्टि-मुद्रा

तर्जनीमूर्ध्वतः कृत्वा अङ्गुलीनां च संहतिः।
सृष्टिमुद्रेति कथिता तत्त्वन्यासादिके मता।।
(पु. 33. 37)



तर्जनी को ऊपर की ओर उठा कर शेष अंगुलियों को समेट लेने पर तत्त्व-न्यास आदि में प्रयुक्त होने वाली सृष्टि-मुद्रा होती है।

39. स्नानमुद्रा, गंधमुद्रा

कनिष्ठानामिका-मुक्ता मुष्टिः स्नानगन्धमुद्रिके।
(पु. 33. 17)



सभी अंगुलियों को मिलाने के पश्चात् कनिष्ठिका और अनामिका को छोड़ने से क्रमशः स्नानमुद्रा और गन्धमुद्रा होती है।

40. स्वागत-मुद्रा

उत्तानाभ्याञ्च हस्ताभ्यां किञ्चिदाकुञ्च्य चाङ्गुलीः।
पृथक्कृत्वा तथाङ्गुष्ठौ ज्ञेया स्वागतमुद्रिका।।



(पु. 33. 24, 25)

दोनों हाथों को ऊपर उठाकर अंगुलियों को थोड़ा-थोड़ा सिकोड़कर तथा दोनों अँगूठों को अलग करने पर निर्मित मुद्रा को स्वागत-मुद्रा जानें।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अथर्ववेद	तृतीय भाग, भाष्यकार–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी–1985 ई.
अहिर्बुध्न्यसंहिता	सं.एम्.डी. रामानुजाचार्य, संशोधक पं.वी. कृष्णमाचार्य, द्वितीय संस्करण, अड्यारलाइब्रेरी, अड्यार, मद्रास 1966 (दो खण्ड)
आगमप्रामाण्य	यामुनाचार्य, सं.एम.नरसिंहाचार्य, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट–बड़ौदा–1976 ई.
ईश्वरसंहिता	सं. प्रतिवादि–भयंकर अनन्ताचार्य, सुदर्शन प्रेस, काञ्चीपुरम्–1923 ई.
ऋग्वेद	चतुर्थभाग, भाष्यकार–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी–1985 ई.
ऐतरेयब्राह्मण	प्रथम भागः आनन्दाश्रम मुद्राणालय, 1979
ऐतरेयब्राह्मण	द्वितीय संस्करण, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1979
काशिका	वामन–जयादित्य, सं. बालशास्त्री, द्वितीय संस्करण मेडिकल हाल प्रेस, बनारस–1898
	छान्दोग्योपनिषद्, चतुर्थ संस्करण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2019 वि.
छान्दोग्योपनिषद्	चतुर्थ संस्करण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2019 वि०
जयाख्यसंहिता	सं. एम्बार कृष्णमाचार्य, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा–1967
तैत्तिरीयारण्यक	प्रथम भाग, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना–1926

तैत्तिरीयारण्यक — द्वितीय भाग, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1927

नारपाञ्चरात्रभारद्वाज संहिता — सं. बाबूलाल शुक्ला शास्त्री खेमराजश्री कृष्णदास प्रकाशन बम्बई-1990

नारदीयसंहिता — सं. राघवप्रसाद चौधरी, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1971

परमसंहिता — सं. एस.कृष्णस्वामी अय्यंगार, ओरियण्टल इस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1940

पाञ्चरात्ररक्षा — वेदान्तदेशिक, श्रीमद्वेदान्तदेशिक-ग्रन्थमाला, तृतीय सम्पुट, 39 सन्निधि वीथी, कंजीवरम्, 1941

पाद्मसंहिता-1 — सं.-श्रीमति सीतापद्मनाभन् तथा रं.न. सम्पत्, पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद्, मद्रास, 1974

पाद्मसंहिता-2 — सं.-श्रीमति सीतापद्मनाभान् तथा ड.वी. वरदाचारी पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद् मद्रास, 1982

पारमेश्वरसंहिता — सं. गोविन्दाचार्य, 122 नार्थ चित्रा स्ट्रीट श्रीरङ्गम्, 1953

पौष्कर संहिता — सं. यतिराजसम्पतकुमार, बंगलौर, 1934

बुद्धचरित — अश्वघोष, तृतीय संस्करण, संस्कृत-भवन, कठोतिया, पूर्णिया (विहार), 1955

भारतीय तन्त्रशास्त्र — सं. व्रजवल्लभ द्विवेदी-जनार्दन पाण्डे, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1995

भारद्वाजसंहिता — (नारदपञ्चरात्र) टीका-सरयू प्रसाद मिश्र, वेंकटेश्वर (स्टीम) प्रेस, बम्बई, 1962 (संवत्)

भार्गवतन्त्र — सं. राघव प्रसाद चौधरी, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, 1981 ई.

महाभारत (भीष्मपर्व) — सं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल पारडी, 1972 ई.

महाभारत (पञ्चम खण्ड) — गीताप्रेस, गोरखपुर-अदिनाङ्कित

महाभाष्य (हिन्दी व्याख्या-सहित) — प्रथम भाग, व्याख्याकार-युधिष्ठिर मीमांसक श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास, सी-4 सी.सी. कालोनी, दिल्ली, 1979 ई.

महाभाष्य (हिन्दी व्याख्या -सहित)	प्रदीपोद्योत-सहित, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1967 ई.
यजुर्वेद	भाष्यकार-श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1985 ई.
यतिराजसप्तति	वेदान्तदेशिक, वेदान्तदेशिकग्रन्थमाला, स्तोत्रावली-विभाग, ग्रन्थमाला आफीस, 39 सन्निधि वीथी कञ्जीवरम्, 1940 ई.
यतीन्द्रमतदीपिका	श्रीनिवासदास, आदिदेवानन्द-कृत अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी सहित, श्रीरामकृष्णमठ, मद्रास, 1949 ई.
रामायण	प्रथम भाग, (हिन्दी भाषान्तर सहित) द्वितीय संस्करण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2024 संवत्
लक्ष्मीतन्त्र	सं.पं.वी. कृष्णमाचार्य, प्रथम संस्करण, अडयार, 1959 ई.
विश्वामित्रसंहिता	सं. उण्डेमने शंकर भट्ट, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1970 ई.
विश्वामित्रसंहितायाः तुलनात्मकमध्ययनम्	डॉ. उ. शङ्करभट्ट केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति, 1988
विष्णुपुराण	विष्णुचित्तीय-व्याख्या-सहित, ग्रन्थमाला कार्यालय, काञ्चीपुरम, 1972 ई.
विष्णुसंहिता	सं.टी. गणपति शास्त्री, संस्कृत सीरीज-त्रिवेन्द्रम्, 1925 ई.
विष्णुसहस्त्रनामभाष्य	पराशरभट्ट, ग्रन्थमाला आफीस काञ्चीपुरम्, 1949ई.
विष्वक्सेनसंहिता	सं. लक्ष्मीनरसिंह भट्ट, केन्द्री संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1972 ई.
शतपथब्राह्मण (दो भाग)	भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली-वाराणसी 1994
शाण्डिल्यसंहिता	भाग 1 और 2, सं. म.म. गोपीनाथ कविराज गवर्नमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी, काशी, 1936 ई.

श्रीप्रश्नसंहिता	सं. श्रीमती सीता पद्मनाभन्, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1969 ई.
श्रीभाष्य	श्रीभगवद्रामानुजग्रन्थमाला, सं. प्रतिवादि भयंकर अण्णंगराचार्य, ग्रन्थमाला आफिस, काञ्चीपुरम्, 1956
सात्वतसंहिता	अलशिङ्ग भट्ट विरचित भाष्य सहित, सं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1982 ई.
सिद्धान्तकौमुदी	द्वितीय भाग, मोतीलाल बनासीदास-दिल्ली, 1991 ई.
स्पन्दप्रदीपिका	उत्पलाचार्य, सं. वामन शास्त्री इस्लामपुरकर, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 1990 ई.

हिन्दी ग्रन्थ

1. पाणिनि कालीन भारतवर्ष	डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, मोतीलाल बनारसी-दास, बनारस, 2012 संवत्
2. पाञ्चरात्रागम	डॉ. राघव प्रसाद चौधरी, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1987 ई.
3. पुरुषसूक्त	ीमद्विष्वक्सेनाचार्यस्वामि-प्रणीत-'मर्मबोधिनी' भाषा व्याख्या सहित, बरुआ यज्ञसमिति, छपरा, 2006 संवत्।
4. भागवत सम्प्रदाय	
5. भारतीय ज्योतिष	मूल मराठी लेखक-श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित, अनु. शिवनाथ झारखण्डी, प्रकाशन व्यूरो, सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश, 1957 ई.
6. लक्ष्मीतन्त्र धर्म और दर्शन	डॉ. अशोककुमार कालिया, अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद, लखनऊ, 1977 ई.
7. वैदिक ऋषिः एक परिशीलन	डॉ. कपिलदेव शास्त्री, संस्कृत-विभाग, विश्वाविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 1978

8. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग) — भगवद्दत्त, द्वितीय संस्करण, श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 2013 संवत्

9. वैष्णव धर्म — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, तृतीय संस्करण, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1977 ई.

10. हिन्दू राजतन्त्र (भाग-1) — डा. काशीप्रसाद जायसवाल चतुर्थ संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2034 संवत्

English Books

1. The arctic Home in the Vedas — Lokmanya Bal Gangadhar Tilak, Bros, Gaikwar-wada, Poona city,1956
2. Bibliography of Visistadvaita Works — Part II, The Academi of Research, Melkote, 1988
3. A companion to Sanskrit Literature — Suresh Chandra Banerji, Motilal Banarasidas, Delhi, 1971
4. A Descriptive Bibliography of the printed Texts of the Pāñcaratrāgama — Vol I, H Daniel Smith, Oriental Institute, Borada.
5. A descriptive Bibliography of the Printed Texts of the Pāñcarātrāgama, — Vol. II, H. Daniel Samith Oriential Institute, Baroda, 1980
6. Development of Hindu Iconography, — Jitendra Nath Banerjea, University of Calcutta.
7. A History of Indian Literature — (Vol. II Brahamanas) C.V.Vaidya, Parimal Publication Delhi, 1986
8. A History of Indian literature, — (Vol. I) Manrice Winternitz, Motilal Banarasidas, Delhi-1981

9. A History of Indian Literature	Vol-II-Fase 1 (Medieval Religious Literature in Sanskrit) Jan Gonda. Otto Harrassowitz Wiesbaden 1977
10. A History of Indian	Vo. III, S. N. Dasgupta, Philosophy Cambridge University Press, 1952
11. Introductio to Pāñcarātra and Ahirbudhnyasaṁhitā	F. Otto Schrader, Adyar Library Madras, 1910.







प्रो० अशोककुमार कालिया

जन्म-तिथि : 20-04-1944

जन्म-स्थान : बौण्डी राजा, जिला-बहराइच, उत्तर प्रदेश।

शिक्षा : बी० ए०(आनर्स), एम० ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्।

श्री ब्रह्मतन्त्रपरकाल मठ मैसूरु, के तैंतीसवें पीठाधिपति श्रीमद्-अभिनव रङ्गनाथ परकाल महादेशिक के श्रीचरणों में विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा पाञ्चरात्र आगम की शिक्षा और दीक्षा।

वर्तमान पद : कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

पूर्व पद : प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मानद निदेशक, अभिनवगुप्त शोध-संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

अन्य पद : मन्त्री, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ।

मानद निदेशक, पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवम् अनुसन्धान संस्थान, नैमिषारण्य।

प्रकाशन : ग्रन्थ-7, शोधप्रबन्ध-38

स्थायी आवास : 'श्रीनिवासः', बी-1/19, कल्याण विहार (सेक्टर 'के') अलीगंज, लखनऊ-226024





Rs. : 500.00

न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन

5824, शिव मंदिर के पास, न्यू चन्द्रावल,
जवाहर नगर, दिल्ली - 110007
दूरभाष : 91-11-23851294, 65195809
ई मेल : newbbc@indiatimes.com